बृहत्तर भारत

डा. भगवतशरण उपाध्याय

मूल्य : पैंतालीस रुपये (45.00)

प्रथम संस्करण : 1981
BRIHATTAR BHARAT by Dr. Bhagwat Sharan Upadhyaya

बृहत्तर भारत

डा० भगवतशरण उपाध्याय



राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

भूमिका

'बृहत्तर भारत' केवल समय की पुकार ही नहीं है, यह हमारे सांस्कृतिक विकास और प्रसार का आवश्यक इतिहास भी है। बहुत दिनों से कहा जाता रहा है कि भारत संसार से कटा रहा है, कछुए की तरह अपने को अपने में ही समेटे जा रहा है, इसीसे इसके सांस्कृतिक इतिहास के विस्तार की कहानी का आरम्भ भी भारत में आर्यों के आगमन के समय से बताया जाता रहा है। प्रस्तुत ग्रंथ यह स्पष्ट करेगा कि उस कहानी का आरम्भ तीसरी-चौथी सहस्राब्दी ईसा पूर्व से होता है, जब सिन्धु सभ्यता जीती-जागती थी, जब अपने अग्रज सुमेर अक्काद, मिस्र की सभ्यताओं के साथ सहज ही वह मित्रभाव, व्यापार-व्यवहार करती थी। आज जो शान्तिसेवी स्नेहार्पित राष्ट्रों में स्वयं रहने और दूसरों को रहने देने की प्रवृत्ति रूप धारण कर रही है, भारत की सभ्यता ने दूर के अतीत में उसकी शपथ ली थी।

'बृहत्तर भारत' पर कुछ पुस्तकें हैं, परन्तु वे अंग्रेज़ी में लिखे कुछ कमज़ोर अध्यायों पर आधारित हैं और केवल मध्य और दूर-सुदूर एशिया के देशों में फैले भारतीय विचारों को उजागर करती हैं। प्रस्तुत ग्रंथ सभ्यता के प्रारंभ से भारतीय संस्कृति के प्रसार के इतिहास का उद्‌घाटन करता है। यह पांच खण्डों में विभाजित है—पहले खण्ड में पश्चिमी एशिया (मध्यपूर्व) और अफ्रीका (मिस्र) की सभ्यताओं का भारत के संदर्भ में अध्ययन किया गया है जो अद्यावधि सांस्कृतिक इतिहास में अज्ञात था। किस विधि और साधनों से भारतीय संस्कृति, साहित्य और कला का पश्चिम में संचार हुआ, यह उस खण्ड का प्रतिपाद्य है। दूसरे खण्ड में मध्य एशिया के (भारत के उत्तरवर्ती) देशों की सभ्यता पर भारतीय प्रभाव का विश्लेषण है। तीसरे खण्ड में दूर पूर्व के देशों—कोरिया, जापान, चीन, मंगोलिया आदि पड़ोसी देशों में भारतीय तत्वों के प्रसार का अध्ययन हुआ है। नेपाल, तिब्बत और श्रीलंका की संस्कृति पर भारतीय विचारों का प्रभाव चौथे खण्ड में प्रस्तुत हुआ है। अन्तिम और पांचवां खण्ड, सुदूर पूर्व के बर्मा, मलय, स्याम, कम्बुज, चम्पा, जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो सम्पन्नता में भारतीय विचारों के धनी हैं, इसे प्रकट करता है।

हमारे विश्वविद्यालयों में इस ग्रंथ का भरपूर उपयोग होगा, इसका हमें विश्वास है। विद्वानों के भी व्यसन का यह ग्रंथ पोषक होगा—मेरा यह स्वप्न भी यदि सच हुआ तो अपने को धन्य मानूंगा।

—भगवतशरण उपाध्याय

विषय-क्रम

खण्ड-1

अध्याय-1

भौगोलिक स्थिति और सांस्कृतिक संक्रमण

चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरु कैलास बृहत्पयोधराम्,
वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति।

भारत की यह तस्वीर चौथी-पांचवीं सदी के मन्दसौर के गुप्तकालीन अभिलेख में कवि वत्सभट्टि ने खींची है—'चार समुद्र जिसकी लहराती मेखला बनाते हैं, सुमेरु और कैलास पर्वत जिसके विशाल पयोधर हैं, दूर तक फैले वनों में खिले फूलों के माध्यम से जो पृथ्वी निःशंक मुस्कराती है, उस पृथ्वी पर स्वामी कुमारगुप्त शासन करते हैं। समकालीन महाकवि कालिदास ने पूर्व, पश्चिम और दक्षिण के सागरों का उल्लेख तो किया है—अरब सागर, बंगाल की खाड़ी और हिन्द महासागर का—पर यह चौथा समुद्र कौन-सा है, यह बता सकना कठिन है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि जिस हिन्द महासागर की दोनों भुजाएं पूर्व और पश्चिम से बढ़कर एक ओर बर्मा, मलय तथा हिन्देशिया के प्रायद्वीपों और द्वीप समूहों को और दूसरी ओर फारस तथा अरब पर टूटती-लहराती हैं उसीके चतुर्भागों से वत्सभट्टि के इस संदर्भ का सम्बन्ध है। ये सीमाएं उपनिषदों के 'ब्रह्मर्षि देश' और स्मृतियों के 'आर्यावर्त' के बाद पहली बार भारत के समूचे विस्तार को स्पष्ट करती हुई उसके परिवेश को प्रस्तुत करती हैं।

भारत के उत्तर में, एशिया के और देशों से, उसको उत्तरी ओर मध्य भाग से अलग करता उसका प्रहरी, हिमालय खड़ा है जिसे कालिदास ने पृथ्वी का 'मानदंड' कहा है, जो देश के उत्तरी विस्तार को मापता हुआ सा पूर्व और पश्चिम के समुद्रों में डूब गया है। उसकी उत्तर-पश्चिमवर्ती कराकोरम की पर्वतश्रेणी भारत को पामीरों से अलग करती है, जिसे 'बामें दुनिया' अर्थात संसार की छत कहते हैं। हिमालय कराकोरम के चित्राल के पास सिन्धूनद की प्रबल धारा से खेलता व्याल की भांति कुण्डल बांध हिन्दूकुश में खो जाता है। पूर्व की ओर उसकी श्रृंखलाएं तिब्बत को अपने अंक में भरती, बर्मा के व्यापक वन विस्तार में खो गई हैं। तिब्बत के दूर पश्चिम लद्दाख के पठार और कराकोरम के बीच वह ज़ोरकुल का सरोवर है जिसकी ऊर्मियां, अच्छोद सरोवर की लहरियों की तरह जब हिम के गल जाने से निर्बन्ध हो पर्वती हवा के संयोग से विहरने

लगती हैं, तब निर्मल स्वादु जल की अनेक धाराएं उससे निकलकर दसों दिशाओं में बह चलती हैं। इन्हीं धाराओं में चार धाराएं गंगा, सिन्धु, वक्षु (आमू दरिया) और सीता (यारकन्द) की हैं। नीचे के मैदानों की भूमि से आकाश में स्थित गिरि शिखरों की छाया में फैली उपत्यकाओं को सहज ही 'देवभूमि' कहा गया है। ऋषियों की उस तपोभूमि को भारतीय संस्कृति ने भूरि-भूरि सराहा है।

वैसे धवल मस्तक हिमालय की पर्वत श्रेणी से अनन्त जल-धाराएं, जो नीचे के मैदानों में उत्तर-पूरब के सागर की ओर बह चलती हैं, उनसे उत्तर भारत का समूचा भूप्रान्तर उर्वर होता है। देश के सात पर्वत फिर उसे अनेक भागों में बांट देते हैं। विंध्याचल की श्रृंखला देश के मध्य में लम्बायित पड़ी है, जिसका पश्चिमी भाग पारियात्र, जो आज अरावली कहलाता है, मेवाड़ के संस्मरणीय उस श्रृंग की उत्तुंग और समतल भूमि रचता है जिसपर चित्तौड़ का दुर्ग खड़ा है। उसके साये में वह 'माध्यमिका' बसी है, जिसकी राह बाहर से आने वाली सिंध में बसी दुर्दम जातियां मालवा और उज्जयिनी की ओर चली आती थीं। अगस्त्य ऋषि के पौराणिक परम्परा के उस शिष्य विन्ध्य की पादभूमि में सतपुड़ा विशीर्ण पड़ा है और इधर उसी विन्ध्य की पूर्वी ग्रन्थि मेकल से नर्मदा का आविर्भाव होता है। नर्मदा के सागर संगम पर कभी भृगुकच्छ (भडौंच) अवस्थित था जो मिस्र, रोम, अरब और ईरान के नाविकों का समान लक्ष्य का पत्तन (बंदरगाह) था। उज्जयिनी की मंडियों में समूचे देश के विक्रयार्थ संसार के बाज़ारों से वस्तुएं जो धारासार बरसती थीं, वे सागरगामी पोतों से उतरकर पहले इसी भृगुकच्छ के बंदरगाह में उतरती थीं। ताप्ती भी नर्मदा की भांति पश्चिम सागर में ही लीन हो जाती है और दक्षिण में पूर्व सागर में गिरने वाली गोदावरी, कृष्णा और कावेरी की धाराएं हैं। गोदावरी दक्षिण की गंगा है जिसके तीर नासिक की गुहाओं में सातवाहनों की प्रशस्तियां खुदी हैं और जहां पर वह पंचवटी है, जिसकी छाया में रामायण की सीता ने कभी वनवासी पति के साथ निवास किया था और जो लंकाधिपति द्वारा वहीं से अपहृत हुई थी। कृष्णा के कांठे से निकलकर आंध्र-सातवाहनों ने उत्तर और दक्षिण तथा सागरपर्यन्त पूरब और पश्चिम की भूमि पर शासन किया था। कावेरी के उत्तर और दक्षिण में पूर्वी समुद्र तक चोलों और पाण्ड्यों ने, पल्लवों ने खड्ग से कभी कीर्ति लिखी। पश्चिम के सागरवर्ती केरलों ने न केवल यूरोपीय जातियों की रसोइयों को एला, लवंग और कालीमिर्च की सुगंध से सुवासित कर दिया था बल्कि जब बर्बर कीज़िगोथ अलारिक ने रोम के कैसरों की अमरनगरी के कुलीनों की प्राणरक्षा के बदले काली मिर्चों का मोल मांगा तब सैंतीस मन मिर्च देकर, केरल ने उनकी रक्षा की। और वह ताम्रपर्णी की धारा जो सुदूर दक्षिण में भारतीय प्रायद्वीप के प्राय: आर-पार बहती है उसके सागर-संगम पर जो अनन्त संख्या में श्वेत मोतियों का संभार झरता था उससे

कभी रोम की नागरिकाओं का सीमन्त सजता था, उनके परिधान के आंचल भरे जाते थे।

महेन्द्र पर्वत उत्कल और कलिंग की रीढ़ बन गया है जिसके परिवेश को परसकर महानदी बहती है और जिसके शिखरों से सुवर्णरेखा की वह धारा साफ चमकती है जिसके पुलिनों की रेत से सोने के कण चुने जाते थे। पूर्व की ओर सागरवर्ती पर्वतमाला जहां-तहां टूट गई है पर महाबलीपुरम् जैसे भूखण्ड भी हैं जिनके तन को संवार कर मन्दिरों की आकृतियां बनीं, जिनके बहिरंग पर मूरतों की अनन्त संपदा बिखरी और पश्चिम की ओर जहां विन्ध्य की दक्षिणी मेखला समाप्त होती है, वहां से सह्याद्रि और मलयाद्रि की उत्तुंग मालाएं दक्षिण की ओर दौड़ पड़ती हैं। सह्याद्रि में कला के पारखियों ने पारिजातों की परम्परा के परे अजन्ता की गुहाएं खोदी हैं जिनके अन्तरंग चितेरों की तूलिका ने विविध रंगों से रंग दिए हैं। मलयगिरि के तरुओं से जो मिर्च के फल टूट कर गिरते हैं, कवि कालिदास का कथन है, वे भूमि तक नहीं पहुंच पाते, कारण कि उन्हें तीक्ष्ण जिह्वा तोते बीच में ही अपनी चोंच में रोक लेते हैं। और जिस मलयवात की बात संस्कृत के कवियों का उल्लास बन गई है और जिसे प्रातः परसकर उत्तरापथ के निवासी रोमांचित हो आते हैं उसकी मूलभूमि चन्दन के वनों से व्याप्त यह मलयाद्रि ही तो है।

दोनों ओर पूरब और पश्चिम के सागरवर्ती आंचलों में तालवृक्षों की घनी हरी कतारें कुमारी की सागर-सन्धि तक दौड़ती चली गई हैं। ताड़ों के श्यामायित वनों की ये पतली पंक्तियां इतनी मनहर हैं कि उनके संयोग से काव्यों के प्रकरण ललित हो उठे हैं।

यही भारत भूमि है, सागरवर्ती, गिरिवर्ती जिसकी सीमाएं सागरों और पर्वतों से कस गई हैं। फिर भी पूर्व और पश्चिम में कुछ द्वार ऐसे भी हैं जो कालान्तर में जातियों के संक्रमण में सहायक हुए हैं। पश्चिम में हिन्दूकुश की भित्ति को चीरकर खैबर का दर्रा बना है जो अफगानिस्तान के उद्यान और भारत के गंधार का संयोजक है। उत्तर-दक्खिन में बोलन का दर्रा है जो ईरान को बलूचियों की राह सिन्ध से मिलाता है। हिमालय में कैलास की ओर पर्वतमाला में जो 'क्रौंचरन्ध्र' (नीतिपास) है, वह पुराणों की परम्परा में, परशुराम के बाण की चोट से कट गया था। उस राह न केवल हंसों की पांतें मानसरोवर की ओर पर मारती निकल जाती हैं बल्कि उसी राह मानकों की कतारें भी संक्रमण करती रही हैं। उससे सटा पूरब की ओर असम की घाटी से उत्तर भारत का वह अरुणांचल नामक प्रान्त है जिसकी भूमि पर भोट बसते हैं, तिब्बतियों से भिन्न भारत के भोट। असम की घाटी के पूर्व बर्मा, मलय, स्याम, कम्बुज, चम्पा, लाओस और वियतनाम के वे वनप्रधान देश हैं जिनकी

दिशा से आने वाली मंगोल जातियों ने अपने किरात-पीत रक्त से दूर पूर्वी भारतीय अंचल को नये रंग से भरा था। उसी दिशा से स्थल के मार्ग जाने वाले भारतीयों ने उन पूरब के देशों में अपनी संस्कृति फैलाई थी। असम की घाटी में ही पद्मा बहती हैं, ब्रह्मपुत्र का वह शक्तिम नद वहता है जिसका जल पौ फटते ही अरुणार्क की किरणों के छूते ही लाल हो जाता है, लोहित, जिससे उसका नाम सार्थक ही लौहित्य हो जाता है। उसी लौहित्य के तीर गोहाटी का वह नगर है जिसका प्राचीन नाम प्राग्ज्योतिष इस कारण था कि वहीं पहले-पहल प्रकाश की रश्मियां प्राची के आकाश से फूटकर धरा पर भारत में सबसे पहले बरस पड़ती थीं। असम प्राचीन भारत का कामरूप है जहां मानवों के मन की सारी कामनाएं पूरी हो जाती थीं और जिसका नाम बार-बार 'पूरब' के माध्यम से उत्तर भारत के पश्चिमी भागों के लोकगीतों में आता है। शंकित पत्नियां पूरब जाने वाले अपने पतियों को सावधान करती हैं कि उधर मायाविनी नारियां बसती हैं जिनका रोमांचक रूप मोह लेता है और पश्चिम के नरों को भरमा कर 'मेष' (भेड़ा) बना लेता है।

पश्चिम की ओर से न केवल बाहर की जातियां भारत आईं बल्कि ऐसे भी प्रमाण हैं कि उस राह कभी-कभी भारतीय सेनाएं भी पश्चिम की ओर अभियान के दौरान आ पहुंचती थीं। कालिदास के 'रघुवंश' का नायक रघु कोजक-अरमान पहाड़ों की छाया से निकल फारस की 'द्राक्षावलय भूमि' (अंगूर की लताओं से ढकी) की राह मज़ारशरीफ के पड़ोस में वंक्षु नद के अंचल में अपने रिसालों के घोड़े हिराता है, जिनके वक्षुवर्ती केसर की क्यारियों में लोटने से उनके अयाल केसरिया रंग जाते हैं, उनमें कुंकुम-केसर भर जाते हैं। गुप्तकालीन महरौली स्तम्भ के चन्द्र ने (चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य), अभिलेख कहता है, बंगाल में शत्रुओं के संघ को तोड़ सहसा उत्तर-पश्चिम की ओर अभियान किया था और सिन्धु की सातों सहायक नदियों को पार कर वक्षु तीर के बलख (बह्लीक) के बह्लीकों को जीता था।

भारत की यह भूमि वीरप्रसवा होने से कहीं अधिक ज्ञानप्रसवा रही है, शान्तिप्रसवा, जिसने कालान्तरों में अपनी मुनि प्रज्ञा का प्रकाश पश्चिम और पूर्व, दक्षिण और उत्तर के देशों को दिया है और चारों ओर से अनन्त मात्रा में विविध जातियों की संस्कृति से चुनकर अपनी संस्कृति का हिरण्मय पट बुना है। इसी भूमि की शपथ ऋग्वेद के समय से भारतीय मानव लेता आया है—माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः।

संस्कृति

जाति और व्यक्ति के मनोभावों, विचारों, आदर्शों आदि का संस्कार संस्कृति

कहलाता है। आर्यों ने जो जन और व्यक्तियों को द्विजन्मा कहा, उसके अंगांगों को 'द्विज' की संज्ञा दी, वह इसी संस्कार के संदर्भ में सार्थक है। संस्कृतियों का अन्तरावलम्बन होता है, उसका अन्तरावलम्बित विकास होता है, जाति विशेष की संस्कृति उसके इतिहास में मात्र कालविशेष की है। परिवर्तन उसका प्राण भी है, उसकी विकास की प्रक्रिया भी। उसका रूप उसमें सतत परिवर्तन के कारण ही सदा बदलता रहा है। किसी भी जाति के इतिहास पर नज़र डालते ही यह स्पष्ट हो जाएगा। यह सही है कि जातिविशेष की अपनी संस्कृति होती है जो ऊपरी दृष्टि से देखने में अन्य जातियों की संस्कृतियों से भिन्न लगती है, पर वह निस्संदेह इतनी भिन्न नहीं है, जितनी भिन्न वह लगती है, कारण कि बटी रस्सी की तरह उसके उपकरण मूलतः अनेक हैं यद्यपि बटकर वे एक हो जाते हैं।

संस्कृति सबकी सबको देन है। सभी जातियों ने संयुक्त रूप से सभी जातियों की संस्कृतियों का निर्माण किया है। संस्कृति की अपनी समता है जिसमें एकैक संस्कृतियां अनुस्यूत हो गई हैं। एक जाति बाहर से आती है, बसी जाति के निवास-प्रान्त की सीमा पर मंडराती है, दोनों में संघर्ष होता है। एक विजित हो जाती है दूसरी विजयिनी और या तो एक की संस्कृति दूसरी को हटाकर उसकी स्थानापन्न हो जाती है या दोनों संस्कृतियां घुल-मिलकर एक हो जाती हैं। और ऐसा भी नहीं कि विजितों की संस्कृति पर विजयिनों की संस्कृति सदा काबू ही पा लेती हो। अनेक बार तो ऐसा भी हुआ है कि विजितों की संस्कृति विजयी जातियों की संस्कृतियों पर हावी हो गई है और विजयी जातियों ने उसे अपना लिया है। ग्रीकों को परास्त कर रोमनों ने ग्रीक पर अपनी सत्ता स्थापित की पर संस्कृति के क्षेत्र में वे स्वयं ग्रीकों के विजित हो गए और उन्होंने ग्रीकों की प्रायः समूची संस्कृति आत्मसात कर ली। सुमेरियों को अनार्य बाबुलियों ने जीत लिया पर उन्हें सुमेरियों की लिपि, उनका साहित्य, उनके जन विश्वास, पूजन विधि और देवता-देवी अपनाने पड़े। और उन्हीं बाबुलियों को जब असूरों ने जीता तो उनकी संस्कृति उन्होंने अधिक मात्रा में लिपि के साथ स्वीकार कर ली।

खत्ती (हिट्टाइट) आर्य थे और बाबुलियों तथा असुरों, दोनों पर उन्होंने भयंकर आक्रमण किए पर उनकी लिपि और अधिकतर मूर्तिविधान उन्होंने अपना लिए। शास्त्र की गोट रोकी जा सकती है पर संस्कृति की धारा का कोई रोक नहीं। वह अजस्र बहती है और अपने प्रवाह में राह में मिलने वाले जीवन के अवयवों को आत्मसात करती जाती है। अपने से भिन्न स्थितियों को आत्मसात करने के कारण ही उसमें वैविध्य होता है, यद्यपि उस विविधता की एक निजी एकता भी होती है, स्वीकृत समग्रता भी। जल के कण की तरह संस्कृतियों के अंगांग परस्पर मिल जाते हैं, जल के कण की ही भांति उनका

परस्पर संयोग भी होता है। जैसे पुत्र पिता से भिन्न होकर भी उसी का प्रसार होता है, एक संस्कृति के संयोग से बनी अगली मंज़िल की संस्कृति भी पहली का प्रसार होती है, वैसे शृंखला की कड़ियां परस्पर भिन्न होकर भी समान शृंखला का निर्माण करती हैं वैसे ही संस्कृति के भिन्नांग भी समान संस्कृति का विकास करते हैं। संस्कृति का यह विकास इस अर्थ में उसका द्वन्द्वात्मक रूप प्रस्तुत करता है, जैसे परस्पर विरोधी तत्वों के समाहार से संस्कृति का कलेवर बनता है। काल की दूरी अथवा देश की दूरी संस्कृति के निर्माण में, संस्कृतियों के समाहार में, व्यवधान नहीं डालती। संस्कृति इतिहास की ही भांति अविच्छिन्न-आनुक्रमिक और सर्वदेशीय है।

फिर भी जाति विशेष की एक कालावधि में विशिष्ट संस्कृति होती है जो, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, उसकी निजी है, जिसपर उसकी अपनी छाप होती है। जब एक संस्कृति दूसरी संस्कृति के तत्वों को पचा लेती है तब इस सम्मिश्रित संस्कृति की कुछ काल तक अपनी इयत्ता बनी रहती है, जब तक नई जाति की नई संस्कृति का प्रभाव उसमें नए विकार नहीं पैदा कर देता। संस्कृतियों का अन्तरावलम्बन लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों रूपों में सार्थक हैं। लक्ष्य रूप में उसे देखने में तर्क अथवा उदाहरण की आवश्यकता नहीं होती, वह प्रत्यक्ष प्रकट होती है। पर उसकी अलक्ष्य एकता भी, उसके विशिष्ट रूप के विश्लेषण से प्रकट हो जाती है। काल और देश के परिवेश निश्चय ही उसके प्रत्यक्षीकरण में बाधक होते हैं। संसार की संस्कृतियों के अनेक तथ्य ऐसे हैं जिनका प्रसार सार्वदेशिक और सार्वकालिक रूप से हुआ है। चीनी और दक्षिण अमरीकी लिपियों को छोड़ कर, संसार की अन्य प्राय: सभी लिपियां एक ही आधार से विकसित हुई हैं।

मिस्री चित्र-लिपि (हिरोग्लीफिक) से हिरेटिक और डिमोटिक निकली और सम्भवत: उसी रूप से सुमेरी 'आइडिओग्राफिक' का विकास हुआ जिससे फोनेटिक उच्चारण के अक्षर बने और वर्णमाला अथवा बारहखड़ी का जन्म हुआ। सुमेरी से बाबुली और असूरी तथा खत्ती का विकास हुआ फिर इब्रानी और फिनीकी (फिनीशियन) का और उनसे ग्रीक, इत्रुस्की और रोमन लिपि का, जिसमें एशिया की भाषाओं को छोड़कर संसार की प्राय: सारी भाषाएं लिखी जाती हैं। असूरी का एक रूप अरबी में विकसित हुआ और अरबी से अरमई तथा फारसी का। ब्राह्मी का आधार आज खोज पाना कठिन है पर इसमें संदेह नहीं कि वह अपने विकास की समूची मंज़िलें समाप्त कर पांचवीं-छठी सदी ईसा पूर्व में भारत में सहसा प्रकट हुई और कुछ ही सदियों बाद अभिलेखों में प्रयुक्त होने लगी। उसमें आधार के किसी रूप का प्रत्यक्ष न हो पाना उसके मूल का अध्यवसाय पश्चिम के उस लिपि अश्वत्थ की ओर ही संकेत करता है, कारण कि उसके और सिन्धु सभ्यता की लिपि में, जो अभी तक पढ़ी न जा सकी, लगभग

हज़ार-डेढ़ हज़ार सालों का कालान्तराल है। लिपि की यह सार्वभौम सत्ता संस्कृति के सार्वभौम साम्राज्य का अद्भुत परिचायक है।

भारत के बौद्ध धर्म के प्रति चीनियों की आस्था बढ़ी। उन्होंने भारत से बौद्ध ग्रन्थ मंगवाए। पर जब बढ़ती हुई उपासकों की संख्या पारायण के लिए नये धर्म के ग्रन्थों को मांगने लगी तब उनकी मांग पूरी करने के लिए ब्लाक अथवा ठप्पे (छपाई के यंत्र) बन गए और मुद्रण कला का आरम्भ हो गया मुद्रण के यंत्र के रूप में व्यवहृत होने की यह पहली मंज़िल थी। उसकी दूसरी मंज़िल कोरियाई मुद्रकों ने प्रस्तुत की जब उन्होंने रांगे के टाइप ढाल लिए जिन्हें जापानियों ने पूर्णता प्रदान की। कागज़ के निर्माण की मंज़िलें भी इसी प्रकार पूरी हुईं। फिर चीन की सीमा से अटलांटिक सागर तक प्रायः सदी मात्र में शासन फैला लेने वाले अरबों ने इस्लाम के झंडों के साथ मुद्रण के ये यंत्र और कागज़ भी यूरोप में पहुंचा दिए जहां स्पेन, इटली और जर्मनी में प्रेस खड़े हो गए। यूरोप में जब धर्म सुधार का आन्दोलन चला और लातीनी भाषा से प्रादेशिक भाषाओं में, जन-बोलियों में, बाइबिल के अनुवाद को छापने की आवश्यकता प्रतीत हुई तब मुद्रण कला अपने निखार पर आई और इन प्रेसों ने आम जनता की आवश्यकता का यूरोप में वैसे ही लाभान्वित किया जैसे ब्लाक प्रिंटिंग ने चीनी जनता को कभी लाभान्वित किया था। किसे गुमान था कि चीनी यात्रियों द्वारा भारत में बौद्ध ग्रन्थ की खोज और उपलब्धि एक दिन यूरोप तक पर सार्वभौम रूप में इस मात्रा में अपना प्रभाव डालेगी ? भाषा और साहित्य की दिशा में भी इसी प्रक्रिया का जादू चला। हिन्दू-यूरोपीय भाषाओं का संक्रमण एक ओर हिन्देशिया तक और दूसरी ओर अटलांटिक सागर तक हुआ। साहित्य के क्षेत्र में अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका प्रसार संसार में व्यापक रूप से हुआ। प्राचीन काल में ही संस्कृत के पंचतंत्र की कहानियां समूचे एशिया को प्रभावित करने लगीं और देश तथा काल के व्यवधान को हटाकर यूरोपीय कहानियों का भी वे आधार बनीं। आज के संसार का समूचा साहित्य, समूची कला अन्योन्याश्रित है, जिनकी बेलें सारे संसार में लगती चली गई हैं। धर्म के क्षेत्र में तो यह स्थिति और भी व्यापक रूप से सत्य है। बौद्ध, ईसाई धर्म और इस्लाम के अनुगामियों की संख्या आज भी अनन्त है। क्या यह कुछ कम आश्चर्यजनक है कि एशिया के गांव नज़रथ के यहूदी परिवार में जन्मे एक व्यक्ति के चलाए ईसाई धर्म के अनुयायी स्वयं एशिया में ता नाम मात्र को हों पर उनकी संख्या यूरोप और अमरीका में संख्यातीत हो ? बौद्ध संघ के आधार पर ही ईसाई धर्म के विविध संघों का निर्माण हुआ, यह धर्मविदों का अनायास प्राप्त सत्य है। यह कहना कितना तथ्यपूर्ण, यद्यपि उतना ही चमत्कारी होगा कि दमिश्क और बगदाद के विद्या संस्थानों ने ही सागर पार के ग्रीक, अफलातून और अरस्तू के दार्शनिक विचारों की रक्षा कर उनका यूरोप में

प्रचार किया। विज्ञान के क्षेत्र में तो यह स्थापित, स्वीकृत और अकाट्य सत्य है। एशिया में पश्चिमी संस्थाओं में अनूदित होकर भारतीय ज्योतिष, जिसे स्वयं भारत ने प्राचीन ग्रीकों से कभी पाया था, आयुर्वेद और गणित के तथ्यों का उद्घाटित प्रभाव-प्रसार पीछे यूरोप में हुआ। दशमलव का अनुसंधान यदि भारत में न हुआ होता तो गणित का विकास कितना कुंठित हो जाता। यह उसकी चरम उपलब्धि गतिविज्ञान तथा चन्द्रलोक के अभियान से ही प्रभावित है। विज्ञान के क्षेत्र में यह सांस्कृतिक व्यापकता किस मात्रा में प्रभावित है, कहने की आवश्यकता नहीं।

प्रेस और कागज़ के चीनी अनुसंधान की बात हम ऊपर कह आए हैं। चीन के नाविकों द्वारा सामुद्रिक कम्पास का निर्माण नौकाचालन में कितना क्रांतिकारी सिद्ध हुआ यह सभी जानते हैं···रोमन हिप्पालस ने जब समुद्रचारी पवनों की दिशाओं के ज्ञान का भेद पा लिया और मानसून का रहस्य वह खोल बैठा तब संसार के नाविकों को महीनों बंदरगाहों की पनाह में पड़े रहने से मुक्ति मिली और नौका चालन अत्यन्त सरल हो गया। स्वयं अरबों में इस सम्बन्ध में प्रचलित अरबी शब्द 'मानसून' अथवा मौसम संसार की सभी जातियों की भाषा में एक ही अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

चीनियों ने आतिशबाज़ी से मनोरंजन के लिए बारूद ईजाद की थी जो संसार-भर के युद्ध-क्षेत्रों में शीघ्र ही प्रयुक्त होने लगी और जिसका एक-सा उपयोग चंगेज़ खां ने चीन और पूरब में और सातवें हेनरी ने इंग्लैण्ड और पश्चिम में किया। दास-प्रथा, सामन्त-प्रथा आदि का विस्तार सर्वत्र प्रदेशों की सीमाओं को पार कर गया जिससे औद्योगिक और राजनीतिक क्रांतियों ने समूचे संसार में न केवल हलचल की, बल्कि दूरगामी और सामाजिक तथा राजनैतिक परिवर्तनों का कारण बनीं। फ्रेंच विश्वकोश, फ्रांसीसी राज्यक्रांति, अमरीकी संविधान के मनुष्य के अधिकार की सत्ता ने संसार की राजनीति पर कितना गहरा असर डाला, यह सर्वज्ञात है। मार्क्स का दर्शन कितना कार्यशील है, उसका भावबोध संसार में आज कितना व्यापक है, सर्वहारा आन्दोलनों की कितनी शक्ति है, यह कहना न होगा। अरब ने काफी पौधे उगाए, उनके बीज से बने उस पेय का प्रचार किया जो अठारहवीं सदी के इंग्लैण्ड में बौद्धिक क्लबों का प्रधान पेय बना और संसार में आज भी व्यापक रूप में प्रचलित है। चीन ने चाय के पौधे उगाए और आज उसका उपयोग प्रशान्त सागर के एक छोर से पृथ्वी पार दूसरे छोर तक मानव जाति कर रही है, और जिसकी सत्ता उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक प्रतिष्ठित है। इस प्रकार के उदाहरण संसार के इतिहास में अनन्त हैं जो संस्कृति के सार्वभौम रूप को व्यक्त करते हैं।

संस्कृति के इसी अन्योन्याश्रित, अन्तरावलम्बित, सार्वभौम और सार्वकालिक

स्वरूप का अंशतः निरूपण प्रस्तुत ग्रंथ का अभिप्रेत है। यह प्रयास केवल अंशतः इस कारण अभिप्रेत है कि प्रसंगवश मात्र भारत की संस्कृति के विस्तार का अध्ययन करना ही यहां अभीष्ट है। भारत का सम्बन्ध पश्चिम और पूरब में किस रूप और किस मात्रा में स्थापित हुआ और उस संस्कृति का व्यापक विन्यास किस प्रकार मध्य एशिया तथा उत्तर-पूर्वी एशिया में मंगोलिया, कोरिया, जापान तक और दक्षिण-पूर्वी एशिया में लंका, बर्मा, मलयेशिया, स्याम, लाओस, कम्बुज, वियतनाम, हिन्देशिया आदि में हुआ उसका वृत्तान्त ही आगे के अध्यायों में निरूपित होगा।

अध्याय-2

पश्चिम से सम्पर्क

जैसा पहले कहा जा चुका है, किसी भी देश की संस्कृति किसी भी काल में अन्य समकालीन अथवा पूर्वकालीन संस्कृतियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती, नहीं रह सकी। और यह तथ्य केवल उसी सन्दर्भ में सही नहीं है जब यातायात के साधन सहज हो गए हैं बल्कि उस सन्दर्भ में भी तथ्यपूर्ण है जब देश अधिकतर और अपेक्षाकृत सम्पर्कहीन स्थिति में द्वीपवत एकाकी रहते थे। उदाहरण के लिए सभ्यता का सन्दर्भ प्रस्तुत किया जा सकता है।

सुमेर, बाबुल, यहूदिया और असूरिया

सिन्धु सभ्यता में मिले प्रमाणों से सिद्ध है कि उस पर अन्य समकालीन सभ्यताओं का भी प्रभाव पड़ा था, यद्यपि उस सभ्यता का आरम्भ निश्चय ही 3,000 ई० पू० के बाद नहीं रखा जा सकता। एशिया तब अनेक सभ्यताओं का धनी था—पूरब में चीन, दक्खिन में भारत (सिन्धु सभ्यता) और पश्चिम में मिस्र (अफ्रीका में), सुमेर, बाबुल, असूरया खत्ती (लघु एशिया) के अनातोलिया में, जो अब तुर्की के अधीन है, और पूर्वी यूरोप में क्रीत, प्राचीन ग्रीस और लघु एशिया में ही हिसारलिक पास त्रोय में अनेक सभ्यताओं का विकास हुआ। ये सभ्यताएं प्रायः समकालीन थीं और इनका काल 4,000 ई० पू० तक था। एक ही समय फलती-फूलती रहने के कारण यह सम्भव न था कि वे एक-दूसरे से प्रभावित न हों या एक-दूसरे को प्रभावित न करें। इनमें से मिस्र, फिन्सितीन की राह दज़ला और फरात की घाटी (मेसोपोतामिया, वर्तमान ईराक) से जुड़ा हुआ था, मिस्री फराऊन दज़ला-फरात की घाटी में हाथियों का शिकार करते थे और फिनीशिया (फीनीकी) के नगरों, सिदोन और तीर से लेकर सीरिया तक धावे मारते थे, और सुमेरी नगरों—कीश, ऊर, उरुक (ऐरेख) बाबुल आदि—ईरान के दक्षिण की एलामी सभ्यता से एक सूत्र में बंधे थे; और एलाम तथा सिन्धु सभ्यता के पश्चिमी प्रसार के नगर मकरान की खाड़ी से लगी भूमि और बलूचिस्तान में और उससे परे के सैन्धव नगर एक ही आयाम में बसे थे जो परस्पर

घने सम्पर्क में थे।[1]

मोहन्जोदेड़ो के अस्थिपिंजरों का जो अध्ययन हुआ है उससे पता चलता है कि उस नगर में बसने वाले अथवा उसके घने सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति समान जाति के न थे बल्कि अनेक जातियों का वे प्रतिनिधान करते थे। उनमें वैज्ञानिक विभाजन के अनुसार कुछ तो प्राक्-आस्त्रिक, कुछ भूमध्यसागरीय, कुछ मंगोल और कुछ द्राविड़ आदि थे। इस विभाजन से प्रकट है कि सिन्धु सभ्यता के नगर, पूर्व और पश्चिम की राहों के संगम पर बसे थे और चाहे चीन से उनका सम्बन्ध घना न रहा हो, इसमें सन्देह नहीं कि पश्चिम की भूमध्यसागरवर्ती और एलामी सभ्यता से उनका सम्पर्क सीधा और घना था। उदाहरण के लिए सैन्धव मोहरों के वृषभ, मिस्र के 'आपिस' वृषभ, सुमेर के सांड, असूरी निनेवे के राजप्रासाद के द्वारवर्ती पक्षधारी पुंगव, परसी पोलिस के श्मश्रुल (दाढ़ीयुक्त) मानवशीर्ष वृषभ और अशोक के स्तम्भ का वृषभ एक ऐसा वृत्त प्रस्तुत करते हैं जिनकी मर्यादा देश और काल से नहीं बांधी जा सकती। मोहन्जोदेड़ो के अवशेषों में मिले तोल के बटखरे (घने-पूरे, स्लेट पत्थर के बने), सुमेरी मोल बटखरों से भिन्न नहीं और सिन्धु सभ्यता की अनेक ऐसी वस्तुएं प्राप्त हुई हैं जिनका अध्ययन वस्तुतः पश्चिमी सभ्यता के समान वस्तुओं की पृष्ठभूमि में ही किया जा सकता है। धातुओं के क्षेत्र में भी यह आदान-प्रदान कुछ कम मात्रा में भारत और पश्चिम की सभ्यताओं के बीच न हुआ। कुछ पुराविदों की तो ऐसी भी राय है कि मिस्र अपनी 'ममियों' को लपेटने के लिए वह खादी सिन्धु सभ्यता के नगरों से खरीदता था जिसके टुकड़े मोहन्जोदेड़ो में मिले हैं। सुमेर के नगरों, कीश और ऊर, में मोहन्जोदेड़ो की अनेक मुहरें मिली हैं—विशेषकर गज की छाप से अलंकृत पीपाकार मुहरें—जो सिन्धु और दजला-फरात की सभ्यताओं के एकनिष्ठ सम्पर्क को प्रमाणित करती हैं। यदि इस एकतान सम्बन्ध को स्वीकार किया जाए, जो करना

---

1. मोहन्जोदेड़ो के निवासी बाहरी दुनिया से घना सम्पर्क रखते थे। विविध धातुओं, बहुमूल्य पत्थरों और अन्य वस्तुओं के आयात के लिए सिन्धु-सभ्यता ने एक ओर दक्षिण और पूर्व के भारत, काश्मीर, मैसूर और नीलगिरी की पहाड़ियों तथा दूसरी ओर पश्चिमी और मध्य एशियाई देशों से सम्पर्क किया था। सुमेर के साथ भारतीय सम्बन्ध के बहुश: प्रमाण उपलब्ध हैं, इसी प्रकार उसका मिस्र तथा क्रीत से व्यापारजन्य सम्बन्ध स्थापित था। खुदाइयों में मिली एक मुहर पर मस्तूल और मध्य कक्ष के साथ एक पोत का रूप उकेरा हुआ है जिसके पतवार के समीप एक नाविक बैठा है। इससे सिद्ध है कि सिन्धु तटवर्ती लोग सागरीय नौकाचालन से अभिज्ञ थे। इस प्रकार के पोतों का-सा उत्कीर्णन प्राचीन मिनोई और सुमेरी मुहरों तथा अत्यन्त प्राचीन मिस्री बर्तनों पर मिलता है। डा० मैके का तो विचार है कि सिन्धु सभ्यता का सुमेर और एलाम से सम्पर्क समुद्री मार्ग से भी था। प्रकट है कि ऊर, कीश और सम्भवतः मिस्र के साथ भी जलमार्ग से व्यापार के अर्थ सिन्धु सभ्यता का नगर मोहन्जोदेड़ो वस्तुतः महान बन्दरगाह था। (देखिए वैदिक एज, पृ० 182)

स्वाभाविक और अनिवार्य है, तो एलाम और भारत का सम्बन्ध सहज ही स्वीकार करना होगा क्योंकि वह उन दोनों सभ्यताओं के बीच में ही स्थित था। इसी प्रकार मोहन्जोदेड़ो की मुहरों की लिपि भी उस चित्रलिपि से दूर-निकट का सम्बन्ध रखती है जिसका भेद उसे पढ़कर आज तक नहीं खोला जा सका। महत्त्व की बात है कि जैसे सभ्यता के इस प्रसार के पूर्वी छोर (सिन्धु सभ्यता) की लिपि अभी तक नहीं पढ़ी जा सकी उसी प्रकार उसके पश्चिमी छोर की क्रीती-मिनोई-मिकीनी सभ्यता की लिखावट भी आज तक पुराविदों की मेधा की प्रतीक्षा कर रही है और उसके अर्थ का भेद भी नहीं खुल पाया है। सुमेर की लिपि का काल के दौरान विकसित होता जाने वाला रूप फारस से ग्रीस तक और उसके अनुवर्ती रोम, इंग्लैण्ड और अमेरिका तक की भूमि पर फैला हुआ है। कुछ अजब नहीं, जो आकृति में कुछ समान दिखने वाली मोहन्जोदेड़ो की लिपि भी उस सुमेरी लिपि के प्रसार का एक अंग हो। सम्भवत: मोहन्जोदेड़ो सिन्धु नदी पर अवस्थित बन्दरगाह था जहां से पूरब का माल सिन्धु के मुहाने से होकर समुद्र की राह दजला और फरात नदियों के मुहाने से सुमेर के नगरों को जाता था और पश्चिमी देशों का माल उसी राह भारत आता था।

ऋग्वेद में ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि न केवल वैदिक आर्यों का सम्पर्क प्राचीन ईरान के अवेस्ती आर्यों के पूर्वजों से रहा था बल्कि अनातोलिया अथवा लघु एशिया के उन खत्तियों से भी रहा था जिनके युद्ध-विराम और सन्धि पट्ट पर आर्यों के देवताओं—इन्द्र, वरुण, मित्र और नासत्यों (अश्विनीकुमारों) का उल्लेख हुआ। यह पट्ट अंकारा के पास बोगाज़-कोई में मिला है, जिसका समय चौदहवीं सदी ई० पू० आंका गया है। उसमें संख्याओं का भी उल्लेख हुआ है जो हिन्दू आर्यों की भाषा व्यवहृत होती थी।[1] स्वयं हिन्दू-यूरोपीय जातियों का प्रसार पंजाब से बाल्टिक सागर तक प्राचीन काल की उस सभ्यता की एकता को सिद्ध करता है।

---

1 ईसा पूर्व अठारहवीं सदी के मध्य कस्सी आर्यों ने बाबुल पर राज किया। उनके सुरियस (सूर्य), मरुत्त (मरुत्) आदि नाम ऋग्वैदिक देवताओं से मिलते हैं। कस्सियों और मितन्नियों का उल्लेख सम्भवत: ऋग्वेद में भी 'कर्सी' और 'मितज्ञ' नामों से हुआ है। मितन्नी किक्कुली ने अपनी रथ-धावन सम्बन्धी तत्कालीन पुस्तक में 1,3,5,7,9, की संख्याओं का उल्लेख 'एक, तेर, पंज़, सत्त, न' द्वारा किया है जिनकी संस्कृत समानान्तर संख्याएं, 'एकम्, त्रीणि, पंच, सप्त, नव' हैं। एन० डी० मिरोनोव ने अपने विद्वतापूर्ण लेख निकट पूर्व में आर्य-चिह्न' में खत्ती नामों स्वर्दत, सुबन्धु, सतुअरा, इन्दरुत, बीरसेन, अर्तदम, बिरिदस्व, नम्यवज़, सुत्तर्न और सुमितरस को—वैदिक-संस्कृत के नामों क्रमश: स्वर्दत्त, सुबन्धु, सत्वर, इन्द्रोत, वीरसेन, ऋतदमन, बृहदश्व, नम्यवज, सुधर्ण, ऐन्द्रव और सुमित्र के समकक्ष रखा है। (बी० एस० उपाध्याय, फीडर्स ऑव इण्डियन कल्चर, पृ० 21-22)

ऋग्वेद के अनेक स्थलों से प्रमाणित है कि वैदिक आर्यों का संबंध दजला-फरात की घाटी की सुमेरी-अक्कादी-असूरी सभ्यताओं से रहा है। ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों में समान रूप से मिलने वाला एकछंद यह सम्बन्ध सहज ही स्थापित कर देता है। उस छंद की पृष्ठभूमि वह पट्टिका है जो ऊर नगर से मिली है, जिसमें जलप्रलय से पूर्व के राजवंश की तालिका खुदी हुई है और जिसमें पिता-पुत्र के रूप में दो राजाओं 'एलूलू' और 'बेलूलू' का उल्लेख हुआ है। इनको पुरातात्विक दृष्टि से प्रस्थान बिन्दु माना जा सकता है जिसके एक अर्थात् ऊपरी सिरे पर ऋग्वेद के 'आलिगी-विलिगी' और दूसरे पर 'अलाय-बलाय' हैं। यह महत्त्व की बात है कि न तो आलिगी-विलिगी का भेद संस्कृत के कोशकारों, वैदिक संहिताओं के भाष्यकारों और निरुक्तकार यास्क तक को पता है और न अलाय-बलाय के अर्थ का सही गुमान फारसी-अरबी के ही लुगद बनाने वालों को ही है। आलिगी-विलिगी और अलाय-बलाय दोनों ही शब्द ऊर की पट्टिका के उल्लेख में संबोधित एलूलू-बेलूलू के परवर्ती हैं। ऋग्वेद-अथर्ववेद के जिस प्रसंग की ओर ऊपर संकेत किया गया है उसका कुछ सविस्तार विश्लेषण यहां समीचीन होगा। पूरा स्थल इस प्रकार है :

असितस्य तैमातस्य बभ्रोरयोकस्य च।
साना साहम्याहं मन्योरवाज्यामिव धन्वनो विमुञ्चामि रथीं इव ॥ 6 ॥
आलिगी च विलिगी च पिता च माता च
विद्म वः सर्वतो बन्ध्वरसाः किं करिष्यथ ॥ 7 ॥
उरुगुलाया दुहिता जाता दास्यसिक्न्या।
प्रतंकं दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम् ॥ 8 ॥

... ...

साबुबं न ताबुबं न घेत्वमसि ताबुवम्।
ताबुवेनारसं विषम् ॥ 10 ॥ अथर्ववेद, 5, 12[1]

इस प्रसंग में प्रयुक्त शब्दों में से 'आलिगी', 'विलिगी', और 'उरुगुला' का

---

1. ब्लूमफील्ड के आधार पर बालगंगाधर तिलक ने इन मंत्रों का अर्थ इस प्रकार दिया है—जिस प्रकार धनुष से ज्या ढीली की जाती है, अश्वों से रथ विलग किया जाता है, मैं तुम्हें काले-भूरे सर्प तैमात और सर्वविजयी अपोदक विष से मुक्त करता हूं ॥ 6 ॥

आलिगी और विलिगी पिता और माता, तुम्हारे सारे बन्धुओं को हम जानते हैं। विष-विहीन भला तुम क्या कर सकोगे ? ॥ 7 ॥

करैत (काले) के साथ उत्पन्न है यह उरुगूला की दुहिता। उन सबका विष शक्तिहीन हो गया है जो अपने आश्रय को भाग गए हैं ॥ 8 ॥

साबुबं (अथवा) न ताबुबं (हे सर्प) तू ताबुबं नहीं है। ताबुवं द्वारा द्वारा विष व्यर्थ कर दिया गया है ॥ 10 ॥ (भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, भगवतशरण उपाध्याय, पृष्ठ 243)

संदर्भ बड़े महत्त्व का है। अथर्ववेद के (ऋग्वेद के भी) जिस मंत्र में इनका उल्लेख हुआ है वह सांप का विष झाड़ने का मंत्र है। झाड़-फूंक करने वाला ओझा नागी (या सांप) का संबोधन करता हुआ कहता है कि 'आलिगी तुम्हारा पिता है, बिलिगी तुम्हारी माता, तैमात (तियामता) और उरुगुला की तुम दुहिता हो, आदि। तियामत या तैमात की ओर पहले संकेत किया जा चुका है। आलिगी और बिलिगी में क्रमश: पिता और माता होने का कोई लिंगचिह्न नहीं है। मंत्र-कार ने, प्रकट है, दोनों का अर्थ जाने बिना ही उसका प्रयोग किया है। वह उलट-कर बिलिगी को पिता और आलिगी को माता भी कहता तो प्रभाव में कोई अंतर नहीं पड़ता क्योंकि आज भी मंत्रों में निरर्थक, पर अद्भुत, शब्दों का प्रयोग होता है। उस काल के ओझा ने भी ऐसे ही शब्दों का व्यवहार किया है जिनका अर्थ वह स्वयं नहीं जानता, लिंग-भेद तक नहीं, और जिन्हें वह किसी प्राचीन शब्द भण्डार से चुन लेता है। इस प्रकार के अनेक शब्द तब तक के मंत्रकारों के ज्ञान में रहे होंगे, जो अपनी भाषा के होंगे, पर बाहरी होने से उनका सुनने वालों पर असर पड़ता रहा होगा। इसीसे उनका प्रयोग हुआ है। प्राचीन सुमेरी नगर ऊर की खुदाई में एक पट्टिका मिली है जो ब्रिटिश म्यूज़ियम के असूरी-बाबुली विभाग के 'हैन्डबुक' में उद्धृत की गई है। वह प्राय: 3,000 ई० पू० के ऊर के एक राजकुल की वंशतालिका है, जिसमें दो राजाओं—क्रमश: पिता-पुत्र—के नाम 'एलूलू' व 'बेलूलू' दिए हैं। वस्तुत: यही आलिगी-बिलिगी के समीपवर्ती हैं या उनके पूर्वज, जैसे वे 'अलाय-बलाय' (अलैया-बलैया) आदि के भी हैं। अलाय-बलाय का कुछ फेर-बदल के साथ इसी अर्थ में प्रयोग अरबी (प्राचीन हरबी, प्राग्-इस्लामी), फारसी आदि में भी होता आया है। विशेष बात तो यह है कि पट्टिका ऊर नगर में मिली है जिस नगर का उल्लेख उसी मंत्र के उरुगुला शब्द के रूप में हुआ है। इसी शब्द का उत्तरार्द्ध 'गुल' या 'गुला' शब्द है जिसका प्राचीन बाबुली-असूरी भाषा में (देखिए, बज की तत्संबंधी डिक्शनरी) अर्थ होता है 'सांपों के विष का वैद्य'। इस प्रकार वेदों का यह सांप झाड़ने वाला मंत्र बाबुल और असूर देश के विष-वैद्यों या ओझों से अपना संबंध स्थापित करता है। निरुक्तकार यास्क को छठी-सातवीं ई० पू० में भी इन शब्दों का अर्थ ज्ञात नहीं था जिससे वह इन्हें 'निरर्थक-शब्द' कहता है। स्वाभाविक ही सन्देह हो सकता है कि तीन-चार सौ वर्ष पहले के स्वयं मंत्रकार को इसका अर्थ ज्ञात नहीं था।

इसी प्रकार ऋग्वेद और अथर्ववेद में 'जर्फरी,' 'मुर्फरी,' 'यह्वा,' 'यह्वे' 'यह्वती' रूप का भी प्रयोग हुआ है। जिस शब्द का अनेकत: ऋग्वेद में देवार्थ[1]

1. इन्द्र, वरुणादि के विशेषणों के रूप में।

प्रयोग हुआ है वह वस्तुतः इब्रानी शब्द 'यह्वे' (जेहोवा) से निकला है। यहूदी संसार की पहली जाति है जिसने देवताओं की अनन्त परम्पराओं को हटाकर एकेश्वरवाद का चिन्तन किया। उसका वह ईश्वर यह्वे था। अग्नि, इन्द्र, सोम आदि देवताओं के विशिष्ट विश्लेषण के लिए इसी शब्द का अनेक बार ऋग्वेद में प्रयोग हुआ है। एकेश्वरवाद, बल्कि उससे भी अधिक, वेदान्त के आभास रूप में, मिस्र के फराऊन इखनातून ने ई० पू० की 13वीं सदी में सूर्य की शक्ति को प्रतीक मान उसी को विश्व का व्यापक देव घोषित किया, तब उसकी आयु केवल 15 वर्ष की थी। उसके अपने देश में तो निश्चय वह बौद्धिक लौ बुझ गई पर अन्यत्र के चिन्तन में उसका प्राचीन जगत पर गहरा प्रभाव पड़ा था। इसमें सन्देह नहीं कि ऊपर उद्धृत शब्द वैदिक आर्यों के पश्चिमी देशों के साथ सम्पर्क को उद्घाटित करते हैं। इस प्रकार पश्चिमी देशों के अनेक शब्दों का प्रभाव न केवल हमारे भाव और भाषा पर पड़ा है वरन् विश्वास और जीवन पर भी, जिससे पश्चिम के साथ भारत का सम्बन्ध प्रकट है।

दो और शब्दों पर विचार कर लेना इस संदर्भ में उचित होगा। ये हैं 'बाल' और 'असुर'। 'बाल' शब्द, जिसका प्रयोग केश और अन्न की बालों के अर्थ में होता है, प्राचीनतर इब्रानी, प्राचीनतम बाबुली, आधार से उठा है, जिसका मूल अर्थ है, 'ऊपर वाला,' 'सबसे ऊपर का'। इसी 'ऊपर वाला' अर्थ में यह केश के अतिरिक्त मक्के आदि की बालों के लिए, दूध की बालाई, बालाखाना, बालाई आमदनी, बाले-बाले आदि के लिए प्रयुक्त हुआ। इसी सम्बन्ध से एक साथ अनेक से सम्बन्धित वारवनिता, वारांगना आदि शब्द बने। इसीसे ऋग्वेद के ग्यारह मंत्रों के कर्ता बालखिल्य (पुराणों के अनुसार बाल की ही भांति संख्या में अनन्त, साठ हज़ार और अंगूठे के बराबर ऊंचे) ऋषियों का नाम पड़ा। स्वयं बाल, बाला, बालक, बालिका का प्राचीनतम संस्कृत में अर्थ है 'घोड़े की पूंछ', जो बालमय होने के अतिरिक्त उठने पर अश्व के शरीर का उच्चतम अंग प्रमाणित होती है। स्वामी—सबसे ऊंचा—के अर्थ में मौलिक रूप में यह शब्द सुमेरियों-बाबुलियों ने अपने देवताओं के राजा के लिए प्रयुक्त किया। इसी से सबसे ऊपर होने से मस्तक का केश व अन्न की बाली के संदर्भ में, इस शब्द का संस्कृत आदि भारतीय भाषाओं में उपयोग हुआ।[1]

असुर और फिनीकी (फिनीशियाई)

इसी प्रकार 'असुर' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद से लेकर आज की हमारी

---

1. विस्तृत वर्णन के लिए देखें, लेखक के ग्रन्थ—'भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण,' 'भारतीय संस्कृति के स्रोत' और 'फीडर्स आफ इण्डियन कल्चर'।

प्रांतीय भाषाओं (और हिन्दी) तक में होता आया है। यह सही है कि पिछले काल की संस्कृत और हिन्दी आदि में इसका प्रयोग 'सुरविरोधी' (न सुराः इति असुराः) अर्थ में हुआ है। वस्तुतः यह शब्द शक्ति प्रकट करता है और 'असवः' (प्राणाः) से बना है। इसी अर्थ में यह पाणिनि आदि द्वारा प्राचीन काल में प्रयुक्त हुआ है, जातिवाचक (जेनरिक) अर्थ में। इसी अर्थ में, यह उस असाधारण शक्तिमान विजयिनी 'असुर' जाति को व्यक्त करता है, जिसकी राजधानी 'असुर' थी, जिसका प्रधान देवता 'असुर' था. जाति का नाम भी 'असुर' था।[1] ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में ईसा पूर्व 612 तक उस जाति ने पश्चिमी एशिया पर अपना प्रभुत्व रखा—हज़ारों पट्टिकाओं, स्तम्भों पर अपनी प्रशस्तियां खुदवाईं। उसकी अन्तिम राजधानी निनेवे ई० पू० 612 में बाबुल के खल्दी नरेश नावोपोलस्सर और मीदी आर्य उवक्षमार्ष की सम्मिलित चोट से नष्ट हो गई।[2] असुरों के प्रबल राजा तिगलाथ पिलेज़र, सारगोन, सेनाखरिब, एसरहछन, असुर-नज़ीरपाल, असुरवनिपाल आदि थे।[3] पिछले दोनों सम्राट तो शतपथ ब्राह्मण की रचना काल के प्रायः समकालीन थे। इसी 'शक्तिमान' अर्थ में ऋग्वेद में भी कम से कम ग्यारह बार वरुण, इन्द्रादि के विशेषण के रूप में 'असुर' शब्द का उपयोग हुआ है। बहुत पीछे, महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' में रघु की दिग्विजय के क्रम में राजाओं को जीतकर उनका राज्य लौटा देने की जो बात कही (श्रियं जह्वार न तु मेदिनीम्) और यह रीति 'धर्मविजयी नृप' की नीति के विपरीत थी।[4] 'असुरविजयीनृप' विजित राजाओं को सर्वथा उखाड़ फेंकता और उनके सिंहासन छीन लेता था। वास्तव में यह उन असुर राजाओं की ही ऐतिहासिक परम्परा थी जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है। असुर नज़ीरपाल ने जो बन्दियों की जीवित खाल निकालने और समूची विजित जनता को एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में बसाने की नीति चलाई, उसका निर्वाह उसके सभी वंशधर करते रहे। इस नीति ने संसार के इतिहास में अपना सानी न रखा। उसी का प्रभाव हमारे बाद के साहित्यकारों की परम्परागत स्मृति पर भी पड़ा। वैसे भी हमारी सारी पौराणिक परम्परा में असुर देवताओं के शत्रु का प्रतीक बना। यह संभवतः आर्य-ईरानी राजाओं की उनसे शत्रुता के कारण हुआ होगा, क्योंकि पहले के वैदिक साहित्य में उनका उल्लेख केवल शक्ति-प्रदर्शन में हुआ है। जो भी हो, असुरों की छाप हमारे प्राचीन-अर्वाचीन सभी परम्पराओं पर खासी पड़ी और आज भी उस शब्द का प्रयोग साहित्य में होता है।

---

1. देखिए, लैंगडन की तत्सम्बन्धी डिक्शनरी।
2. हाल : द एंशेन्ट हिस्ट्री पृ०. 322, 444.517
3. वही, पृ० 513
4. रघुवंश, 4, 430

इस देश के साहित्य और विश्वास पर बाबुली (सुमेरी) परम्परा और इतिहास-पुराण के जल-प्रलय की कथा का प्रभाव पड़ा। डाक्टर लियोनार्ड वूली आदि की ऊर, कीश, बाबुल आदि की खुदाई ने उस प्राचीन जल-प्रलय की ऐतिहासिकता सिद्ध कर दी है जो 3200 ई० पू० के लगभग वहां हुई थी।[1] उस घटना को इस देश के अधिकारियों ने अपना माना और अपनी प्राचीन तथा पावन पुस्तकों में उसका उल्लेख किया। जल-प्रलय का इस देश के साहित्य में सबसे प्राचीन उल्लेख 'शतपथ-ब्राह्मण' में हुआ है जो आठवीं-सातवीं सदी ई० पू० के लगभग का है। कीलनुमा लेख-पद्धति में अभिलेखों में वह कथा प्रायः 2000 ई० पू० में ही सुमेरी (बाबुली) भाषा में लिख ली गई थी।[2] महत्त्व की बात यह है कि शतपथ ब्राह्मण ने अनजाने अपनी उस कथा के मूल का उल्लेख भी कर दिया है, क्योंकि उसमें लिखा है कि मनु (बाइबिल के नूह, सुमेर की वास्तविक घटना के नायक ज़िउसिद्दू) जब प्रलय का जल सूखने के बाद भूमि पर उतरे तब उन्होंने यज्ञ द्वारा भगवान के प्रति अपनी कृतज्ञता जतानी चाही। पर यज्ञ कराने के लिए उन्हें जब कोई पुरोहतः (ऋत्विज्) न मिला तब बाध्य होकर उन्हें असुर ब्राह्मण (असुरब्राह्मण इति आहूतः) बुलाना पड़ा।[3] शतपथ ब्राह्मण की रचना काल के पूर्व ही ऋत्विजों की संख्या सत्रह से बीस तक जा पहुंची थी, पर मनु के यज्ञ के लिए एक ऋत्विज भी न मिला! इसका विशेष कारण था। इसी काल में असुर नज़ीरपाल के, उसके पूर्ववर्तियों और परवर्तियों के, वे विजयनाद एशिया की हवा में थे, जिनकी प्रतिध्वनि शीघ्र ही बाद पाणिनि (हेलयः)[4] आदि करने लगे थे। कुछ आश्चर्य नहीं कि तभी, जब अपनी विजयों से असुर सम्राट सारे पश्चिमी एशिया के स्वामी हो रहे थे, यह ब्राह्मण रचा गया हो और तभी की जानी हुई वह जल-प्रलय की कथा उस ग्रन्थ में पिरो ली गई हो। उन्हीं दिनों असुरबनिपाल और उसके पूर्ववर्ती सम्राट् अपना विशाल पुरातत्व सम्बन्धी संग्रह एकत्र कर रहे थे। संग्रह, जिसमें लाखों ईंटें थीं। इन्हीं में 'गिल्गमेश' के उस प्रसिद्ध महाकाव्य की तीस ईंटें भी थीं, जिसके नायक गिल्गमेश से उसके पूर्वज और जल-प्रलय की कथा के वीर जीउसिद्दू ने अपने मुंह से (पौराणिक) वह कथा कही थी। निश्चय ही, जहां से यज्ञ के लिए मनु को 'असुरब्राह्मण' बुलाने पड़े थे वहीं से वह कथा भी आई थी और उसे भारत की पवित्रतम पुस्तकों में स्थान मिला। इसी प्रकार की एक और कथा गरुड़ की है जो सर्प से लड़ता है और राजा को लेकर सूर्य तक उठने का प्रयत्न करता है। हमारे पुराणों में इसके समानान्तर

1. हाल : द एंशेन्ट हिस्ट्री, पृ० 445
2 पैट्रिक कार्लटन : बरीड एम्पायर्स, पृ० 64, 65
3. अध्याय 1, अपा 8-6
4 अप्पाध्यायी, 5, 2, 117

कथा जटायु के भ्राता सम्पाति की है।

सांख्य दर्शन के आचार्यों में एक नाम 'आसुरी' का भी गिना जाता है। ज़ाहिर है कि यह आचार्य या तो असूरी जाति का था अथवा सांख्य दार्शनिक विवेचना में उसने असूरी तर्क पद्धति का उपयोग किया। सांख्य दर्शन, विशेषत: आरंभ में, नास्तिक दर्शन था, जो ऋग्वेदिक आर्यों और उनकी दृष्टि में 'अदेवय' असुरों की पारम्परिक शत्रुता के परिप्रेक्ष्य में संभवत: संपन्न हुआ और चूंकि भारतीय दर्शनों में सांख्य सबसे प्राचीन है उसका आदि बीज असूरी साम्राज्य सत्ता की कालावधि के निकट पहुंच जाता है। भारत की आदिवासी जातियों में से भी एक का नाम 'असुर' है।[1]

ऊपर बताया जा चुका है कि सिन्धु सभ्यता के निवासियों का सुमेर, बाबुल आदि से स्थल और जल दोनों मार्गों में सम्पर्क स्थापित था। दोनों के सम्बन्धों के कुछ स्पष्ट उदाहरण नीचे दिए जाते हैं। बाइबिल की पुरानी पोथी (ओल्ड टेस्टामेंट) से प्रकट है कि यहूदियों के राजा सुलेमान (सालोमन) ने अपने गजदन्त, वृषाकपि (वनमानुस) और मोर तथा उसके समकालीन लेबनान के फिनीशी राजा हिराम ने अपने तीर तथा सिदोन के राजप्रासादों के लिए लकड़ी भारत से ही व्यापार द्वारा जल-मार्ग से प्राप्त किए थे।[2] सेनाखरिब (लगभग 700 ई०पू०) की एक पट्टिका पर खुदे अभिलेख में रुई का प्राचीनतम उल्लेख सुरक्षित है। उसमें लिखा है कि 'वहां वृक्षों पर ऊन उगती थी जिसे तोड़कर रुई बुनते थे।' यह रुई भारत से आती थी। बाबुल, तीर, सिदोन और निनेवे के बाज़ार

---

1. उपाध्याय, फीडर्स आफ इंडियन कल्चर, पृ 29

2. यहूदी स्रोतों में लिखा है कि यहूदी राजा सुलेमान (सालोमन), लगभग 800 ई० पू० के शासन काल में तीर के राजा हिराम ने जहाज़ों का एक बेड़ा बनवाया जो तीसरे साल पूर्व की यात्रा करता और वहां से 'स्वर्ण, रजत, गजदन्त, कपि, मोर—रत्न लाता था। जिस बन्दरगाह में हिराम के पोत माल लाते थे उसका नाम 'ओफिर' था। इसे कुछ लोगों ने सुप्पार शूर्पारक भी माना है। ओफिर का नाम कहीं-कहीं 'सोफारा' भी मिलता है। मिस्रानी कोप्ती भाषा में सोफिर दक्षिण भारत का नाम है। ओफिर चाहे भारत में रहा हो पर जिन व्यवसायिक वस्तुओं के नाम गिनाए गए हैं वे निश्चय अपने मूल से भारतीय हैं। इस प्रकार गजदन्त के लिए इब्रानी (यहूदी; हिब्रू) में 'शोहब्बिन' (हाथी के दांत) शब्द प्रयुक्त हुआ है, ग्रीक 'सन्तलन' (सन्दल) संस्कृत 'चन्दन' से निकला है, जैसे कपि से 'कोफ'। मयूर के लिए 'थोकिइम' 'शब्द का उपयोग हुआ है जो तमिल 'तोकेई' (मोर) का अपभ्रंश है। असुर बनिपाल के निनेवे के ग्रंथागार में जिस 'सिन्धु' शब्द का उल्लेख हुआ है, वह भारतीय कपास या रुई के बने कपड़े को अभिव्यक्त करता है। स्वयं इब्रानी के 'कर्पस' शब्द संस्कृत 'कर्पास '(कपास) से निकला है। इस प्रकार के शब्दों की संख्या प्रभूत है जिनसे भारत व पश्चिमी एशिया के व्यावसायिक सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है। (द एज आफ इम्पीरियल यूनिटी; पृ० 611-612)

भारतीय वस्तुओं से अटे रहते थे। दोनों सभ्यताओं के बीच दक्षिणी ईरान में व्यापार मार्ग पर पड़ने वाले सूसा में भारत का माल पश्चिम बेचने वाली मंडियां थीं। भारत से माल भर-भरकर पश्चिम जाने वाले जहाज़ 'ओफिर' और फारस की खाड़ी के बन्दरगाहों में रुकते थे जहां से उसे लेकर असूरी और विशेषतः फिनीशी सौदागर असूरिया और अर्मीनिया तक पहुंचते थे। स्थल मार्ग में जाने वाले भारतीय कारवां खैबर-काबुल की राह हैरात, एकबताना होते असुरों की राजधानी निनेवे तक पहुंचते थे। ओलस्टेड अपने ग्रंथ 'हिस्ट्री आव पर्शियन एम्पायर' में लिखता है कि बुसासा नाम की एक हिन्दू (भारतीय) स्त्री ने पुलिस के निरीक्षण में कीश (सुमेर-ईराक) में एक सराय खोल रखी थी। पिछले भागों में सर्वथा स्वतन्त्र भ्रमण करने वाले जिप्सी बंजारों ने तो पश्चिम के यूरोपीय देशों में अनेक भारतीय विचारों, कथाओं आदि का प्रचार किया।

एक ओर असुरों के दूसरी ओर रोमनों के समकालीन फिनीशी थे, जिनका आवास वह सागर तट था जहां आज लेबनान बसा है। वे प्राचीन संसार के सबसे बड़े व्यवसायी थे जिनके नगर तीर और सिदोन और पीछे कार्थेज उनके वाणिज्य के सबसे बड़े केन्द्र थे। फिनीशियों ने भूमध्यसागरवर्ती सारे नगरों को अपने व्यापार का उपनिवेश बना लिया था। उनके नाविक सारे सागरों को पार करते थे। उनके दलाल सभी बन्दरों में सौदा करते थे। आज के बैंकिंग व्यवसाय की बुनियाद उन्होंने ही डाली थी। यहूदियों और उनकी नस्लों में दूर का सम्बन्ध था और जैसे आज यहूदी संसार के व्यवसाय और धनराशि पर काबिज़ हैं, प्राचीन संसार के धन के सारे स्रोत वैसे ही तब फिनीशियों के हाथ में थे।[1]

चूंकि आर्य जातियां मध्य-पूर्व के देशों से होकर गुज़र रही थीं, उनका इन फिनीशियों के सम्पर्क में आना अनिवार्य था। आज यह कह पाना कठिन है कि ऋग्वैदिक आर्यों के साथ उनका सम्बन्ध पड़ोसी होने के नाते या वाणिज्य के दौरान हुआ था। ऋग्वेद में पाणि नाम की एक जाति का बार-बार उल्लेख हुआ है जिसकी पहचान फिनीशियों (फणीशी, पणीशी) से की जाती है। ऋग्वेद उन्हें अत्यन्त सफल वणिकों के रूप में जानता है, और उन्हें बहुमूल्य रत्नों का व्यवसायी मानता है। 'मणि' शब्द का उल्लेख अधिकतर उन्हीं के सन्दर्भ में हुआ है। इसी शब्द के पीछे अंग्रेज़ी का 'मनी' (धन, पैसा) शब्द उत्पन्न हुआ। ऋग्वेद में पणियों को घिनौनी दृष्टि से देखा गया है जिनका काम, उस संहिता के प्रमाण से मवेशी चुराना था। 'मीनाकारी' का भी आरम्भ उन्हीं के गुणी कलावन्तों द्वारा हुआ जिन्होंने इस कला का प्रचार किया था। जड़ाई का काम

1. फीडर्स०, पृ० 30
2. फीडर्स०, पृ० 31

सबसे पहले फणीशी मीनाकारों ने ही किया। 'हुण्डी' का चलन भी उन्होंने ही कराया था, जिससे दूर-दूर अवस्थित उनकी मंडियों के साथ वाणिज्य में सहूलियत होती थी। सागर पार के सौदागरों में हुंडी के साधन ने जादू का काम किया। भारत की ओर से प्राचीन काल में फारस की खाड़ी के बन्दरगाहों में जो माल उतरता था उसका पश्चिमी एशिया, अफ्रीका और यूरोप में वितरण फिनीशी ही करते थे। पर ऋग्वैदिक आर्यों की ही भांति उस काल की आर्य जातियां भी उनकी वणिक प्रक्रियाओं को सन्देह की दृष्टि से देखती थीं, और मानती थीं कि फिनीशी सौदागरी और फरेब, वाणिज्य और दस्यु कर्म में अन्तर नहीं कर पाते। कहते हैं कि वे कमज़ोरों की चोरी करते, मूर्खों को धोखा देते और शेष से ईमानदारी बरतते थे। सिकन्दर के आक्रमणों के साथ भी उनका एक दल चलता था।[1]

आर्यों की ही भांति उनके भी देववर्ग थे, जिनका अधिपति 'बाल' था जिसका ज़िक्र केश—ऊपर वाला—के सन्दर्भ में अन्यत्र किया जा चुका है। उनकी प्रधान देवी ईश्तर थी जिसे कुछ विद्वानों ने संस्कृत शब्द 'स्त्री' का मूल माना है। फिनीशियों ने ही मिस्र और साइनाई (कोह तूर) से अथवा सुमेर और बाबुल से वर्णमाला ले जाकर विविध देशों में उसका प्रचार किया। उन्होंने ही आठवीं सदी ई० पू० में ग्राम में बाबुली-यहूदी वर्णमाला प्रचलित की जो वहां सदियों पहले अपने मूल की ही भांति दायें से बायें को लिखी जाती थी। फिनीशियों और ऋग्वैदिक आर्यों, दोनों में, सम्भवत: एक-दूसरे की देखादेखी मनुष्य-बलि प्रचलित हुई। आत्मबलि का प्रचलन, पराभव की लज्जा से बचने के लिए, फिनीशियों में था। उनकी ही एक प्रजाति लीदियनों के राजा क्रीसस ने, ईरानी सम्राट् कुरुष से पराजित होकर चितारोहण करना चाहा था। उसने अपनी स्त्रियों और परिवार सहित चितारोहण किया था, ऐसा एक मत है। यह परम्परा काबुल के साहिय राजा जयपाल के समय दसवीं सदी ईस्वी तक जीवित रही थी जिसने महमूद से हार कर चितारोहण किया था। राजपूत ललनाओं का सतीत्व की रक्षा के लिए चितारोहण लाक्षणिक रूप से 'जौहर' कहलाता है जो मूलत: फिनीशी-यहूदी शब्द है जिसका मूल अर्थ 'प्रज्वलन' अथवा 'दीपावली' है। प्रसिद्ध दार्शनिक लियोनके-मूसा (मोज़ेज़ दल्यों) ने जो अपना प्रधान दार्शनिक ग्रंथ लिखा उसका यहूदी नाम 'जौहर' था।[2]

अब भी भारत में काली को बकरी-भेड़ों आदि की बलि देते हैं। बलि देने से पहले पुरोहित 'खेलते' हुए अपने को नाच-नाच कर, बेंत मार-मार कर घायल कर लेते हैं। और जबउन का नृत्य समां बांध लेता है तब वे एक झटके से बकरे का

1. फीडर्स; पृ० 30
2. फीडर्स०, पृ० 31

सिर काट लेते हैं। वेदी की देवी रक्त से भर जाती है। कुछ काल में ब्राह्मण-पुरोहितों ने यह गर्हित कार्य करना बन्द कर दिया, जिससे वह कार्य अब नीची जाति के ओझा करते हैं। सीरिया और फ्रीगिया में इसी प्रकार की पशुबलि वहां के पुरोहित दिया करते थे। वसन्त के त्यौहार पर सीरिया (असूरिया) की देवी अस्तार्ते का पूजन होता था जिसमें क्लीव पुरोहित दीवाने होकर नृत्य करते और अपने शरीर को छुरियों की चोट से छिन्न-भिन्न कर देते थे। इसी प्रकार फ्रीगिया के पुरोहित भी देवी कुबेले के त्यौहारों पर बलि-कर्म करते समय अपने तन को नृत्य करते हुए लहूलुहान कर देते थे, वेदी खून से रंग जाती थी। भारत का इन देशों और उनकी रीतियों से पर्याप्त सम्बन्ध था।[1]

स्वयं ऋग्वेद में कुछ ऐसे प्रसंग आए हैं जिनसे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि ऋग्वैदिक आर्य सागर पार की यात्राएं किया करते थे।[2] ऋचा का अर्थ संदिग्ध होने के कारण इस अटकल पर विश्वास करना युक्ति-युक्त नहीं होगा। पर भारतीय कथाओं में सैकड़ों प्रसंग समुद्र-यात्रा के मिलते हैं। इन कथाओं में बौद्ध जातक विशेष उल्लेखनीय हैं। एक प्रसंग में तो सागर की यात्रा के समय तीर के अलक्ष्य होने पर पक्षियों को भेजने का उल्लेख भी हुआ है जो उसका पता लगा लेते हैं।[3] एक जातक का तो नाम ही 'बाबेरु-जातक' है। बाबेरु निस्संदेह बाबुल है और इस कथा से प्राचीन काल—उस जातक की कथा के प्रचलित होने से पहले—में भारत और बाबुल के बीच व्यापार पर प्रकाश पड़ता है।

यह तो हुई साहित्यिक प्रमाणों की बात। साहित्यिक संदर्भ से भिन्न पुरातात्विक प्रमाण भी भारत और पश्चिम के प्राचीन संबंध को प्रकट करते हैं। बाबुल-असुर देशों में विजय-स्तम्भ खड़े करने की प्रथा अति प्राचीन है। विजय-स्तम्भों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के भी स्तम्भ—जैसे प्राय: बीसवीं सदी ई० पू० में हम्मुराबी की विधि संहिता प्रस्तुत करने वाला स्तंभ—खड़े किए गए थे। प्राय: 860 ई० पू० असुर सम्राट् शालमनेज़र ने जो अपना स्तंभ खड़ा किया उस पर कपियों, भारतीय गजों और बाख्त्री के ऊंटों की आकृतियां उभारी हुई हैं। ऊर से भारतीय संबंध का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। प्राचीनतर काल के सिन्धु-सभ्यता के भारत और सुमेर के नगरों के परस्पर संबंध के प्रसंग में ऊर का उल्लेख किया जा चुका है जहां मोहेन्जोदेड़ो की मुहरें मिली थीं और शतपथ ब्राह्मण में वर्णित जल-प्रलय हुई थी। बाद में भी, सैन्धव सभ्यता का नाश हो जाने पर भी, ऊर के साथ भारत का संबंध बना रहा था। फर्क बस इतना था कि तब का ऊर सुमेरियों का था अब का खल्दियों का। ऊर तो अब मिट गया है पर उसके स्थान

1. फीडर्स आफ इंडियन कल्चर
2. ऋग्वेद 1, 116, 3,
3. द एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० 612

पर आज ईराक का मुंगेइर कायम है। खल्दियों, के उस ऊर नगर में नेबूरबृद-नेज़्ज़ार छठी सदी ई० पू० में राज कर रहा था। उसके राजमहल और उसी काल में वहीं बने चन्द्रमा के मंदिर में भारतीय सागवान की लकड़ी लगी है। इसका अर्थ यह है कि भारत का प्राचीन ईराक से संबंध प्राचीन काल में कभी टूटा नहीं—पहले सुमेरी नगरों से था, फिर वहीं के बाबुली नगरों से था, फिर असूरी नगरों से, और अन्त में खल्दी नगरों से था। दजला और फरात नदियों के मुहानों के पास समुद्र के निकट सुमेर के नगर ऊर, उरुक, कीश आदि बसे थे। उनसे उत्तर में उन्हीं नदियों के द्वाब में बाबुली थे जिन्होंने बाबुल नगर बसाया और सुमेर पर भी अधिकार कर लिया और उनसे भी उत्तर में असुर उन्हीं नदियों के तीर बसे थे जिन्होंने कालान्तर में न केवल सुमेर और बाबुल दोनों पर अधिकार कर लिया बल्कि अपनी विजयों के परिणामस्वरूप असुर सम्राट् अर्मीनिया से मिस्र तक और ईरानी सीमा से भूमध्यसागर की तटवर्ती भूमि तक के स्वामी हो गए। उन्हें समाप्त कर खल्दी राजाओं ने वह वसुन्धरा भोगी और सुमेर, बाबुल आदि तब खल्द कहलाने लगे। उत्तर-पूर्व के तब मीदी-ईरानी आर्य राजाओं ने और उनके बाद हखमनी-ईरानी सम्राटों ने जब खल्दियों की भूमि पर अधिकार कर लिया तब भारत के सिन्धुनदवर्ती गन्धार से ग्रीस तक और आधे दक्षिणी रूस से मिस्र तक की समूची जनता परस्पर घने संपर्क में आई। और जब ईरानी दाराओं का साम्राज्य सिकन्दर के आक्रमण से नष्ट हो गया तब भी ग्रीकों के व्यापार उत्तर-पश्चिमी भारत के मकदूनिया तक के साम्राज्य में भारतीय सर्वत्र विचरने लगे। अशोक ने मिस्र से मकदूनिया तक के पांचों ग्रीक राज्यों में अपने मानवीयता के सिद्धान्तों से प्रेरित जनहिताय कार्य किए, जिनका उल्लेख हम बाद में यथास्थान करेंगे। यहां अब हम उन जल-थल को लांघने वाले मार्गों का वर्णन करेंगे, जिन पर भारतीय नाविक निःशंक फिरते थे और व्यापारियों के कारवां अपने विनिमय अथवा विक्रम की वस्तुएं लिए देश-देश फिरा करते थे। आवागमन के साधन इतने और द्रुत निश्चय तब नहीं थे जितने आज हैं पर इसके बावजूद उन्होंने अपने यातायात के साधन एकत्र कर लिए थे। भारत कभी एकाकी नहीं रहा।

भारत का तब जलमार्ग द्वारा सागरीय संपर्क फारस और अरब देशों से सीधा था। इन सभी के समुद्र तट पर अपने बन्दरगाह बने थे जहां माल भर-भर कर आने-जाने वाले जहाज़ लंगर डालते थे। इन बन्दरगाहों में से विशेषकर ओफिर अथरवा सफरा (सोफरा) का उल्लेख पहले किया जा चुका है। पहले जहाज़ तट से बहुत दूर सागर में नहीं जा पाते थे, यथासंभव तीर-तीर ही चलते थे। उनके आने-जाने का उत्तरी-पश्चिमी छोर लाल सागर में वहां था जहां आज स्वेज़ नहर के मुंह पर पोर्ट स्वेज़ का बन्दरगाह है। भारतीय जहाज़ अपने माल

फारस की खाड़ी के बन्दरों अथवा लाल सागर के पत्तनों में उतार देते थे जहां से स्थल मार्ग से सौदागर उसे मिस्र, तीर, सिदोन आदि पहुंचाते थे। अनेक बार तो फरात नदी की राह जाकर वे ईराक के उत्तरी इलाकों तक को छू लेते थे।

स्थल मार्ग पर कारवां चलते थे, जो भारत से पश्चिमी एशिया और पश्चिमी एशिया से भारत जाते-आते थे। यह स्थल अथवा कारवां-मार्ग खैबर के दर्रे से होकर अफगानिस्तान और हिन्दूकुश की पर्वत श्रेणियां लांघ आमूदरिया (वंक्षुनद) के आंचल में स्थित बल्ख (बाख्त्री, बह्लीक, बैक्ट्रिया) पहुंचते थे, जो सारे स्थल मार्गों का संगम था। वहीं पश्चिम भूमध्यसागर और कृष्ण सागर से आने वाले और पूर्व चीन तथा मध्य एशिया से पश्चिम जाने वाले मार्ग मिलते थे और पूरब-पच्छिम; उत्तर-दक्खिन के कारवां अपने पड़ाव डालते थे। एक कारवां-मार्ग (सार्थवाह) वंक्षुनद (आमूदरिया) के तीर-तीर कास्पियन सागर पर अथवा उनके तटवर्ती इलाकों से होता कुर और फसिस होता कृष्ण सागर[1] की बन्दरगाहों तक पहुंचता था। जहां फिलिस्तीन के युरुसलम, सीरिया के अंतियोक और पूर्वी यूरोप तथा संभवत: रूसी-बेलोरूसी राहें भी आ मिलती थीं। एक दूसरा स्थल-मार्ग हेरात होकर करमान की मरुभूमि के किनारे-किनारे कास्पियन सागर, फिर वहां से क्तेसिफोन तथा हेकातोम्पुलिस[2] होता अन्तियोक जाता था। कन्दहार से उत्तर-पश्चिम की ओर जाने वाले सार्थवाहों का भी प्राचीन साहित्य में उल्लेख मिलता है। इनमें से एक ऊपर बताए हेरातवाले मार्ग से जा मिलता था दूसरा सीधा पश्चिम पर्सिपोलिस और सूसा[3] की ओर चला जाता था। कास्पियन और अरलसागर अनेक खारे जल की धाराओं से जुड़े हुए थे।[4]

भारत पहुंचने वाले उन मार्गों का, जो उसके निकट के उत्तर-पश्चिमी इलाकों से होकर गुज़रते थे, यहां कुछ विस्तार से ज़िक्र कर देना मुनासिब होगा। प्रकृति ने हिमालय द्वारा उत्तर की ओर से बाहर जाने की राह रोक रखी है, फिर भी आक्रमणकारी सेनाओं और उनसे भी प्राचीनतर काल के सौदागरों ने उसके दर्रों के आर-पार अपने आने-जाने की राह बना ली थी। ठीक उत्तर अथवा उत्तर-पूर्व के दर्रे तो इतने बीहड़ हैं कि उनका उपयोग बहुत कम हुआ है, पर उत्तर-पश्चिम की हिन्दूकुश पार की राहें अपेक्षाकृत सुगम रही हैं और भारत का पश्चिमी अथवा उत्तरी तथा उत्तर-पूर्वी देशों से संपर्क उन्हीं के ज़रिए हुआ है। सिन्धु पार की नदियों—स्वात, चित्राल, काबुल, कुर्रम, तोखी, और गोमल—की धाराओं के

1. देखिए डब्ल्यू०, डब्ल्यू० टार्न, हलेनिस्टिक, पृ० 211

2. प्लिनी और स्त्राबो दोनों ने इन मार्गों का उल्लेख किया है। देखिए, मैक्रिंडल्स एशेन्ट इंडिया, पृ० 96, 99, 100, 110

3. वही पृ० 204-205.

4. टार्न, वही, पृ० 210.

तीर-तीर राहें सदा चलती रही हैं। वहां का सबसे महत्त्व का मार्ग खैबर का दर्रा रहा है जिससे व्यापारियों के अतिरिक्त, आक्रमणकारी सेनाएं भी आती-जाती रही हैं। काबुल की घाटी से पेशावर तक उतरता यह मार्ग केवल बीस मील लंबा है। पश्चिम से आने वाला एक दूसरा मार्ग हेरात से कन्दहार होता बोलन अथवा मुला के दर्रों से सिंध की घाटी में उतर जाता है। तीसरा स्थल मार्ग मकरान होता किरथार पर्वत श्रेणी और अरब सागर के बीच से सिंध पहुंचता है।

भारत पहुंचने वाले इन स्थल और जलमार्गों के ज़रिए सहस्राब्दियों तक पश्चिमी देशों से भारत का संबंध बना रहा है और एक दूसरे ने परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान किए हैं और एक दूसरे को प्रभावित किया है। फिर भी ये आदान-प्रदान मुख्यतः सांस्कृतिक ही रहे हैं। राजनीतिक आक्रमण अथवा प्रभाव का युग ईरान की छठी सदी ईस्वी पूर्व की प्रसरनीति से प्रारंभ होता है। उससे पहले बाबुली असूरी रानी सेमिरामिस के भारत पर आक्रमण की बात तो निःसंदेह ईराकी साहित्य में पढ़ी जाती है पर उस पर विश्वास कर सकना अथवा उसे ऐतिहासिक घटना मानना संभव नहीं जान पड़ता। आगे हम ईरान-भारत संपर्क का वर्णन करेंगे।

अध्याय-3

ईरान और भारत

ईरान और भारत के पड़ौसी होने के कारण परस्पर सम्पर्क स्वाभाविक था। दक्षिणी ईरान (फारस) में सामी अथवा आर्येतर सभ्यता एलाम में कायम थी, जिसका संबंध एक ओर ईराकी सभ्यताओं, सुमेरी-बाबुली-असूरी से रहा था, दूसरी ओर भारत की सिन्धु-सभ्यता से। उस दिशा में एक छिछलती नज़र पहले डाली जा चुकी है। उस सभ्यता का नाश पहले मीदी पीछे हखमनी आर्य राजाओं ने किया। हखमनी साम्राज्य ने एक ओर भारत को, दूसरी ओर मध्यसागरीय तट को छूकर इस पूरब-पच्छिम के सम्पर्क की राह विशेषत: राजनीतिक रूप से खोल दी और उनके आक्रमणों के बाद भारत पर पश्चिमी आक्रमणों का तांता लग गया। भारत पर आर्यों के बाद पहला आक्रमण करने वाले यही हखमनी-ईरानी आर्य थे।

सिन्धु नदी के पश्चिमी गन्धार के इलाकों पर ईरानी हखमनी सम्राट कुरुष ने ही अधिकार कर लिया था। उसका उत्तराधिकारी कम्बुजीय तो पश्चिम की ही अपनी परेशानियों से नहीं उबर पाया पर दारयकैष (दारा) प्रथम ने अपने साम्राज्य का पूरबी छोर सिन्ध और पश्चिमी पंजाब में प्राय: रावी तक बढ़ा लिया और उसके अभिलेखों के अनुसार इन भारतीय प्रांतों से प्रति वर्ष 360 भार स्वर्ण धूलि (करोड़ों रुपयों के मूल्य की) कर रूप में ईरान जाने लगी। इस प्रकार रावी से भूमध्यसागर और रूस से मिस्र तक—समूचे चीन, लघु एशिया, सीरिया, फिनीशिया और मिस्री फराऊनों का समूचा साम्राज्य—का भूखण्ड 549 ई० पू० और 525 ई० पू० के बीच समान साम्राज्य का अंग बनकर समान सम्राटों द्वारा शासित होने लगा।

यह सम्बन्ध तो ऐतिहासिक काल में हुआ पर वैदिक-अवेस्तन-असूरी आदि साहित्यिक-स्रोतों से इस काल के पूर्व के भारत-ईरान सम्बन्धों पर जो प्रभूत प्रकाश पड़ता है उसका भी यहां सिंहावलोकन कर लेना अनुचित न होगा।

प्राचीनतम भारतीय-ईरानी सम्बन्ध कांस्य-पाषाण युग जितने पुराने हैं। तब की सिन्धु सभ्यता एलाम की दूसरी जल-प्रलय-पूर्व संस्कृति से उल्लेखनीय समता प्रदर्शित करती है। ऊर और कीश की ही तरह एलाम के खंडहरों में भी सिंधु घाटी की मुहरें प्राप्त हुई हैं। भारतीय यूरोपीय परिवार की भारतीय-ईरानी शाखा या

तो दजला के ऊपरी तटवर्ती क्षेत्र में, जहां उससे ज़ोब नदी मिलती है और जहां उसने अपने देवी-देवता तथा अंक-प्रणाली बोगाज़कोई के निवासियों को दिए, या उन दो नदियों वह्‌वी-दातिया और रन्हा, आमू और सीर के विस्तृत द्वाब में जिसको हिन्दू-ईरानी ईरानवेज (ऐर्यनवायजो, आर्य-निवास) नाम की प्यारी भूमि कहते थे, दीर्घकाल तक मिल-जुलकर रहती रही। सम्भवत: हिन्दू-ईरानी आर्य कास्पियन सागर के तट पर, पश्चिम और दक्षिण दोनों ओर, आधुनिक अज़रबैजान क्षेत्र में पहले रहते थे।[1]

उस समान निवास-स्थल की स्मृति भारतीय-आर्यों के सप्त-सिन्धु में बसने के बाद दीर्घकाल तक बार-बार गूंजती रही। ऋग्वेद में पृथु और परसु यानी पार्थव (पार्थियाई) और फारसियों के रूप में उपासना संबंधी समान शब्द इतनी अधिक संख्या में ऋग्वेद में प्रयुक्त हुए हैं कि हिलेब्रांट को यह मत प्रकट करने को विवश होना पड़ा कि ऋग्वेद के जिन अंशों में ईरानी नाम और शब्द आए हैं उनकी रचना ईरान में ही हो चुकी थी, जहां भारतीय और ईरानी आर्य परस्पर जुदा होने से पहले एक साथ बसे थे। ऋग्वेद और अवेस्ता की भाषा और सांस्कृतिक रूप में इतना साम्य है कि स्पष्ट ही दोनों एक ही स्कन्ध से फूटी दो शाखों से लगते हैं। एक की भाषा दूसरे की भाषा होने का भ्रम उत्पन्न कर सकती है। आगे सम्बन्ध टूट गए और दोनों देश, ईरान और भारत, एक-दूसरे से उस समय तक दूर होते गए जब तक कि हखमनियों ने उन्हें फिर से राजनीतिक अभियान द्वारा नहीं जोड़ दिया।[2]

इसके बाद का भारत और ईरान का सम्बन्ध राजनीतिक सम्पर्क पर कायम है जिसके परिणामों का उल्लेख हम नीचे करेंगे। ऊपर लिखा जा चुका है कि किस प्रकार भारत के दो प्रदेश, सिन्ध और पंजाब, और उनसे पहले काबुल तक का गंधार ईरानी सम्राटों के अधिकार में आए और दीर्घकाल तक उन्हें वार्षिक कर देते रहे थे। अपने पुरा लेख में दारा ने भारत और भारतीयों के अर्थ में पहली बार 'हिदु' (हिन्दू, हिन्दी) शब्द का प्रयोग किया जिसे बाद में, बहुत बाद में, भारतीय साहित्य ने ग्रहण किया और जिसे 'हिन्दी', और 'हिन्दू' शब्दों के उपयोग द्वारा बार-बार दोहराया।[3]

इस राजनीतिक सम्बन्ध के परिणामस्वरूप जो भारत पश्चिमी एशिया के साथ एकजुट हो गया तो भाड़े के भारतीय सिपाही अथवा दाराओं के अधिकार-पूर्वक लड़ने जाने के लिए भारतीय सैनिकों के गुल्म ईरानी सम्राटों की ओर से कास्पियन सागर तट तक धावे मारने और जंगली सविकयों (प्राचीन शकों) को

1. उपाध्याय, भारतीय संस्कृति के स्रोत, पृ० 38.
2. वही, पृ० 38
3. वही, पृ० 39

शक्तिपूर्वक शिष्ट करने लगे थे। इसके प्रमाण उपलब्ध हैं कि रावी के तट पर बसने वाले क्षुद्रक हिन्दूकुश के पार तैनात किए जाते थे। क्षयार्षा (ज़रक्सीज़) के नेतृत्व में भारतीयों ने थर्मापुली के युद्ध में भाग लिया और ईरानियों की पराजय में वे सहभागी बने। वे ईरान के आर्तबानिस के पुत्र फर्नाज़ाप्रेस् की कमान में लड़ चुके थे और ईरान सेनापति मार्दोनियस् की कमान में बियोशिया पर आक्रमण में भाग ले चुके थे। भारतीय कारवां कास्पियन सागर के इर्द-गिर्द और समर्रा के पार अलेप्पो, सिदोन, और तीर तक तथा एक ओर दानूब (डैन्यूब) के किनारे तथा दूसरी ओर कोरिन्थ तक जाते थे। दारा प्रथम ने पंजाब और सिन्ध पर अधिकार करने के तुरंत बाद कर्यन्दा के एशियाई-यूनानी संकर नाविक स्कीलाक्ष (स्काइलाक्स) को सिन्ध में नौका अभियान द्वारा उस नदी के मुहाने मकरान और फारस की खाड़ियों की ओर जा सकने वाले जल-मार्ग की खोज करने के लिए भेजा था।[1] भारतीय सेनाएं गौगामेला के निर्णायक युद्ध में दारा तृतीय की ओर से लड़ी थीं। ईरानी साम्राज्य के टूट जाने से गंधार और पंजाब के प्रान्त उस साम्राज्य से निकल गए थे और वहां विविध भारतीय राजा छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर उनपर स्वतंत्र शासन करने लगे थे। उन्हें अपने आक्रमण के दौरान सिकन्दर ने बाद में जीता।

ईरान ने पश्चिम-पूरब जाने वाले व्यापार-मार्गों को विस्तृत कर और उन्हें अपनी संरक्षा द्वारा सुरक्षित बना भारत के व्यापार को बढ़ाया। इसके अतिरिक्त इस सम्पर्क के प्रभाव अन्यथा भी दूरगामी सिद्ध हुए। इन प्रभावों का सारांश नीचे दिया जा रहा है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने ईरानी सम्राटों की ही भांति विस्तृत साम्राज्य बनाना तो सीखा ही, साथ ही यह सबक भी सीखा कि ऐसे साम्राज्य की शक्ति राजधानी में संकेन्द्रित होनी चाहिए ताकि दूर के प्रांत उसकी परिधि से पृथक् न हो पाएं और उनकी चूलें सन्धियों में ठीक बैठें—कारण यह कि उन्होंने सिकन्दर की कुछ चोटों से ईरानी साम्राज्य को टूटकर बिखर जाते देखा था। फिर भी उन्होंने इसी साम्राज्य की परम्परा के अनुसार अपने साम्राज्य को प्रांतों में विभाजित किया और राजकुल में उत्पन्न अथवा उससे संबंधित राजपुरुष ही यथासम्भव प्रांतों के राज्यपाल नियुक्त किए।

स्पूनर ने आधुनिक पटना के पास के गांव कुमराहार में चन्द्रगुप्त मौर्य का पाटलिपुत्र का राजप्रासाद खोद निकाला है जिसमें ढाई फुट की गोलाई वाले दस-दस फुट ऊंचे स्तम्भ-खण्ड मिले हैं। उनसे स्पष्ट है कि उनकी अखंडित ऊंचाई पर उनकी दो-दो पांतों पर महल की बैठक अथवा सभाशाला की छत टिकी थीं। पर्सिपोलिस में दारा और क्षयार्षा के महलों में भी दस-दस पांतों में सौ स्तम्भ

1. उपाध्याय, भारतीय संस्कृति के स्रोत, पृ० 48

खड़े थे । आश्चर्य नहीं जो मेगस्थनीज़ ने अपनी 'इन्दिका' में चन्द्रगुप्त के महल की सूसा और एकबताना के महलों से तुलना की। फाह्यान के विचार में अशोक के उस महल को दैत्यों ने बनाया था ।[1]

चन्द्रगुप्त ने ईरानी दरबारों की कई रीतियां अपना ली थीं। दरबार में केश धोने की प्रथा इन्हीं में से थी । स्त्राबो लिखता है कि चन्द्रगुप्त अपने जन्मदिवस पर दरबार में अपने केश धुलवाता था—जो सम्भवत: एक प्रकार का प्रति वर्ष दोहराया जाने वाला अभिषेक था और बड़े पर्व के रूप में धूमधाम से मनाया जाता था।

राजकीय पुरालेखों और कला के क्षेत्र में भारत पर ईरान का प्रभाव विशेष महत्त्वपूर्ण था। दायें से बायें लिखी जाने वाली अरमई लेखन शैली, जिसे 'खरोष्ठी' कहते हैं, और अरमई भाषा का सूत्रपात ईरानी लिपिकों ने किया था। उनका उपयोग अशोक ने उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांतों के अपने अभिलेखों में किया। उल्लेखनीय है कि अशोक ने 'दिपि' और 'दिविर', 'लिवि' और 'लिविर' जैसे शब्दों का लेखन और लेखक के अर्थ में तथा लिखने के लिए 'निपिश्त' जैसे प्राचीन फारसी-पह्लवी शब्दों का उपयोग किया। अशोक द्वारा उसके खरोष्ठी शिलालेखों में प्रयुक्त 'दिपि' और 'निपिश्त' दोनों ही शब्द वास्तव में अपने मूल में पहले हखमनी पुरालेखों में प्रयुक्त हुए थे। संस्कृत में इन शब्दों के पहले प्रयोक्ता वैयाकरण पाणिनि थे जो पठान ब्राह्मण और ईरानी नागरिक थे जिनका जन्म सिन्धुनद पर यूसुफज़ई के इलाके में काबुल और सिन्ध नदियों के संगम से प्राय: चार मील पश्चिमोत्तर बसे शलातुर गांव में हुआ था। संस्कृत में तब तक 'लिपि' शब्द का प्रचलन नहीं हुआ था। खरोष्ठी संभवत: तब बनी जब कुरुष ने इस भूभाग पर अधिकार किया। उदारमना सम्राट अशोक ने सांस्कृतिक तथा भाषा, कला आदि के क्षेत्र में स्वदेशी-विदेशी का अन्तर नहीं किया और मुक्तभाव से कल्याणकारी भावनाओं को स्वीकार किया। यही कारण है कि पाली और ब्राह्मी के अतिरिक्त उसके अभिलेख अरमयी और ग्रीक भाषाओं तथा खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपियों में समान रूप से उत्कीर्ण किए गए।[2]

ईरान का प्रभाव कला और वास्तु पर और भी गहरा पड़ा। भारत में स्तूपों का उदय पर्याप्त प्राचीन है, पर प्राय: उतना ही प्राचीन जितना बुद्ध का जन्म-काल। प्राचीनतम स्तूप पिपरहवा (बस्ती ज़िले में) का है जिसमें बुद्ध की धातु (अवशेष) मिली है। स्तूपों का निर्माण भारत में सहसा और आकस्मिक हुआ जिससे उसके विकास के विविध चिह्न उपलब्ध नहीं। इससे अनुमान स्वाभाविक

1. उपाध्याय, भारतीय संस्कृति के स्रोत पृ० 41
2. वही, पृ० 41-42 और पृ० 42-43

होता है कि संभवत: वे विदेशों की देन हैं जो ईरानी माध्यम से प्राप्त हुए। स्तूप अस्थिसंचायक खोखले और घटना स्मारक ठोस दो प्रकार के होते हैं। दोनों प्रकार के वास्तु पश्चिम में दीर्घकाल से उपलब्ध थे, मिस्र में शवसंचायक पिरामिड और ईराक में ठोस जग्गुरत। फ्रेंच विद्वान् जोवो-दुब्रुइल ने मालाबार में चट्टान खोदकर बनाए एक शवाधान को ढूंढ निकाला है जिसकी भीतरी बनावट शव रखने के लिए पिरामिडों के कमरों की भांति है। जग्गुरत एक प्रकार का मंदिर था, पर ठोस, जिसमें मूर्ति नहीं होती थी, बस ऊपर एक कमरा बना होता था और उस तक पहुंचने के लिए बाहर से सीढ़ियां बनी होती थीं। इस प्रकार के बिना कक्षों वाले मंदिरों के लिए सस्कृत में एक शब्द 'जरूक' का उपयोग हुआ है जो स्पष्टत: जग्गुरत का ही अपभ्रंश है। महाभारत में जरूक अथवा जग्गुरत को 'एदुक' कहा गया है। इसकी भविष्यवाणी है कि 'ह्रासोन्मुख कलियुग में लोग अपने देवताओं को छोड़ देंगे, और 'एदुआओं' की पूजा करेंगे और पृथ्वी पर देवालयों के स्थान पर 'एदुका' स्मारक बनेंगे।[1] एदुका तीन मंजिला, बगैर छतवाला मंदिर होता था जिसके शिखर पर शिवलिंग की स्थापना होती थी। जग्गुरत की भी कई मंज़िली इमारत के शिखर पर एक कमरा होता था जिसमें देव-मूर्ति की जगह एक शैय्या होती थी। सांची के महान् स्तूप की 'वेदिका' पर इसी प्रकार के एक अट्ट पर बना अट्ट उभारा गया है जो जग्गुरत के प्राचीरों सा लगता है।[2] यह सब ईरान के प्रभुत्व काल में भारत का पश्चिमी एशिया से संपर्क हो जाने से ही संभव हो सका।

मूर्तिकला के क्षेत्र में यह प्रभाव विशेष महत्त्वपूर्ण है। अशोक से पन्द्रह शताब्दी पहले की सुदूर सिन्धु-सभ्यता की मूर्तियों और पारखम बेसनगर-बड़ौदा-पटना के यक्षों जैसे कुछ भोंडे नमूनों को छोड़कर, जो अशोक से थोड़े ही पहले के हैं—कुछ विद्वानों ने उन्हें अशोककालीन ही माना है—अशोक से पहले की कोई मूर्ति भारत में नहीं मिली। कला के प्रयोग प्रधान और व्यावहारिक प्रक्रिया होने से वह सहसा अपनी पूर्णविकसित अवस्था में प्रस्तुत नहीं हो सकती। उसमें तिल-तिल अभ्यास की अनिवार्य आवश्यकता होती है। अशोक के प्रतीकों-अभिलेखों आदि की सर्वांगपूर्णता, उनकी पालिश का चमत्कार जो उसी से प्रारम्भ होकर उसके बाद ही समाप्त हो जाता है, ऊपर बताई भोंडी यक्ष-मूर्तियों के क्रम में रखकर उन्हीं से विकसित नहीं मानी जा सकती। उनके विकास की मंज़िलें कहीं और खोजनी होंगी जहां उन जैसे वास्तु का निर्माण हुआ हो। वे मंज़िलें पश्चिम के उन स्तंभों द्वारा तय हुई थीं जिनकी कला की परिणति ईरानी सम्राटों के अपादान-पर्सिपोलिस के स्तम्भों में हुई जिनकी पालिश तो स्तुत्य है ही, जिन्होंने

1. उपाध्याय भारतीय संस्कृति के स्रोत, पृ० 44
2. वही, पृ० 44

अपने शिखर पर वृषभ आदि पशु-मूर्तियों की भी प्रतिष्ठा की थी और जो अशोकीय स्तम्भों के शीर्ष रूप में भी विद्यमान हैं। अशोक से पहले भारत में स्तंभ बनते ही नहीं थे। जिसने ईरानी सम्राट के अभिलेखों से 'लिपि' आदि शब्द लिए, उनकी देखा-देखी लम्बे अभिलेख लिखवाए, उन अभिलेखों की इमारतों का आरम्भ ईरानी अभिलेखों की ही भांति किया, ईरानी भाषा और लिपि अरमई-खरोष्ठी में सीमाप्रांत के अपने अभिलेख खुदवाए, उसी अशोक ने यदि अपने पड़ोसी ईरानी सम्राटों से, जो उससे कुछ ही पहले उस सीमाप्रांत के स्वामी थे और केवल सौ वर्ष पहले तक धातु को लज्जित कर देनेवाली पालिश के साथ अपने पाषाण-स्तंभ बनवाते रहे थे, वास्तुकला सीखी हो तो इसमें आश्चर्य क्या है ?

एक और महत्त्वपूर्ण शक्ति जिससे भारतीय चिन्तन और धार्मिक विचार-धारा गहन रूप से प्रभावित हुई, वह थी मागी नामक प्राचीन फारस के पुरोहितों का उदय। ईरान में जरथुस्त्र के उदय से पहले और अरस्तू के बाद भी इनका बोलबाला बना रहा। इनमें से उच्चवर्ग के 'विवेक शिरोमणि' मीदी सम्राटों के सलाहकार होते थे और अपनी सत्ता का उपयोग करते थे। उनके निम्नतर वर्ग के लोग नक्षत्रों के जानकार थे और भविष्यवक्ता होने का दावा करते थे। आगे इन्हीं दिव्य मागियों (माजी) के आधार पर अंग्रेजी में जादू के लिए 'मैजिक' शब्द बना। उनको बाइबिल की ईसाई पुराकथाओं में भी महत्त्व मिला जिनमें बताया गया है कि नक्षत्रों में 'विवेकशिरोमणि' मागियों को बेथेलहेम की ओर भेजा गया ताकि वे नवजात ईसा की आराधना करें। आज महान् कलाकारों द्वारा चित्रित अनगिनत चित्र सुलभ हैं जिनका शीर्षक है 'मागी की आराधना।' मागी या मग लोगों ने भारतीय संस्कृति में अपनी सूर्य-पूजा जोड़ी—अग्नि पूजा तो ऋग्वैदिक आर्यों और प्राचीन ईरानियों तथा पश्चात्कालीन पारसियों में समान रही थी—मुख्यत: ईसा के तुरन्त पहले और बाद की सदियों में उत्तर-पश्चिमी भारत पर पार्थव या पह्लव राजाओं के शासन काल में। सूर्यमूर्ति की प्रतिष्ठा के विशेष पुरोहित होने के कारण उन्हें निमंत्रित किया गया और उनको ब्राह्मण माना गया था। 550 ई० की एक नेपाली हस्तलिपि में उन्हें ब्राह्मणों के बराबर बताया गया है और भविष्य पुराण में कहा गया है कि जब सूर्य-पूजा की विधि के अज्ञान के कारण या विदेशी उपासना-विधि के प्रति अपनी उदासीनता के कारण स्थानीय ब्राह्मणों ने चन्द्रभागा (चेनाब) के तट पर निर्मित सूर्य मंदिर के उद्-घाटन में पुरोहित बनने से इनकार कर दिया तो मग पुरोहितों को बुलाया गया जो इस प्रदेश में ब्राह्मण बनकर बस गए और 'शकद्वीपीय' कहलाए। वराहमिहिर ने—जिसका नाम ईरानी था और जो संभवत: स्वयं मग या शकद्वीपीय ब्राह्मण था—मग लोगों को सूर्य देवता का विशेष पुजारी कहा है और सूर्यमूर्ति के लिए

'उदीच्यवेश' (ईरानी रूप में) निर्धारित किया है। उदीच्यवेश में जूते घुटने तक ऊंचे होते थे, मेखला का एक सिरा नीचे तक लटका होता था और धड़ एक लम्बे कुरते और कढ़ाईदार चोगे से ढका होता था, नीचे सलवार, और सिर पर ईरानी पगड़ी या तिकोनी टोपी होती थी। यही पोशाक पह्लव, शक और कुषाण राजाओं तथा उनके दरबारियों की हुआ करती थी। वे लोग सिल्क की एक कढ़ाईदार चादर का भी इस्तेमाल करते थे जो 'इस्तब्रक' कहलाती थी। सस्सानी बादशाह भी उसका उपयोग करते थे और बाद में वह भारतीय राजाओं का भी प्रिय परिधान बन गया था। बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में उसे 'स्तवरक' कहा है और बताया है कि उसके छोरों पर मोती जड़े होते थे। अग्निपूजक पारसी भी इस देश में सस्सानी शासनकाल का अन्त होते ही इस्लामी उत्पीड़न से बचने के लिए चले आए। सर जान मार्शल ने तक्षशिला में एक अग्नि-मंदिर खोद निकाला था और अरिस्तोबोलस् तथा वेई-शू (572 ई०) दोनों ने वहां शिकारी चिड़ियों के सामने शवों का फेंका जाना स्वयं देखा था। वराहमिहिर के जन्म से बहुत पहले तियाना के अपोलोनियस् (42 ई०) ने तक्षशिला के सूर्यमंदिर का वर्णन किया था।[1]

यद्यपि शकों ने सदियों अपने प्रशासित क्षेत्रों पर स्वतन्त्रतापूर्वक राज किया, फिर भी फारस के सम्राटों की अपनी पिछली अधीनता का स्मरण कर वे अपने को क्षत्रप कहने लगे। 'क्षत्रप' पह्लवी शब्द है जिसका अर्थ है फौजी या गैरफौजी राज्यपाल। कुषाण राजा, जो अपने युग की भारतीय कला के कुशल निर्माता और मूर्तिकला में भारतीययूनानी शैली के अदम्य प्रसारक थे, अपने को 'शाहिशाहानुशाहि' कहते थे। स्वयं कनिष्क ने अपनी मुद्राओं पर 'शाओनानी शाओ' (शहंशाह) की उपाधि का प्रयोग किया। समुद्रगुप्त ने इलाहाबाद के अपने स्तंभलेख में कुषाण (शकों) राजाओं के लिए 'शाहिशाहानुशाहि' शब्द का उपयोग किया है। वह मुद्राओं पर अंकित 'शाओनानी शाओ' की अनुकृति है जो वस्तुतः दारा के अभिलेख में प्रयुक्त मूल 'क्षयाथियानाम् क्षयाथिया' का ही कुषाण रूपान्तर है। तक्षशिला के शक राजा मोय (77 ई०पू०) ने, जो अपने लिए 'मिथ्रिदातिज़' (राजाओं के महान् राजा) की उपाधि का उपयोग करता था, अपनी मुद्रा में एक ओर यूनानी भाषा में 'बासिलियस बासिलियोन' अंकित कराया तो दूसरी ओर प्राकृत में 'महाराजस राजराजस', जो उपरोक्त हखमनी मूल का ही सीधा अनुवाद था। बाद में 'महाराज', 'महाराजाधिराज', और 'राजाधिराज' जैसी उपाधियां भारतीय शासकों द्वारा सामान्य उपयोग में आने लगीं। फारस की सिगलोई मुद्राएं, जिन पर उनके राजाओं की दाढ़ियां और ताज विशेष

1. उपाध्याय, भारतीय सस्कृति के स्रोत, पृ० 47-48.

रूपों में परिलक्षित होते हैं, पह्लवों के भारतीय प्रदेशों में प्रचलित थीं। इन चांदी के सिक्कों का प्रारंभिक भारतीय सिक्कों पर गहरा प्रभाव पड़ा। यह महत्त्व की बात है कि भारतीय 'कार्षापण' सिक्कों की फारसी शब्द 'कर्ष' से बड़ी समानता है जिससे सम्भवत: वह शब्द बना था। फारसी में कर्ष का अर्थ है चांदी और तांबे की एक तौल। इसी शब्द को मिस्र में छठी सदी ई० पू० के ईरानी उपनिवेशों में मुद्रा के लिए इस्तेमाल किया गया था। सर्वविदित है कि कुषाण राजा कनिष्क ने अपने सिक्कों पर फारस के देवी-देवताओं के नामों का उल्लेख किया था, जैसे मीइरो (सूर्य), माओ (चन्द्र), अश्शो (आतिश अग्नि), ओअदो (वायु), ओथग्नो (वेरेथ्रध्न), फार्रो (गौरव) और नना जो क्रमश: मिथ्र, माह, अतश्, वात, वृत्रहन्, ह्वरेना और अनाहिता हैं।

ईरानी ज्योतिषकृति 'ताजिकी' का फारसी से संस्कृत में अनुवाद और भारत में उसका प्रचलन वास्तव में एक लम्बी कहानी है जिससे वास्तुकला के क्षेत्र में, छेनी के कौशल तथा चित्रकला में रंगों और रेखाओं के सूक्ष्म अंकनों जैसे नवोन्मेषों का (जिन्होंने भारत की मध्ययुगीन चित्रकला को गौरव दिया) बड़ा सम्बन्ध है। संगीत की अनेक राग-रागिनियां वहां से आईं और स्वर साधन के लिए अनेक वाद्ययन्त्र फारस से आए। जैसे-जैसे सदियां बीतती गईं भारतीय खाद्यसूची—विशेषत: मिठाइयों (बर्फी, बालूशाही, अकबरी, कलाकन्द)—लेबास, बजाज़े, दर्ज़ीगिरी आदि से सम्बन्धित शब्दों का भंडार भारतीय शब्दकोश में आया। इससे भारतीय जीवन समृद्ध हुआ और उसमें क्रांति हो गई।[1]

स्वयं भारत ने भी फारस पर अनेक रूपों में अपना प्रभाव डाला। फारसी परम्परा के अनुसार सस्सानी राजा शापूर प्रथम (241-272 ई०) ने धार्मिक ग्रंथों की सूची में धर्मेतर भारतीय चिकित्सा, ज्योतिष और दर्शन के ग्रंथों को भी शामिल कराया।[2] कहते हैं कि उसकी राजसभा में एक भारतीय वैद्य भी था—जो स्थायी रूप से राजधानी सूसा में ही निवास करता था। उसने वहां चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा भी दी और उसकी मृत्यु के बाद सारे ईरान में उसके शिष्यों ने ही चिकित्सा का कार्य सम्भाला।[3]

---

1. उपाध्याय, भारतीय संस्कृति के स्रोत, पृ० 47-49
2. कैम्ब्रिज एंशेन्ट हिस्ट्री, 12, पृ० 112
3. प्रोसीडिंग्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 5, पृ 248

अध्याय-1

भारत और यूनान (ग्रीस)

यूनान अथवा ग्रीस की सभ्यता के दो स्वतन्त्र युग हैं, जिनकी सभ्यता-संस्कृति अलग-अलग थीं, दोनों के निर्माताओं की नस्लें भिन्न थीं। जिन ग्रीकों की गाथा अन्ध कवि होमर ने लगभग 900 ई० पू० में गायी, वे हिन्दू-यूरोपीय (इण्डो-यूरोपियन) कबीलों के आर्य थे। इनके दो बहुसंख्यक कबीले 'एकियन' और 'दोरियन' एक के बाद एक ग्रीस पहुंचे और उन्होंने वहां पहले से बसे आर्येतर निवासियों को उनकी संस्कृति के साथ उखाड़ फेंका। जिस त्रोजन-युद्ध का वर्णन होमर ने अपने अमर महाकाव्य 'इलियद' में किया है, जिस प्रियम के नगर त्रोय का एकियनों ने विध्वंस किया था, और जिसे फ्रीड्रिख श्लीमान ने लघु एशिया के हिसारलिक (तुर्की) में खोज निकाला उसका मूल केन्द्र क्रीत का द्वीप रहा था। वहां का महल—प्रसिद्ध भूलभुलैयां —सर आर्थर जिसे ईवान्स ने खोद कर सुरक्षित कर दिया है—वनोसस में आज भी खड़ा है। उस सभ्यता का निर्माण करने वाले कौन थे, यह कह सकना कठिन है सिवा इसके कि वे आर्य नहीं थे। सम्भवत: वे मिस्री नस्ल के थे, या किसी और गेहुएं रंग की नस्ल के, जिनकी सभ्यता क्रीत के द्वीप से ग्रीस के नगरों में पहुंची, मिकोनी, स्पार्ता आदि में, फिर सागर पार त्रोय में। त्रोय नगर उनका सबसे दूर का एशियाई प्रहरी था, सबसे समुन्नत और समृद्ध। उस सभ्यता को क्रीती, मिनोई, मिकीनी, प्रागैतिहासिक ग्रीक अनेक नाम दिए गए हैं। एकियन ग्रीकों ने लगभग चौदहवीं सदी में उनका ही नाश किया था और प्राय: दो सदियों के बाद ग्रीस पहुंचने वाले दूसरे आर्य दोरियाई ग्रीक कबीलों ने बारहवीं सदी ई० पू० के लगभग उनके बचे-खुचे चिह्न भी मिटा दिए। प्रागैतिहासिक काल की वह पहली ग्रीक सभ्यता थी।

दूसरी सभ्यता आर्य ग्रीकों की थी जिसके आरम्भ में पिंदार, हीसियद आदि कवियों ने अपने काव्यों की रचना की, जब कवियित्री साफो ने सातवीं सदी ई० पू० में अपनी भावमयी प्रणयसिक्त रचनाओं से अपने श्रोताओं को मुग्ध कर दिया और जो एशिया और यूरोप को अलग करने वाले सागर के बीच के द्वीप लेस्बास से ग्रीस के नगरों में आई थी। इसी युग के अन्त में ग्रीस के नगर परस्पर मरणांतक युद्ध में गुंथ गए जिसके अन्त में ग्रीस पर ईरानियों के आक्रमण हुए। एथेंस का तब प्राय: अन्त हो गया, उसे अग्नि को समर्पित कर दिया गया था। पर ईरानियों को

पराजित कर ग्रीक फिर उन्नति के शिखर पर चढ़ा और एथेन्स उस वैभव का धनी हुआ, जिसके लिए ग्रीस प्रसिद्ध है। यही 'क्लासिकल' ग्रीस था जिसके नगर-राज्यों की महिमा अमर हुई और जिसकी बौद्धिक-राजनीतिक सत्ता का निर्माण पेरिक्लीज़, सुकरात, अफलातून और अरस्तू ने किया। दोनों युगों के अन्तराल में जब ग्रीस पर ईरानी हमले हुए तभी भारतीय पहली बार ग्रीस के सम्पर्क में आए। ग्रीकों की पहली प्रागैतिहासिक सभ्यता की जानकारी भारतीयों को न थी। कम से कम जैसे सम्पर्कों के प्रमाण सुमेर-बाबुल के नगरों के साथ सिन्धु घाटी की सभ्यता के वहां मिलते हैं उनका इस प्रसंग में सर्वथा अभाव है। भारत और यूनान अथवा ग्रीस, (जिसके निवासियों को—उसके पूर्वी, अधिकतर एशियाई भाग को—दारा के अभिलेख और बाइबिल के 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' में 'यवन' कहा गया है और जिस नाम से भारतीयों ने भी उन्हें जाना) का सम्बन्ध ईरानी साम्राज्य में स्थित होने के कारण भारतीय सेनाओं के माध्यम से ग्रीस पर इन ईरानी हमलों के समय ही हुआ।

क्षयार्षा (ज़रक्सीज़—ईरानी सम्राट्—पांचवीं सदी ई० पू०) के नेतृत्व में भारतीय सेनाओं ने थर्मापुली के युद्ध में भाग लिया था और ईरानियों की पराजय में वे सहभागी बनी थीं। यूनानी भारतीयों के सूती वस्त्रों और बेंत के लोहे की नोक वाले लम्बे तीरों को देखकर चकित हुए थे और उन्हें उन्होंने सराहा था। भारत से ग्रीकों का दूसरा सीधा सम्बन्ध चौथी सदी ईस्वी पूर्व में सिकन्दर के भारत पर आक्रमण के समय हुआ। उससे पहले के एक दार्शनिक सम्बन्ध का भी पता चलता है। बताया जाता है कि एक भारतीय दार्शनिक ने एथेंस में सुकरात से उसकी मृत्यु के पहले 400-399 ई० पू० में भेंट की थी और उससे लौकिक-पारलौकिक समस्याओं की चर्चा की थी। यह प्रसंग निःसन्देह प्रामाणिक है क्योंकि ग्रीक ग्रंथों में 400 ई० पू० से पहले ही भारत का उल्लेख होने लगा था। ईरानी दरबार में रहने वाले ग्रीक राजदूत हेरोदोतस् (जन्म 484 ई०पू०) ने भारत के विषय में पांचवीं सदी ई० पू० में सविस्तार लिखा था। उसे स्वयं सिकन्दर ने पढ़ा था और एथेंस विध्वंस सम्बन्धी ईरानी आक्रमण का बदला लेने की प्रेरणा जो हेरोदोतस् ने अपने ग्रन्थ में दी थी, उससे ही (साथ ही अपनी रखैल थेईस् से) प्रभावित होकर उसने अपनी विजय के बाद ईरानियों की राजधानी पर्सिपोलिस को भस्मसात कर दिया था। इसी प्रकार ईरानी दरबार में वैद्य के रूप में रहने वाले क्तेसियस् ने भी अपने ग्रंथ में भारत का विशद वर्णन किया। वह ईरानी दरबार में दीर्घकाल तक, प्रायः बीस वर्ष (418-398 ई० पू०), रहा था। उसका ग्रंथ तो अप्राप्य है पर उसके अंश अन्य ग्रीक लेखकों ने उद्धरणों द्वारा बचा रखे हैं। जिनमें भारत के सम्बन्ध में चमत्कारी वर्णन संकलित हैं। निःसंदेह इसकी सामग्री का अधिकांश निरी गप्प भी हो सकती है। चौथी सदी ईस्वी पूर्व के भारतीय मध्य

देश का आंखों देखा, सभी वर्णनों से सच्चा और अकाट्य वर्णन मेगस्थनीज़ ने अपनी पुस्तक 'इन्दिका' में किया। उसका यह ग्रंथ तो कालकवलित हो गया पर उसके विस्तृत अवतरण अन्य ग्रीक ग्रन्थों में आज भी उपलब्ध हैं। मेगस्थनीज़ सीरिया के राजा, पहले सिकन्दर के जनरल, सेल्यूकस का दूत, चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में वर्षों पाटलिपुत्र में रहा था।

सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण कर सिन्ध और व्यास तक का सारा पंजाब जीत लिया था। सुकरात के प्रशिष्य अरस्तू ने, जो उस मकदुनियायी विजेता का पहले गुरु रहा था, सिकन्दर को अपने साथ कुछ दार्शनिक ले जाने की सलाह दी थी ताकि वे लौट कर भारतीय दर्शन-पद्धति से यूनानी विद्वत्समाज को परिचित करा सकें। उस विजेता के साथ अनेक दार्शनिक भारत आए थे और पहली सदी ई० का ग्रीक लेखक प्लूतार्क सिकन्दर के जीवनचरित में लिखता है कि जब सिकन्दर को उन दस दार्शनिक ऋषियों पर इसलिए क्रोध आया कि उन्होंने सिन्ध के मुषिकों को उसके विरुद्ध विद्रोह करने के लिए भड़काया था और उनके वध का उसने आदेश दिया था तब उसके साथ आए दार्शनिकों ने उसे रोका और समझा-बुझा कर उनसे प्रश्न पूछने के लिए राज़ी किया। वे प्रश्न और उनके उत्तर असाधारण रूप से दिलचस्प हैं। उनके कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—सिकन्दर ने पूछा कि पहले दिन बनाया गया या रात? उत्तर मिला, "पहले दिन बनाया गया, रात से एक दिन पहले।" जब चकित सिकन्दर ने उत्तर की व्याख्या करने को कहा तब ऋषि बोला, "असाध्य प्रश्न के उत्तर भी असाध्य ही होंगे।" इसके बाद विजेता ने एक तीखा सवाल दूसरे ऋषि से पूछा, "जानवरों में सबसे बुद्धिमान कौन है?" और प्रश्न से भी कहीं तीखा उत्तर प्रश्नकर्त्ता का उपहास कर उठा, "निःसन्देह वह जानवर जो अपने को मनुष्य की नज़र से बचा रखता है।" इन ग्रीक दार्शनिकों में से एक स्वयं अरस्तू का भतीजा था जिसका सिकन्दर ने कारणवश वध कर दिया।

पीरो नामक दार्शनिक सिकन्दर के बाद भारत आया। उसकी मृत्यु 275 ई० पू० हुई। इस वर्ष से पहले ही वह इस देश के विषय में लिख चुका था। दियोजिनीज़ (टब के प्रसिद्ध दार्शनिक दियोजिनीज़ से भिन्न) लिखता है कि पीरो उस भारतीय दार्शनिक से बहुत प्रभावित हुआ था जिसने ग्रीक दार्शनिक अनेकसारखोस की भर्त्सना इन शब्दों में की—"दूसरों को सद्गुण सिखाने का तुम्हारा प्रयत्न कोरा दम्भ है और यह तब तक कोरा दम्भ बना रहेगा जब तक तुम राजाओं और उनके महलों की शरण जाते रहोगे।"

सिकन्दर को सलाह दी गई थी कि वह दो भारतीय सम्मानित तर्कशास्त्रियों (जिम्नो सोफिस्तों) से भेंट करे जिनके नाम कलानोस और दन्दामिस थे। उसने उन्हें दूत भेजकर बुलवाया पर उन्होंने आने से इनकार कर दिया। तब ओनसिक्री-

तोस नामक यूनानी दार्शनिक को, जिसने एथेन्स में दियोजिनीज़ की परम्परा के सीनिक दार्शनिक के रूप में नाम कमा लिया था, सिकन्दर ने उन दार्शनिकों को लाने के लिए भेजा। कलानोस ने यूनानी दार्शनिक से कपड़े उतार कर बातचीत करने के लिए कहा और जब दार्शनिक ने उसके आदेश का पालन कर लिया तब कलानोस ने उससे बातचीत की और बहुत समझाने-बुझाने के बाद वह सिकन्दर से मिलने को राज़ी हुआ। सिकन्दर उसकी निर्भीक स्वतन्त्रवृत्ति से बहुत प्रभावित हुआ, हालांकि उसने इतनी बड़ी सेना लेकर इधर-उधर भटकते फिरने और लोगों का सुख-चैन बिगाड़ने के लिए सिकन्दर की भर्त्सना की। उसने चमड़े का एक रूखा टुकड़ा—जो सम्भवत: उसकी मृगछाला थी—धरती पर फेंककर दिखाया कि जब तक कोई चीज़ केन्द्र पर स्थित नहीं तब तक उसके सिरे ऊपर-नीचे होते रहेंगे और कि यही उसके साम्राज्य का परिणाम होगा, जिसके सीमान्त सदा स्वतन्त्र हो जाने के लिए सिर उठाते रहेंगे। उसने कहा, "अन्तत: अपनी मृत्यु के बाद तुम्हें केवल उतनी ही धरती की आवश्यकता होगी जितनी तुम्हारे शरीर की लम्बाई है!" अपनी इच्छा के विपरीत वह सिकन्दर के साथ ईरान गया पर वहां उसने अग्नि में प्रवेश कर समाधि ले ली। दन्दामिस को अपनी मातृभूमि को छोड़ने के लिए सहमत नहीं किया जा सका।[1]

सिकन्दर के बाद भारत और पश्चिमी एशिया, मिस्र तथा पूर्वी यूरोप पर राज करने वाले यूनानियों के सम्पर्क का अकाट्य और पुरालेखबद्ध प्रमाण अशोक के शिलालेखों में मिलता है। उनमें से एक में समकालीन पांच यूनानी (यवन) राजाओं का उल्लेख हुआ है जिनके राज्यों में उसने 'धम्म' का प्रचार कराया। एक दूसरे शिलालेख में लिखा है कि उसने यवन राज्यों में मनुष्यों और पशुओं दोनों के लिए चिकित्सा का प्रबन्ध किया और औषधि वाले पौधों और जड़ी-बूटियों को वहां रोपवाया। जिन यूनानी राजाओं और राज्यों की अशोक के शिलालेखों में चर्चा है उनके नाम हैं : अंतियोग, (अंतियोखस् द्वितीय थियोस, सीरिया का, 260-246 ई० पू०), तुलमाय (तुरमाय, प्तोलेमी द्वितीय फ़िलादेल्फस्, मिस्र का, 285-246 ई० पू०), मक (मगस, साइरीन का, 300-258 ई० पू०), अंतेकिन, (अंतिगोनस् गोनातस्, मकदुनिया का, 278-238 ई० पू०) और अलिकसुदरो (सिकन्दर, अलेक्ज़ैन्दर, एपिरस का, 278-258 ई० पू०) इनमें से प्तोलेमी तोलेमी ने अपने राजदूत दियोनीसियस् को मौर्य दरबार में भेजा था। राजदौत्य स्तर पर सम्पर्क अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त (जिसने एक ग्रीक राजकुमारी से विवाह भी किया था) के शासन काल में प्रारम्भ हो चुके थे, जब उसके भूतपूर्व शत्रु सीरियक ग्रीक राजा सेल्यूकस ने (जिससे चन्द्रगुप्त ने चार प्रांत जीत लिए

1. उपाध्याय, भारतीय संस्कृति के स्रोत, पृ० 53-54

थे), मेगस्थनीज़ को अपना राजदूत बना कर भेजा था। अशोक के पिता बिन्दुसार ने भी सीरिया से भेजे गए देइमाखस् का राजदूत के रूप में स्वागत कर उन सम्पर्कों का नवीकरण किया। प्तोलेमी द्वितीय फिलोदेल्फस् के विषय में प्रसिद्ध है कि उसने 271-270 ई० पू० में सिकन्दरिया में विजय के एक जुलूस में भारतीय नारियों, वृषभों और संगमरमर के नमूनों का प्रदर्शन किया था। एक दूसरे जुलूस में भारतीय स्त्रियों, शिकारी कुत्तों, गायों और ऊंटों पर लदे गरम मसालों का प्रदर्शन किया गया था। इसी प्रकार अंतियोखस् चतुर्थ ने 166 ई० पू० के लगभग दाफने नगर में एक विजय समारोह के जुलूस में भारतीय हाथियों के 800 दांतों का प्रदर्शन किया। भारतीय गरम मसाले प्राप्त करना गर्व की बात बन चुकी थी।उसी सदी में सेल्यूकस के एक वंशज ने जब भारतीय राजा द्वारा शासित अफगानिस्तान पर, अपने पूर्वज द्वारा हारे प्रांतों पर पुनरधिकार करने के लिए, आक्रमण किए, तब हास्यास्पद होकर उसे वापस लौटना पड़ा। मेंफिस(मिस्र) में भारतीय व्यापारियों की एक बस्ती थी। वे समुद्र की यात्रा करके वहां जाते, ठहरते और अपना माल बेचकर वापस लौटते थे। उन प्रदर्शिनियों और व्यावसायिक वस्तुओं के विषय में 'पोलीबियस', और 'पेरिप्लस' ने काफी लिखा है। 'पेरिप्लस' का लेखक अज्ञात नाम मिस्री ग्रीक था जिसने पहली सदी ईस्वी पूर्व में अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'इरिथ्रियन सागर का पेरिप्लस' लिखा।

महाभारत, मनुस्मृति और पतंजलि तीनों यूनानियों (यवनों) से परिचित हैं। महाभारत का उल्लेख है कि भगदत्त नामक एक यवन राजा हाथी पर सवार होकर पाण्डवों की ओर से लड़ा। निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है कि यवन शब्द से यहां तात्पर्य ग्रीकों से है या किसी ईरानी कबीले से। 'बृहत्कथा', 'पंचतंत्र' और 'कथासरित्सागर' में यवनों को धूर्त पर यन्त्र निर्माण में निपुण बताया गया है। एक कथा में यवन (यूनानी) द्वारा बनाए यान में उड़ने की चर्चा है। बुद्धस्वामी ने यूनानियों को कुशल दस्तकार बताया है और यूनानी शैयाओं के उपयोग का प्रमाण दिया है। ये दस्तकार मुख्यत: गंधार—सिंध नदी के दोनों तटवर्ती प्रदेशों—से आते थे जहां यूनानी और यूरेशियाई लोगों की बस्तियां बस गई थीं और सदियों बसी रही थीं।

संस्कृत नाटकों में यवनियों की चर्चा है जो भारतीय राजाओं के शस्त्रास्त्र की संभाल करती थीं। इसका प्रमाण भास से कालिदास तक के नाटकों में मिलता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजा को सलाह दी गई है कि प्रात: शैया छोड़ते समय वह सबसे पहले यवनियों के दर्शन करे। उनका दर्शन शुभ माना जाता था। मेगस्थनीज़ ने 'इन्दिका' में आंखों-देखकर लिखा है कि जब चन्द्रगुप्त मौर्य आखेट के लिए बाहर जाता था तब उसे घेरकर शस्त्रधारिणी यवनियां चलती थीं। मदिरापान के दृश्य मूर्त करने वाली मूर्तियों में फ्राक पहने केशपट्ट से कुन्तल रोके यूनानी

युवतियों का परिचारिका रूप में आसव से चषक भरना इतना सुविदित है कि उसका उल्लेख अनावश्यक है। मिनान्दर (साकल का ग्रीक राजा) के प्रश्नों का संग्रह 'मिलिन्दपन्हो' में, जो अफलातून (प्लेटो) की कृति 'रिपब्लिक' और 'दायोलाग' की शैली में प्रस्तुत किया था, और जिसमें उस यूनानी राजा की राजधानी साकल का चित्रण हुआ है, उन यूनानी मार्गों का स्मरण कराता है जो एक-दूसरे के तर्कों के चिथड़े उड़ा देने वाले दार्शनिकों के कथोपकथनों से गूंजते रहते थे। उस कृति में लिखा है कि साकल (स्यालकोट) के मार्ग प्रत्येक मत के गुरुओं के स्वागत-स्वरों से गूंजा करते हैं, और नगर प्रत्येक संप्रदाय के प्रमुख विद्वानों का केन्द्र है। शताब्दियों तक सिंध, गंधार, पंजाब, अफगानिस्तान और वंक्षुनद की तटवर्ती भूमि (बैक्ट्रिया, बल्ख) पर शासन करने वाले यूनानी राजाओं की राजधानियों और नगरों के अस्तित्व से यह स्वाभाविक था कि भारतीय समाज पर उनका प्रभाव पर्याप्त गहरा और सर्वांगरूप से पड़े। वे यूनानी, जिन्हें असूरी (असुर, असूरियाई) यवनाई द्वारा 'योना', बाइबिल 'यौन' कहते थे, कोई ज्ञान-शून्य लोग न थे, वल्कि आमोद-प्रमोद का जीवन बिताने वाले ऐसे प्रवासी थे जो अपने चुने देश में अपने मूल देश के खेल (ओलिंपिक आदि) खेलते थे, अपने नाटकों का मंचन करते थे, अपने होमर की कृतियों का पाठ करते थे, अपनी तंत्री बजाते थे और नाचते-गाते थे। आगे हम उनके कार्यों की चर्चा करेंगे जिनका भारतीयों पर प्रचुर प्रभाव पड़ा और जिस प्रभाव को भारतीयों ने बिना शर्त अथवा पूर्वाग्रह के स्वीकार कर अपनी संस्कृति में आत्मसात कर लिया। इस दौरान अन्य प्रभावों के अतिरिक्त उन्होंने उस ग्रीक शैली का भारतीय कला में विकास किया जो गंधार शैली के नाम से विख्यात है और जिसका कालगत प्रसार पहली सदी से पांचवीं सदी तक है। उस विधा की मूर्तियों से सारे पश्चिमी पंजाब, अफगानिस्तान और मध्य एशिया के नगर भर गए थे।

यूनानियों ने लगभग दो घटनापूर्ण शताब्दियों तक पंजाब, सिंध और अफगानिस्तान पर राज किया। जिन दस ग्रीक शासकों ने बैक्ट्रिया पर हुकूमत की, उनमें से सबसे पहले देमित्रियस् (180-165 ई० पू०) ने भारत पर हमले किए और इस भूमि पर यूनानी राजवंश का शासन स्थापित किया। यूनानी लेखकों ने उसे 'रेक्स इन्दोरेम', भारतीयों का राजा, कहा है। वह शुंगराज पुष्यमित्र का समकालीन था। पतंजलि के 'महाभाष्य' और गार्गी संहिता के 'युगपुराण' दोनों में यूनानी आक्रमण का उल्लेख हुआ है। देमित्रियस् ने अपने पिता और अपने नाम पर युथिदेमिया और दत्तामित्री दो ग्रीक नगर बसाए। वह पहला ग्रीक राजा था जिसने अपनी मुद्राओं पर दो भाषाओं—ग्रीक और खरोष्ठी—में लेख लिखवाए। इस प्रकार दो-भाषाई मुद्राएं चलाने वाला दूसरा हिन्दू-ग्रीक राजा

अगाथोक्लीज़ था।[1]

इस प्रकार सिक्के ढालने की कला के क्षेत्र में भारत पर गहरा यूनानी प्रभाव पड़ा। उन सिक्कों से पहले भारत में केवल आहत सिक्के चलते थे। यूनानी सिक्के का नाम 'द्रख्म' था जिससे पहले 'द्रम्म' फिर मूल्य के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला शब्द 'दाम' बना। सन्त क्रिसोस्तोम (117 ई०) ने जो लिखा है कि 'भारतीय होमर के काव्य को गाते हैं, जिनके उन्होंने अपनी भाषा में अनुवाद कर लिए हैं। उसकी अन्य ग्रीक लेखकों प्लूतार्क और ईलियन ने पुष्टि की है। यह यदि सत्य न भी हो और 'इलियद' तथा 'रामायण' के सार तत्व में समानताएं सतही भी हों तब भी यह सही है कि दोनों भाषाओं की परस्पर अवश्य प्रतिक्रिया हुई होगी और उनके शिल्प तथा वस्तुतत्व को दोनों ने एक-दूसरे को काफी गहराई से प्रभावित किया होगा। उन भारतीय कथाओं के अतिरिक्त जिनमें यवनों के कौशल का वर्णन हुआ है ('जनक-जातक' जैसी जातक कथाओं में दु:साहसिक अभियानों की कहानियों और 'महावंश' में जैसी समानताएं मिलती हैं) उनको आकस्मिक कहकर टाला नहीं जा सकता। 'महावंश' में विजय के जलप्लावन और बाद में उसका सिंहल द्वीप में यक्षी द्वारा स्वागत किए जाने की कथा से उलिसिज़ की उन दु:साहसिक जलयात्राओं की समानता स्पष्ट दिखाई देती है जिनका होमर ने 'ओदिसी' में वर्णन किया है। सूर्य की ओर उड़कर अपने पंख जला लेने वाले सम्पाती की कथा इकेरस की उड़ान की कथा से इतनी मिलती है कि उसकी समानता को आसानी से नज़रन्दाज़ नहीं किया जा सकता। यह प्रभाव गहराई तक पड़ा, इसके लिए गहरे अध्ययन की आवश्यकता है। परन्तु ऐसे अनेक यूनानी शब्द हैं जो भारतीय शब्दावली में प्रवेश कर गए, जो मात्र आकस्मिक नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए 'यवनिका' शब्द को ही ले लें। इसका अर्थ चाहे मात्र यूनानी कपड़े से बना परदा हो, चाहे रंगमंच के पटाक्षेप से संबंधित हो, यह मानना पड़ेगा कि इसका संबंध यूनान अथवा यवनों से निश्चय ही था। भास के नाटक 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' में सैनिकों को छिपाने के लिए लकड़ी के कपटगज की घटना की होमर के त्रोजन अश्व की घटना से इतनी समानता है कि त्रोजन अश्व की परिकल्पना को काष्ठगज की जननी मानना अनिवार्य होगा। यूनानी रंगमंच के प्रहसनों का 'मृच्छकटिक' के क्रान्तिकारी हास्य-विनोद से भी सम्बन्ध था जिसको तीसरी सदी ईस्वी में नाटककार शूद्रक ने, जो यूनानियों की तरह निम्न जाति का था, एक ऐसे काल में लिखा था जब भारत में यूनानी रंगमंच का सर्वथा लोप नहीं हो गया था। लेखन, ज्योतिष आदि सैकड़ों यूनानी शब्दों का उपयोग संस्कृत में हुआ है—पोलिस, रोमक आदि सिद्धांत, राशिचक्र, लग्नों

---

1. उपाध्याय, भारतीय संस्कृति के स्रोत, पृ० 56-57

के नाम, जन्मपत्र-होड़ाचक्र—जिनका उल्लेख यहां स्थानाभाव से नहीं किया जा सकता ।[1]

भारतीय कथाओं, आर्युविज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में भी यूनानी संपर्क ने असाधारण चमत्कार उत्पन्न किया है। जातककथाओं, विशेषकर पंचतंत्र की अनेक कहानियों, का भावतत्व ग्रीक ईसप कथाओं से इतना मिलता है कि उनके परस्पर प्रभावित होने की बात बिलकुल काल्पनिक नहीं मानी जा सकती। कथाओं में आदान-प्रदान का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन प्राचीन काल में सार्थवाह सम्बन्ध हुआ करता था। कारवां जब विविध देशों के गांवों में पड़ाव करते थे तब स्थानीय जनसमुदाय का, कारवां के सौदागरों से, विशेषकर संध्या के समय अलाव के चारों ओर बैठकर, घना संपर्क होता था, कथाएं कही और सुनी जाती थीं और इस प्रकार कहानियों का आदान-प्रदान होता था। इसका यद्यपि यह अर्थ नहीं कि स्थानीय कहानियां अपनी इयत्ता न रखती हों या वे केवल संपर्क से ही सीखी जाती रही हों ।[2]

यूनानी और भारतीय आयुर्वेद में भी स्पष्ट समानता है। शरीर के रस, ज्वरों; जोंकों द्वारा रक्तस्राव और चिकित्सक द्वारा गोपनीयता की शपथ लिए जाने के सम्बन्ध में दोनों के विचार समान हैं (इस सम्बन्ध में चरक और हिप्पोक्रातिस की तुलना की जा सकती है)। लेकिन शल्यचिकित्सा में भारत संभवतः आत्मनिर्भर नहीं था। कारण कि जहां ई० पू० तीसरी शताब्दी तक में हिरोफीलस और एरासिस्त्रातस् के सिकन्दरिया स्थित स्कूल में शल्य चिकित्सा होने लगी थी, भारत में शव का स्पर्श वर्ज्य था। सुश्रुत में चीर-फाड़ के साधनों पर केवल दो अध्याय और चीर-फाड़ प्रणाली पर मात्र एक अध्याय है, और चरक में तो इन विषयों पर कोई अध्याय ही नहीं है। शल्य चिकित्सा के विज्ञान में संभवतः भारत यूनान का ऋणी है, इस निष्कर्ष को स्थापित करना कठिन नहीं है। भारत में शरीर को चीर-फाड़कर अध्ययन करने को जिस तरह गर्हित और निषिद्ध माना जाता था, वह वहां इस क्षेत्र के विज्ञान के विकास में निःसंदेह बाधक बन गया होगा। वाग्भट्ट ने इस निषेध पर जोर दिया है। यूनान ने निश्चय ही अनेक जड़ी-बूटियों का प्रयोग—संभवतः कुछ रसों-भस्मों का प्रयोग भी—भारत से सीखा। तीसरी सदी ईस्वी पूर्व में अशोक ने अनेक औषधियों को सम-सामयिक यवन राज्यों में भेजा था और मनुष्य तथा पशु रोगों की चिकित्सा में उपयोगी समझे जाने वाले पेड़-पौधे वहां लगवाए थे ।[3] इसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है।

1. उपाध्याय, भारतीय संस्कृति के स्रोत, पृ० 52-64
2. देखिए इस सम्बन्ध का अध्याय।
3. देखिए परिशिष्ट 'ख'

दर्शन के क्षेत्र में दोनों देशों की चिन्तन विधा में पर्याप्त समानता है जिससे प्रत्येक को दूसरे का ऋणी होने की बात विद्वानों ने कही है। इस सम्बन्ध में कुछ मुख्य तथ्य नीचे प्रस्तुत किए जाते हैं।

रिचर्ड गार्वे ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि भारतीय दर्शन का प्रभाव एक सीमा तक ग्रीक दर्शन पर पड़ा था।[1] सिकन्दरिया के क्लेमेंट ने तो यहां तक कहा है कि ग्रीकों ने अपना दर्शन बर्बरों से चुरा लिया था।[2] सर विलियम जोन्स ने अठारहवीं सदी के अन्तिम चरण में सांख्य और पैथागोरीय (pythagorean) दर्शनों में पहली बार तुलनात्मक अध्ययन कर उनकी परस्पर समानता का सिद्धांत प्रतिपादित किया। उसके परिणामस्वरूप अनेक विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला कि ग्रीक पैथागोरीय दर्शन सांख्य का ऋणी है। निश्चित रूप से यह परिणाम निकालना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता।[3] कुछ आश्चर्य नहीं जो दोनों दर्शनों की मान्यताओं की समता आकस्मिक हो और दोनों ही अपने-अपने निष्कर्षों पर स्वतंत्र रूप से पहुंचे हों। छठी सदी ई० पू० के उत्तरार्ध में पैथागोरस हुआ था और उसी काल में भारत का यूनान से सम्बन्ध होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। वस्तुत: बलपूर्वक कहा जा सकता है कि उस काल तक दोनों का परस्पर सम्बन्ध संभवत: हुआ ही नहीं था। पहला संपर्क संभवत: तब हुआ जब भारतीय दार्शनिक 399 ई० पू० के लगभग सुकरात से मिला था। इस संबंध में रालिसन का कहना है[4] कि गायक अरिस्तोक्सेन्स ने भारतीयों के सम्बन्ध में एक कहानी लिखी है—"इन लोगों में से एक एथेन्स जाकर सुकरात से मिला और उसने उससे पूछा कि तुम्हारे दर्शन का क्षेत्र क्या है? इस पर ग्रीक दार्शनिक ने उत्तर दिया, "मानुष जीवन सम्बन्धी गवेषणा"। भारतीय हंस पड़ा, फिर बोला, "भला देवताओं के तथ्य से अनभिज्ञ रहकर मनुष्य के तथ्यों की गवेषणा कैसे हो सकती है?" अरिस्तोक्सेन्स सिकन्दर का समकालीन था, अरस्तू का शिष्य। वह स्वयं 330 ई० पू० में विद्यमान था जिससे यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि उसने भारतीय सुकरात के कथोपकथन की बात सुनी होगी पर निश्चय ही 399 ई० पू० के इस संयोग से सौ-सवा सौ साल पहले होने वाले पैथागोरस के भारतीय दर्शन का ऋणी होने की बात प्रमाणित नहीं होती। ईरानी और सिकन्दर के साम्राज्यों द्वारा भारत और ग्रीस के बीच यातायात का मार्ग निश्चय ही प्रशस्त हो गया पर वह मार्ग भी तो पांचवीं सदी के मध्य से पूर्व नहीं जा पाता? पैथागोरस तो उससे भी प्राय: सौ साल पहले हुआ

1. फिलासफी आफ एंशेंट इंडिया, पृ० 32-56
2. दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० 630
3. वही, पृ 630
4. इंडियन आर्ट्स एंड लेटर्स, 1, पृ० 58

था। श्रेडर का कहना है कि पैथागोरस के धार्मिक, दार्शनिक यहां तक कि गणित सम्बन्धी विचार भी भारत में प्रचलित थे।[1] श्रेडर, कोलब्रुक[2] और गार्बे तीनों ने इस विचार के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। गार्बे ने सांख्य दर्शन का प्रभाव ग्रीक दार्शनिकों—अनाक्सिमान्दर, हेराक्लीतम्, एम्पेदोक्लीज़, अनक्सागोरस, देमीक्रीतस् और एपिकूरस् पर भी माना है।[3]

पैथागोरस, अफलातून और ऑर्फियम् के सम्बन्ध में कहा जाता है उन्होंने ग्रीक दर्शन की स्वाभाविक भूमि छोड़कर भारतीय रहस्यवाद को अपनाया और पुनर्जन्म के भारतीय विश्वास तक को स्वीकार किया। पुनर्जन्म, आत्मा का शरीर के आवागमन से बंधा होना और शुद्ध होने पर मुक्त होना ऑर्फिक सिद्धांत की मान्यता है जो मूलतः भारतीय है। पैथागोरस ने भी पुनर्जन्म माना था और वह अपने पूर्वजन्मों की घटनाएं बताया करता था। साथ ही वह प्रव्रज्या का पोषक और शाकाहारी था। अफलातून (457-247 ई० पू०) की धारणाओं—रहस्यवादी—का सार इस प्रकार है—

1. सत्य सदा सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसका सम्बन्ध मनुष्य के समूचे स्वभाव से है केवल उसकी बुद्धि से नहीं।

2. आत्मा अलक्ष्य (अज्ञेय), अक्षय, अमर और पुनर्जन्मा है। इन्हीं पुनर्जन्मों से वह शुद्ध होता है और पूर्णतः शुद्ध हो जाने पर मुक्त हो जाती है।

3. हम शरीर से शृंखलित हैं, हमारा प्रयत्न उसकी मुक्ति के लिए होना चाहिए।

ये सारे विचार ग्रीक दर्शन की प्रवृत्ति के विपरीत हैं।[4]

लासेन ईसा पूर्व के ग्रीक दर्शन पर भारतीय प्रभाव नहीं मानते, केवल ईसाई और नौ-अफलातूनी दर्शनों पर मानते हैं।[5] बार्थेलेमी सेंतेरेल सांख्य का प्रभाव अफलातून पर मानते हैं। उनके विचार से दोनों दर्शनों में जो समानताएं मिलती हैं वे केवल आकस्मिक अथवा स्वतन्त्र चिन्तन का परिणाम नहीं हो सकतीं।[6] वेबर के अनुसार वाच् (शब्द) सम्बन्धी विचार का प्रभाव ग्रीक 'लोगस' पर पड़ा है जो नौ-अफलातूनवाद का अन्तरंग है और जो बाद में उसी माध्यम से सन्त योहन के गास्पेल में रिस गया है।[7]

---

1. पैथागोरस उन्डडी इन्डर (लाइपत्सिग, 1884)
2. मिसलेनियस एसेज, द्वितीय संस्करण, 1, पृ० 436-437
3. गार्बे, पृ० 390 से आगे
4. दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० 632
5. इंडिस्के अल्टथुर्मस्कुण्डे, 3, 379।
6. प्रमिए मम्वार सिर लु सांख्य (पेरिस, 1852) पृ० 512-522
7. इन्डिस्के स्टुडियन, 9

बाद के काल में जब ग्रीस और भारत या सिकन्दरिया और भारत में याता-यात अधिकाधिक होने लगा तब परस्पर प्रभाव डालना स्वाभाविक था। फिलिस्तीन में जन्मा स्कीथियानस् भारतीय दर्शन का अध्ययन कर सिकन्दरिया में बस गया था।[1] दर्शन के अतिरिक्त भारतीय बौद्ध धर्म का प्रचार अशोक के समय तृतीय शती ई० पू० के मध्य मिस्र, पश्चिमी एशिया और पूर्वी यूरोप में हो चुका था जिसका ज़िक्र पहले किया जा चुका है। सीस्तान में बौद्ध विहार के भग्नावशेष मिले हैं। दूसरी सदी ईस्वी में तो एक पार्थव राजा ने सिंहासन तज कर भिक्षु का बाना तक पहन लिया था। अलबेरूनी का तो कहना है कि पुरा काल में खोरासान, फारस, ईराक, मोसुल और सीरिया की सीमा तक सारा भूखण्ड बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया था।[2] ईस्वी तीसरी सदी में प्रचलित मनीखी धर्म पर बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा। उस धर्म में उसके प्रवर्त्तक 'मणि' को 'तथागत' कहा गया है और उसकी पुस्तकों में बुद्ध तथा बोधिसत्व का नाम आया है। सीरियक लेखक जैनब लिखता है कि फरात नदी की उपरली घाटी में वान नामक झील के पश्चिम में तारोन में दूसरी सदी ई०पू० में भारतीयों की एक बस्ती ही बस गई थी।[3] वहां भारतीयों के बनवाए दो मन्दिरों में पधराई देव-मूर्तियां 18 और 22 फुट ऊंची थीं। 304 ईस्वी में जब सन्त ग्रेगरी इन मन्दिरों को नष्ट करने गया तब भारतीयों ने उसका प्रबल विरोध किया था यद्यपि उस ईसाई सन्त ने मूर्तियां तोड़ डालीं और मन्दिर नष्ट कर दिए। ईसाई धर्म पर बौद्ध धर्म का अनेकधा प्रभाव पड़ा। गिरजाघरों की अन्तराल व्यवस्था और बौद्ध चैत्यों में समानता, प्रारम्भिक ईसाइयों की प्रव्रज्या, व्रतपूर्ण जीवन, मूर्तियों और माला का उपयोग सभी भारतीय धर्मों से प्रेरित थे। अनेक पश्चिमी धर्मनेताओं ने अपने को 'बुद्ध' घोषित किया। 'जोज़ाफत' की कहानी ईसाई सन्त के रूप में जगप्रसिद्ध है, जो सर्वमान्य है, बुद्ध की कहानी है।[4]

विषय की एकता बनाए रखने के लिए ग्रीस और भारतीय संबंधों की चर्चा के बीच पिछले पैराग्राफ का व्यवधान अनिवार्य हो गया। अब अगले अध्याय में हम भारत और मिस्र तथा भारत और रोम के परस्पर संबंधों की चर्चा करेंगे।

---

1. एंशेंट इंडिया, पृ० 185, फुटनोट 1
2. सचाउ, अलबरूनीज़ इंडिया, पृ० 21
3. जे० आर० ए० एस०, 1904, पृ० 309
4. एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० 634, तेरेबिन्थम् ने अपने को बुद्ध घोषित किया था।

अध्याय-5

भारत और मिस्र

भारत और मिस्र के परस्पर संबंध का कुछ संकेत पहले किया जा चुका है। सिन्धु सभ्यता के समय दोनों का आपस में संपर्क हुआ या नहीं इसका स्पष्ट प्रमाण तो नहीं मिलता पर कुछ विद्वानों की राय में, मिस्री 'ममियों' को लपेटने के लिए जिस खादी वस्त्र का उपयोग हुआ था वह भारतीय था। सिन्धु-सभ्यता में मुहरों पर जिस वृषभ की विशिष्ट आकृति उभारी गई थी वह मिस्र, असुर, ईरान सभी देशों का लोकप्रिय हो गया था, यह महत्त्व की बात है। प्तोलेमी फिलादेल्फस् (285-246 ई० पू०) के जलसों में भारतीय संदर्भ का उल्लेख पहले किया जा चुका है। रालिन्सन का कहना है कि प्तोलमी फिलोपातोर के बजरे के राजकीय कक्ष में भारतीय पत्थर (संगमरमर) स्फटिक जड़ा हुआ था।[1] मिस्र और भारत का ऐतिहासिक संबंध अशोक और प्तोलेमी फिलादेल्फस् के राज्यकाल में हुआ जब अशोक ने उस मिस्री ग्रीक राज्य में चिकित्सा की योजना की थी और अपने धर्म-प्रचारक भेजे थे। संभवतः इससे पहले मौर्य शासित पाटलिपुत्र में वहां से राजदूत भी आया था। इन सब बातों का उल्लेख संक्षेपतः पहले किया जा चुका है।

भारतीय माल फारस की खाड़ी या लाल सागर के बंदरगाहों में उतारा जाता था जहां से उसे कारवां पश्चिमी एशिया के देशों को ले जाते थे। मिस्र भी उन सार्थवाहों से संबंधित था फिर भी मिस्रियों ने सागरीय मार्ग से सीधा संबंध स्थापित करना उचित समझा। इसमें दो बातें उनकी सहायक हुईं—एक तो प्रसिद्ध फिनिशी बन्दरगाह तीर का सिकंदर द्वारा विध्वंस, दूसरा भूमध्यसागर के मिस्री तट पर सिकंदरिया बन्दरगाह का निर्माण। भारत का मिस्र को जाने वाला सारा माल अब तक पेत्रा में उतरता था जहां से वह मिस्र के विविध स्थानों को जाता था। अब मिस्री ग्रीक फराऊन प्तोलेमी फिलादेल्फस् ने तृतीय सदी ई० पू० में लाल सागर के मिस्री तट पर बेरेनिस (बेरेनिके) नाम का एक बन्दरगाह

1. एंशेंट इंडिया (मैक्‌क्रिंडल), पृ० 185।

स्थापित किया और उसे 258 मील लंबे स्थलमार्ग द्वारा नील नदी से जोड़ दिया। स्थल के इस लंबे मार्ग के संकट कम करने के लिए उसी नृपति ने 274 ई०पू० में म्योस होर्मोस नामक एक दूसरा बन्दरगाह बनवाया, जिसकी कोप्तोस नगर से दूरी केवल 180 मील थी और यात्रा-काल केवल एक सप्ताह था। अब भारत का माल बगैर अन्य देशों का चक्कर लगाए सीधा मिस्र पहुंचने लगा।[1]

मिस्र जाने वाला अधिकतर भारतीय माल अदन होकर जाता था। द्वितीय शती ई० पू० अगाथार्कीदिस् कहता है[2] कि अराबिया फेलिक्स (अदन) का अधिकतर धन उन सौदागरों से आता है जो सिन्धुनद पर सिकंदर द्वारा निर्मित पोतन (पतल) से बड़ी संख्या में चलकर वहां पहुंचते हैं। 'इरीथ्रियन सागर का पेरिप्स्' का अज्ञातनामा लेखक 'अराबियायुदी मोन' (अदन) के विषय में लिखता है कि उसका यह नाम इस कारण पड़ा कि खुले सागर को भारतीय और मिस्री नाविक भारत और मिस्र के बीच पार नहीं कर पाते थे जिससे दोनों देशों का माल वहीं जाकर उतारा जाता था।[3] फिर भी दूसरी सदी ई० पू० में अनेक समुद्र यात्राएं भारत और मिस्र के बीच हुईं। छठी सदी ई० पू० में दारा प्रथम ने अर्यन्दा के जिस स्काईलाक्ष को सिन्ध की राह ईरान तक जल मार्ग से ढूंढ़ने को भेजा था वह अन्त में किसी प्रकार मिस्र पहुंच ही गया था। प्रसिद्ध अन्वेषक यूदोक्सस् ने दूसरी सदी ई० पू० में दो-दो बार मिस्र से भारत की यात्रा जलमार्ग से की थी। पोसेइदोनियस् ने उसकी कहानी लिखी थी जो यद्यपि अप्राप्य है, पर उसका अंश स्त्राबो ने अपनी पुस्तक में बचा रखा है। उसमें लिखा है कि यूदोक्सस् ने जलमार्ग का रहस्य नौविप्लवापन्न भारतीय नाविक से पाया था। वह नाविक अनेक मित्रों के साथ भारत से चला था पर राह भूल जाने के कारण अन्य तो एक-एक कर अनाहार के कारण मर गए, बस एक वही बच रहा जिसे प्रायः मरणावस्था में पोत में तटवर्ती प्रहरियों ने पाया और सिकंदरिया ले गए।[4]

बाबेल मंडब के जलडमरू मध्य में देइने का निर्माण कर मिस्री फराऊन प्तोलेमियों ने मिस्र और भारत के बीच जलमार्ग का उपयोग किया। 78 ई० पू० तक भारतीय पोत सोमालीलैंड के बन्दरगाहों तक सागर लांघकर सीधे आने लगे थे। सोफोन नाम के एक भारतीय का नाम नील नदी से थोड़ी दूर पर रेदेसिये के अभिलेख में दर्ज है कि वह लाल सागर तक की यात्रा कर कोप्तस् पहुंच गया था।[5] पता चलता है कि उस काल मिस्र नगर मेम्फिस् में भी भारतीयों की एक

1. रालिन्सन, पृ० 91; मैक्क्रिंडल, एंशेन्ट इंडिया, पृ० 101
2. रालिन्सन, वही, पृ० 94
3. स्काफ का अनुवाद, पृ० 32
4. स्त्राबो, 97
5. टार्न, वही, पृ० 216; रालिन्सन, वही, पृ० 99

बस्ती थी। प्रथम सदी ई० पू० और ईस्वी के स्त्राबो ने स्वयं म्योस होर्मोस के बन्दरगाहों से 120 जहाज़ों को खुलते और भारत जाते देखा था। कुछ निर्भय नाविक गंगा के मुहाने पूर्वी बंगाल सागर तक आ पहुंचे थे।[1] राह भूल जाने से, कहते हैं, कुछ भारतीय मांझी जर्मनी के सागर तीर तक भटक गए थे।[2]

1. एंशेंट, पृ० 9
2. शास्त्री, फारेन नोटिसेज़ आफ साउथ इंडिया, पृ० 6, फुटनोट 10

अध्याय-6

भारत और रोम

भारत और रोम का परस्पर संबंध घनिष्ठ और दीर्घकालिक रहा है। सम्राट् ओगस्तस् से नीरो तक (31 ई० पू० से 68 ई० तक) के सिक्के भारत में मिले हैं। इन सिक्कों से इस बात का पता चलता है कि दोनों में व्यापारिक संबंध था। भारत-रोम के व्यापारिक संबंध के प्रमाण मिलते हैं। भारतीय वस्तुओं के आयात के संबंध में रोमन सीनेट में कई बार बहस हुई और आयात को भारी कर लगाकर बन्द करने के प्रयास भी हुए थे।

भारतीयों ने रोमन साम्राज्य के कई भागों की यात्राएं कीं। इस संदर्भ में ऐसे लेख सुलभ हैं जिनसे सिद्ध होता है कि भारत ने सदियों तक और कभी-कभी हर दशक बाद रोमन सम्राटों के यहां दूत भेजे थे। दूतों की संख्या गणनातीत रही है यहां उसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं।

ज्योतिर्विज्ञान के क्षेत्र में रोम के लोगों का महत्त्वपूर्ण योगदान था—सप्ताह के संबंध में रोमन ग्रह-पंचांग और सप्ताह के नामों का प्रचलन था। दियो कँसियस् के अनुसार, जब 230 ई० में उसने लिखा था तब तक ग्रहों के विषय में पंचांगीय नाम प्रचलित हो गए थे। भारत ने यहूदी-ईसाई सप्ताह स्वीकार कर लिया। इसका क्रम यहूदी प्रणाली से था और नाम ईसाई थे। वराहमिहिर, जिसने रोमक (रोम) को श्रीलंका से 90° पश्चिम में माना था, इससे परिचित था और उसने इसका प्रयोग भी किया। रोमन सम्राट् कोंसतान्तीन ने 321 ई० में, रविवार को विश्राम का दिन निश्चित कर सात दिनों के सप्ताह को विधिवत् स्वीकृति दी थी। इसके उपयोग का पहला उदाहरण 484 ई० के एक आलेख में मिलता है। इसके बाद उसका प्रयोग विलुप्त हो गया। फिर वह 800 ई० से अनेक पुरालेखों में मिलने लगता है। बाद में उसका उपयोग सर्वसामान्य हो गया।[1]

रोमन लोगों का एक महत्त्वपूर्ण योगदान था—भारत में ईसाई धर्म का प्रवेश। कहते हैं कि संत तोमस तक्षशिला आए थे और उन्होंने गोंदोफेरिस (19-45 ई०) को स्तंभ तथा महल बनाने में सहायता देने का प्रस्ताव किया था।

---

1. उपाध्याय, भारतीय संस्कृति के स्रोत, पृ० 64

अगर यह बात सही है तो यह घटना ईसा मसीह की मृत्यु के तुरन्त बाद प्रथम शताब्दी में ही घटी। चरसद्दा से प्राप्त ईसा को एक ताम्र-मूर्ति, जिसके हाथ में एक चाबी है, रोम की बसालिका की संत पीटर की ताम्र-मूर्ति की अनुकृति बताई जाती है। सिकन्दरिया के पेन्तेइनस् (मृत्यु 211 ई० के बाद) को भारत में ईसा के संदेश का प्रचार करने के लिए भेजा गया बताया जाता है। मगर उसके भारत पहुंचने के पहले ही भारत में वह संदेश प्रचारित हो चुका था। छोटी-छोटी ईसाई जमातें संभवत: ईस्वी सदी दूसरी तक यहां स्थापित हो चुकी थीं। अगली दो सदियों में ईसाई धर्म लगभग दृढ़ता से स्थापित हो गया। किन्तु इसकी पहली सुनिश्चित सूचना कोस्मस् इन्दिको प्लीउस्तिस (535 ई०) से मिलती है जिसने लिखा है कि उसके समय में मलाबार और कल्याण में गिरजा स्थापित हो चुके थे और वहां फारस के एक पादरी को नियुक्त किया था। 325 ई० में निकाइया में आयोजित ईसाई धर्म सम्मेलन में जिन तीन सौ पादरियों ने हस्ताक्षर किए थे उनमें एक फारस और विशाल भारत का बिशप जॉन भी था। भारत के पश्चिमी तट पर बसे ईसाई फारस के नेस्तोरियन समुदाय के थे जो यूरोप में ईसाई धर्म के प्रचार से पूर्व ही भारत पहुंच गए थे।[1]

ईस्वी संवत् की प्रारंभिक सदियों में रोमन नगरों से, विशेषकर रोम से गरम मसालों, सूती कपड़ों, मोतियों और हीरे-जवाहरात का व्यापार शिखर पर था। महाभारत में शिरस्त्राणधारी और भारी-भरकम पोशाक वाले रोमनों द्वारा युधिष्ठिर के राजतिलक के अवसर पर भेंट और उपहार देने का उल्लेख हुआ है। संभवत: वे रोम के व्यापारी थे।[2]

भारतीय माल के मूल्य के भुगतान के रूप में ओगुस्तस् से बाद के सम्राटों के शासन के दौरान जो रोमन सिक्के भारत में आते रहे उनके अनेक ज़खीरे भारत में प्राप्त हुए हैं। इनमें से कुछ कोरोमंडल तट पर मिले हैं। रोम के दीनार (दिनारियस्) के इस देश में प्रचलन की चर्चा सम-सामयिक साहित्य तथा कालिदास तक की कृतियों में सुलभ है। फल यह हुआ कि रोम के प्रारंभिक सम्राटों के समकालिक कुषाण सम्राटों के सिक्कों पर रोम के मानदण्डों का प्रभाव पड़ा। ये सिक्के स्वर्ण मात्रा और वज़न में भी भारी बने। यह महत्त्व की बात है कि कदफीसस् प्रथम के एक प्रकार के सिक्कों पर एक रोमन चेहरा उत्कीर्ण है और कनिष्क ने अरा के शिलालेख में अपने को 'कैसरस' (कैसर सीज़र) कहा है। कुषाण और रोमन सिक्कों के मिले-जुले ज़खीरे या उन दोनों को मिलाकर बनाए गए हार भी प्रकाश में आए हैं।[3]

---

1. उपाध्याय, भारतीय संस्कृति के स्रोत, पृ० 65
2. वही
3. वही

भारतीय राजदूत रोमन सम्राटों को मूल्यवान उपहार देने में एक-दूसरे से होड़ किया करते थे। 337 ई० में जब उनमें से एक दूत कोंस्तातीन के पास पहुंचा तो उसने अपने उपहार को अतिशयोक्ति में 'सम्राट् की प्रभुसत्ता का अपने महासागर तक' फैले होने का बखान किया। सम्राट् को यह भी बताया गया कि भारतीय शासक उसके चित्र और मूर्तियां बनवा कर उसे समर्पित करते थे। भारत के पश्चिमी तट पर, रोमन बस्ती में, एक मंदिर में ओगुस्तस् की मूर्ति प्रतिष्ठित होने का रोमन और यूनानी लेखकों ने साक्ष्य दिया है।[1]

पांपेई के खण्डहरों से खोदकर निकाली हाथी दांत की यक्षी मूर्ति, जिसकी ओर पहले संकेत किया जा चुका है, निश्चय ही 79 ई० में हुए उस नगर के महा-नाश से पहले वहां पहुंची होगी। इससे ईसा की प्रथम शताब्दी की कुषाण यक्षी मूर्तियां पांपेई में प्राप्त अन्य मूल्यवान रोमन सामग्री से जुड़ जाती हैं। मध्य एशिया की एक भारतीय बस्ती से खरोष्ठी लिपि में एक रोमन चित्रकार तितस के हस्ताक्षर प्राप्त हुए हैं। उसने अपने भित्तिचित्र पर हस्ताक्षर कर लिखा था—"यह तीत की कृति है जिसने इसके लिए 300 मुद्राएं प्राप्त कीं।" तमिल साहित्य में रोमनों (यवनों) के ऐश्वर्यपूर्ण भवनों का वर्णन मिलता है। मदुराई के राज-कीय गढ़ में रोम सैनिक रहते थे और वे महलों और युद्ध क्षेत्र में खेमो (शिविरों) के रक्षक के रूप में तमिल राजाओं की सेवा करते थे। वे अत्यंत कुशल कारीगर भी माने जाते थे जिनके लिए यंत्र-निर्माण और धातु-कार्य आसान था।[2]

यूनानियों और रोमनों को 'यवन' कहा जाता था। तमिल राजप्रासादों में काम करने वाले यवन रोमन थे। नदियों के मुहानों और पश्चिमी सागर तट पर उनकी बस्तियां होने के अतिरिक्त वे जहाज़ों के हर फेरे के साथ यहां आते थे और शायद दक्षिण के तटों पर तथा राजदरबारों में पर्याप्त संख्या में विद्यमान थे। स्वाभाविक था कि चिरग्राहिणी भारतीय संस्कृति उनका योग भी प्राप्त कर ले।

भारत-रोम संपर्क की चर्चा कुछ विस्तार से आवश्यक है। यह संबंध, राज-नीतिक सम्बन्ध के अतिरिक्त, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, अधिकतर व्यापारिक था। इस व्यापार-सम्बन्ध पर पहली सदी ईस्वी में प्रस्तुत ग्रन्थ' 'पेरिप्लस आफ द इरिथ्रियन सी', सविस्तार प्रकाश डालता है। उसने दियोस्को-रिदा (सोकोत्रा) नाम के द्वीप में व्यापार के लिए बसे भारतीयों, अरबों और ग्रीकों की सम्मिलित बस्तियों का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि भारतीय बन्दर बारीगाज़ा (भृगुकच्छ, भरुकच्छ, भड़ौच) से बराबर जहाज़ फारस के नगर ओम्माना को आते हैं। सम्भवत: सोकोत्रा की ही भांति भारतीय सौदागर मदा-गास्कर में भी जा बसे। वहां की हिंदेशियाई भाषा में संस्कृत के शब्द प्रचुर मात्रा

1. उपाध्याय, भारतीय संस्कृति के स्रोत, पृ० 65-66
2. वही

में उपयोग में आते हैं। मदागास्कर का प्राचीन नाम 'मलय' है और वहां के निवासियों का विश्वास है कि उनके पूर्वज मंगलोर से आए थे।[1]

रोमन सम्राट् ओगुस्तस् ने 25 ई० पू० में भारत जाने वाले जलमार्ग पर अधिकार कर लेने के लिए एक जहाज़ी बेड़ा भेजा था जिससे भारत से व्यापार सीधा सागर की राह किया जा सके। इसके परिणामस्वरूप अदन में मिस्रियों और ग्रीकों की बस्तियां बस गई थीं। प्राय: इसी काल 45 ई० के लगभग हिप्पालस (रोमन नाविक) ने हिन्द महासागर में निरन्तर बहते रहने वाली मानसूनी वायु का पता लगा लिया। सागरीय व्यापार में इससे क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया जिससे बंदरगाहों में महीनों लंगर डाले पड़े रहने की जहाज़ों को अब आवश्यकता न थी। अब जहाज़ सीधे मानसून की सहायता से अरब सागर पार कर भारत पहुंच सकते थे। इस प्रकार लाल सागर के बंदर ओकेलिस से मालाबार के बंदर मुज़िरिस (क्रांगानोर) तक जहाज़ अब 35-40 दिन में पहुंचने लगे थे। भारत और रोम का मिस्र के माध्यम से सीधा सम्बन्ध हो गया। पश्चिमी जगत् का तब का सागरीय व्यापार का सबसे बड़ा केन्द्र सिकन्दरिया था। पहले साल में केवल बीस जहाज़ भारत जाते थे। अब औसत प्रतिदिन एक जहाज़ हो गया।[2]

रोम में भारतीय माल की बहुत खपत थी। इतिहासकार प्लिनी का अन्दाज़ है कि प्रतिवर्ष पांच करोड़ रोमन सेस्टर्सों के मूल्य (आज के भारतीय रुपयों में लगभग एक करोड़) का माल रोम प्रतिवर्ष पहुंचता था। ऊपर लिखा जा चुका है कि इस माल को रोकने, भारत की ओर व्यापार के मार्ग से रोमन स्वर्ण का प्रवाह बन्द करने के लिए रोम की सिनेट में होने वाली बहसों में काफी गरमागरमी हुआ करती थी। प्लिनी के आन्दोलन से इतना तो ज़रूर हुआ कि भारत से आने वाले माल पर दो-दो सौ प्रतिशत कर लगने लगा। पर रोम के श्रीमानों और कला पारखियों, गृहणियों, रसोईघर की आवश्यकताओं ने और विलास की लालसाओं ने भारतीय व्यापार की रक्षा कर ली। श्रीमानों और गृहणियों को मृदुलस्पर्श मलमल और रेशम, भारतीय मोतियों और गरम मसालों की आवश्यकता थी। गरम मसालों की मांग केवल रोम में ही नहीं बल्कि समूचे पश्चिमी जगत् में थी। गिबन ने लिखा है कि जब अलारिक ने रोम को जीत लिया और रोम के नागरिकों को तलवार के घाट उतारने चला तो उससे पूछा गया कि किस शर्त पर वह उनकी जान बख्शेगा। इस पर उसने और शर्तों के अतिरिक्त एक शर्त में 3000 पौंड (लगभग 37 किलो) भारतीय काली मिर्च मांगी। दुकानों में

---

1. दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० 620.
2. ओकेशाद, डब्ल्यू० एफ०, कामर्स एंड सोसाइटी, (आक्सफोर्ड 1936) पृ० 32

जितनी मिर्च थीं ले ली गईं। बन्दर में खड़े भारतीय जहाज़ों के भंडार भी देखे गए और जो कुछ भी नागरिकों की रसोई से मिल सका वह सारी मिर्च एकत्र की गई। इस प्रकार संसार के महाप्रतापी और अजेय नगर के प्राणों का मूल्य भारतीय काली मिर्च ने चुकाया। इस बृहद् व्यापार के बदले सोने-चांदी के रूप में जो मूल्य भारत आता था उसके प्रमाण में यहां रोमन सिक्कों के ज़खीरे मिले हैं। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है। ये सिक्के अधिकतर पहली सदी ईस्वी पूर्व और पहली सदी के बीच सौ वर्षों में भारत आए थे।

अधिकतर रोमन सिक्के दक्षिण भारत में मिले हैं, इसका कारण यह है कि समुद्री व्यापार के जहाज़ सागर तट पर ही रुकते थे और विशेषकर वहीं पश्चिमी आयात की मंडियां थीं। उत्तर में भी रोमन सिक्के अनुमानतः पर्याप्त संख्या में आए। इसका कारण कनिष्क का रोम के सम्राटों से सीधा संबंध था। कुषाण रोमन सिक्कों को गलाकर अपने सिक्के ढलवा लेते थे अतः ऐसे सिक्के अब तक बहुत कम संख्या में मिल पाए हैं। ओगुस्तस् और तिबेरियस् के कुछ दीनार फिर भी पंजाब के हज़ारा ज़िले में मिले हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उत्तर भारत के प्राचीन स्थलों में रोम सिक्कों के ज़खीरे खनकों की कुदाल की प्रतीक्षा में हों।

दक्षिण भारत में रोमन सिक्के पर्याप्त संख्या में मिले हैं। ज़मीन में गड़ी राशियों के अतिरिक्त 621 सोने के और 1187 चांदी के सिक्के उपलब्ध और सुरक्षित हैं। गड़ी राशियां जो उपलब्ध हुईं उनका ब्यौरा रायल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल[1] में इस प्रकार दिया हुआ है—

अधिकतर कोयम्बटूर और मद्रास के ज़िलों में 55 अलग-अलग ज़खीरे प्राप्त हुए। इनमें से 'पांच कुलियों के भार' के बराबर सोने के सिक्के थे, शेष चांदी के थे जो पात्रों में भरे-मिले। इनमें से एक 599 सिक्कों का, दूसरा 163 सिक्कों का और तीसरा कुछ हज़ार सिक्कों का था। कई पात्र अन्यत्र सिक्कों से भरे मिले हैं जिनका स्पष्ट ब्यौरा नहीं मिलता।

सिवेल ने इन ज़खीरों का विश्लेषण कर भारत और रोम के बीच के व्यापार का जो सारगर्भित विवरण प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है—

1. ओगुस्तस् से पूर्व कांसुलेट के काल में दोनों देशों में, कम से कम इन सिक्कों के अध्ययन के आधार पर, व्यापार के प्रमाण नहीं मिलते।

2. ओगुस्तस् के शासन काल में व्यापार बढ़ा और रोम के नागरिक भारतीय बहुमूल्य वस्तुओं का उपयोग करने लगे। यह व्यापार कम से कम सम्राट् नीरो की मृत्यु (68 ई०) तक भारी मात्रा में होता रहा।

3. कराकला के काल (217 ई०) तक इस व्यापार में काफी क्षति हुई, जिसके बाद दोनों देशों के बीच व्यापार प्रायः बन्द ही हो गया।

1. 1904, पृ० 591 से आगे।

4. पर यह व्यापार बाद में फिर चालू हुआ जब बिज़न्तियम् (कास्तान्तिनोपुल का पूर्ववर्ती) रोमन साम्राज्य के विभक्त हो जाने पर, पूर्वी भाग की राजधानी बनी। यह व्यापार अधिकतर दक्षिणी भारत के नगरों तथा त्रावणकोर बंदरगाह तक सीमित रहा।

मदुरा में रोमन तांबे के सिक्के भी बड़ी संख्या में प्राप्त हुए थे। संभवतः वहां रोमन बस्तियां थीं और सिक्के ढालने का एक 'मिन्ट' भी था।[1] रोम से प्राप्त द्वितीय शती ईस्वी के एक चित्र से मुज़िरिस के निकट, ओगुस्तस् की पधराई मूर्ति के साथ एक मंदिर का पता चलता है पर अब तक उसका कोई चिह्न प्राप्त नहीं हो सका। आश्चर्य नहीं कि वहां की रोमन बस्ती में इस प्रकार का मन्दिर रहा हो जो कालांतर में नष्ट हो गया हो।

सिक्कों के साक्ष्य की पुष्टि तमिड़ साहित्य से भी होती है। 'कठोर भाषा-भाषी यवनों' के द्वारा धातुओं के बर्तनों के उपयोग का उल्लेख है। उन्हें हीरे-जवाहरात का धनी कहा गया है। उनमें मामल्लपुरम्, पुहार और कोरकाई के बन्दर और उनमें बराबर आने-जाने वाले जहाज़ों और कर वसूलने वाले अधिकारियों की चहल-पहल का उल्लेख हुआ है।

सिवेल के विश्लेषण में नीरो के बाद के भारत-रोम के बीच व्यापार में शैथिल्य की जो बात कही गई है वह जनरल कनिंघम के विचार से सर्वथा मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि सेवेरस और कराकला के समय (217 ई०) तक रोमन स्वर्ण सिक्कों का (भारत में) बाहुल्य है। उसके बाद उनका अभाव हो जाता है पर शीघ्र ही फिर जुस्तिन (526 ई०), मार्सियन (450 ई०), लियो (474 ई०) और अनस्तासियस् (491-518 ई०) के काल में उनका प्रादुर्भाव होने लगता है।[2] मूल्यवान रेशम आदि की कीमत ओरेलियन (रोमन सम्राट्) के समय बेहद बढ़ गई थी, यहां तक कि रेशम सोने के वज़न से बिकती थी। सम्राट् जूलियन के समय उसका मूल्य घट गया था।[3]

इस बीच (पहली और छठी सदियों के बीच) पालमीरा (पामाहरा) और पेत्रा में भारतीय माल की बड़ी मंडियां थीं जहां फारस की खाड़ी से माल फरात नदी की राह वहां पहुंचता था। इसी प्रकार लाल सागर के बन्दरों का माल पेत्रा ले जाया जाता था और वहां से वह भूमध्य सागर के नगरों तक पहुंचाया जाता था। अधिकांश माल मलमल, मोती, पन्ना, धूपादि का होता था। 105 ई० में पेत्रा के नष्ट हो जाने पर पालमीरा का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रह गया और जब ओरेलियन ने 273 ई० में उसे बरबाद कर दिया तब भारतीय माल फरात

1. हुल्श, वही, पृ० 403
2. जे० ए० एस० बी०, 58, 1889, पृ० 149
3. दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० 624

नदी से थोड़ी ही दूर पर बसने में उतरने लगा। इस प्रकार भारत का पश्चिमी देशों के साथ व्यापार प्रायः निर्बाध गति से छठी सदी तक चलता रहा।

ऊपर रोमन सम्राटों के पास भारतीय राजाओं की ओर से भेजे गए दूतों अथवा दूतमंडलों की ओर संकेत किया जा चुका है। ओगुस्तस् के पास पहली सदी ई० पू० के अन्त और पहली ईस्वी के आरंभ में अनेक भारतीय दूतमंडल भेजे गए थे। ऐसे दूतमंडल ईस्वी सन् की पहली चार सदियों में बराबर रोम जाते रहे। एक त्राजन के शासन-काल (98-117 ई०) में, दूसरा हाद्रियन के शासन-काल (117-138 ई०) में, तीसरा अन्तोनियस् पीउस् (138-161) के समय, फिर हेलियोगाबलस् (218-222) के अल्प शासन-काल में, ओरेलियन (270-275), कोस्तान्तीन (323-353) और जूलियन के शासन-काल (361-363) में गए। संभवत: दो और दूतमंडल जुस्तिनियन के समय (530 और 552) भेजे गए।[1]

इस काल में भारतीय और रोमन व्यापारियों में इतना सद्भाव बढ़ा कि दोनों देशों में परस्पर आना-जाना प्रायः स्वाभाविक रीति से होने लगा। दियो-क्रिसोस्तोम् (लगभग 117 ई०) लिखता है कि सिकन्दरिया में भारतीय व्यापारियों की एक बस्ती ही बस गई थी। वहां एक समाधि पर त्रिशूल होने से टार्न ने वहां भारतीयों के रहने का अनुमान किया है।[2] प्रियोलक्स लिखता है कि अनेक ब्राह्मण 470 ई० में भारत से सिकन्दरिया गए और वहां कान्सुल सेवेरस् के अतिथि बने थे।

---

3. एंशेंट इंडिया, पृ० 212-213

4. टार्न, वही, पृ० 216

अध्याय-7

साहित्यगत संपर्क

पश्चिमी साहित्य में भारत

जिस प्रकार पिछले काल में चीनी यात्रियों ने भारत भ्रमण कर यहां का विवरण अपने भ्रमण वृत्तांतों में लिखा वैसा यात्री तो वस्तुतः एक ही 'इन्दिका' लिखने वाला ग्रीक राजदूत मेगैस्थनीज़ था जो पाटलिपुत्र के चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में दीर्घकाल तक रहा था। परन्तु अनेक ग्रीक, रोमन आदि लेखकों ने भी तीसरी सदी ई० पू० से ही भारत के सम्बन्ध में लिखना शुरू किया था जिससे भारत और पश्चिम के सम्बन्ध पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। मैक्क्रिंडल ने इन लेखकों का सविस्तार उल्लेख किया है। नीचे हम संक्षेप में उन्हीं संदर्भों का उल्लेख करेंगे।

हेरोदोतस् और क्तेसियस् का ज़िक्र पहले किया जा चुका है। इनके बाद भारत का विवरण लिखने वाला पहला ग्रीक संभवतः पात्रोक्लीज़ था। वह सेल्यूकस निकातोर और अन्तियोकस् प्रथम के सीरियक साम्राज्य के पूर्वी प्रान्तों का उच्च अधिकारी था। उसके वृत्तांत का परिचय स्त्राबो को सिकन्दरिया के प्रसिद्ध ग्रंथगार के अध्यक्ष इरातोस्थीनिज़ (240-196 ई० पू०) से मिला। स्त्राबो स्वयं एशियाई ग्रीक था, ओगुस्तस् का समकालीन। उसने लिखा तो पहली के आरंभ में पर उसका वृत्तांत ऊपर बताए जानकारों की लिखी सामग्री पर आधृत था।

इसी प्रकार एरियन का 'इन्दिका' भी मेगैस्थनीज़ के वृत्तांत पर आधृत है। मेगैस्थनीज़ का वृत्तांत एरियन ने संकलित कर लिया था जिससे मूल लेखक की कृति लुप्त हो जाने पर उसकी क्षतिपूर्ति एरियन के उद्धरण द्वारा एक हद तक हो सकी। एरियन ने अपना वृत्तांत, इस संकलन के साथ, 150 ई० पू० के लगभग लिखा। इतिहासकार प्लिनी रोमन था। उसके प्रसिद्ध ग्रंथ का नाम 'प्राकृतिक इतिहास' (नेचुरल हिस्ट्री) है जिसे उसने 77 ई० में पूरा किया था और जिसमें मिस्र से भारत जाने वाले जलमार्ग का वर्णन तो किया ही है उसमें उसने भारतीय पशुओं, धातुओं, पौधों और औषधियों का भी ज़िक्र किया है।

जिस 'पेरिप्लस आफ द इरिथ्रियन सी' का उल्लेख अनेक बार पहले हो चुका

है वह इसी काल, अर्थात् पहली सदी ईस्वी में, लिखा गया। इसका लेखक ग्रीक मिश्र का निवासी था जो स्वयं संभवतः व्यापारी और नाविक दोनों था। भारत से पश्चिम जाने वाली और पश्चिम से भारत आने वाली व्यावसायिक वस्तुओं का उसने सविस्तार वर्णन किया है। उसके बाद भारत के सम्बन्ध में विशेष विस्तार और प्रमाणपूर्वक वृत्तांत लिखने वाला व्यक्ति प्तोलेमी था। वह सिकन्दरिया का रहने वाला प्रसिद्ध भूगोलवेत्ता था और उसने दूसरी सदी ईस्वी के प्रायः मध्य में लिखा था। उसका वृत्तांत विशेषकर तीर के निवासी मारिनस् के विवरण पर आधारित था। उसके वृत्तांत में अनेक त्रुटियां निश्चय ही हैं पर एशिया के सागर-तीर का जितना ज्ञान उसे था उतना उसके पूर्वगामियों में से किसी को नहीं था। भारत के उत्तर पश्चिमी सागर तट के बन्दर, नगरों और समसामयिक शक राजाओं तक का उसने सही संकेत किया है। उज्जैन और उसके पास के छोटे नगरों 'आष्टा' और 'आगर' तक का उसने उल्लेख किया है।

दियो क्रिसोस्तोम (लग० 117 ई०) भी ग्रीक था जो सिकंदरिया और बिज़ान्तियम (पीछे कुस्तुंतुनिया) में रह चुका था। वह ईसाई धर्म का पादरी था। वह लिखता है कि भारतीयों ने होमर के काव्यों का अपनी भाषा में अनुवाद कर लिया है और उन्हें वे बड़े प्रेम से गाते हैं। निःसंदेह उसका यह निष्कर्ष 'इलियद' और ओडिसी के कुछ अंशों की रामायण-महाभारत की घटनाओं की समानता के कारण बन गया था। यह निष्कर्ष भ्रमपूर्ण हो सकता है। पर इलियद में वर्णित हेलेन के हरण और परिणामतः त्रोय के विध्वंस की कथा का सीता-हरण और लंका विध्वंस से पर्याप्त साम्य है। फिर यदि ग्रीकों ने प्रायः दो सदी भारत के पश्चिमोत्तर भाग पर शासन कर वहां गान्धार कला का विकास किया, ज्योतिष के ज्ञान में क्रान्तिकारी विन्यास किया, भारतीय रंगमंच और संस्कृत के नाटकों को प्रभावित किया तब उसके साहित्य पर भी अगर उनका प्रभाव, चाहे सतही ही क्यों न रहा हो, पड़ा हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? ओक्सीरिंक्स में एक विचित्र पेपिरस का रोल मिला था जो दूसरी सदी ईस्वी का लिखा हुआ था। यह प्रहसन (फार्स) है। उसमें एक ग्रीक महिला खितियोन का ज़िक्र है। यह महिला दक्षिण-पश्चिमी सागर तट पर नौविप्लव के कारण रह गई थी। बाद में इसका कन्नड़ लोगों से संपर्क हुआ। विद्वानों का विचार है कि उसमें कन्नड़ बोली या कम से कम कन्नड़ शब्दों का उपयोग हुआ है। इसी काल में हुए ईलियन ने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में भारतीय पशुओं का विवरण दिया है।

ईस्वी तीसरी सदी से भारत के संबंध में विस्तृत चर्चा पश्चिम के साहित्यों में होने लगी थी। सिकन्दरिया के क्लेमेन्त (मृत्यु 220) ने अपने वृत्तांत में बौद्ध-स्तूपों, पुनर्जन्म तथा आत्मा के आवागमन के सिद्धान्त का समीचीन उल्लेख किया है। बाबुली बार्देसानिज़ ने भी तृतीय शती में भारतीय बौद्ध और ब्राह्मण

धर्मों का प्रायः समुचित निरूपण किया है। उसका ग्रंथ आज प्राप्य नहीं है पर उसके उद्धरण अन्य लेखकों ने सुरक्षित रख छोड़े हैं। मैक्क्रिडल ने अपने 'एंशेंट इण्डिया' में भारत पर लिखने वाले अनेक पाश्चात्य लेखकों का वृत्तान्त दिया है। इनमें मुख्य कारा का आर्खेलाओस् (278 ई०) और संत जेरोम (340 ई०) हैं जिन्होंने बुद्ध संबंधी जातकों की कथाएं अपने रूप से दी है। अन्य जिन लेखकों का उस ग्रंथ में उल्लेख है वे हैं फिलोस्त्रातस्(लग० 180-250 ई०)और दियोन कासियस् (लग० 155-230 ई०)। इसी फिलोस्त्रातस् ने त्याना के अपोल्लोनियस का इतिहास लिखा है जिसे कुछ विद्वानों ने मात्र कल्पना की उड़ान माना है।

भारतीय और ग्रीक कथाएं

जिस रूप से पंचतंत्रादि की कथाओं का पश्चिम में प्रचार और पोषण हुआ है उससे सहज ही यह परिणाम निकलता है कि इन कथाओं का आदि स्थान प्रायः भारत ही है। ऊपर बताया जा चुका है कि किस प्रकार सार्थवाहों (कारवां) के अलावों में वे कही-सुनी गईं और देश-देशान्तरों में जा पहुंचीं। इसके अतिरिक्त सीधे उनके अनुवाद भी पश्चिम देशों में पहुंचे। इसका विवरण हम इस परिशिष्ट के अन्त में देंगे।

वैसे 'पंचतंत्र' का ग्रंथन तो निःसन्देह पर्याप्त पीछे, प्रायः चौथी-पांचवीं सदी में हुआ पर उसकी कथाओं का निर्माण-काल प्रचुर प्राचीन है। इस प्रकार की अनेक कथाएं, जो पशुओं के माध्यम से कही गई होने से 'फेबुल' या ग्रीक में 'मार्खेन' कहलाती हैं, काफी प्राचीन काल में ग्रीस में भी प्रचलित थीं। यह इतिहास सम्मत है। उन ग्रीक कहानियों को साधारणतः 'ईसोप्स फेबुलस' कहते हैं, कारण कि ये छठी अथवा पांचवीं सदी ई० पू० में हुए ईसोपस् (Aisopus) द्वारा ग्रीस में कही गई थीं। ईसोपस् अपनी कथाएं ग्रीक नगरों में घूम-घूमकर सुनाया करता था। जैन्थस नगर का एक चौराहा ऐसा ही विशिष्ट स्थान बन गया था, जहां संध्या समय नगर के निवासी उस फटे वस्त्रों वाले कथक की कथाएं सुनने जाया करते थे। 'पंचतंत्र' की अनेक कहानियों का ईसोपस् की कहानियों से साम्य होने के बारे में विद्वानों में बड़ा विवाद खड़ा हो गया। इनका उद्गम या तो समान स्रोत से हुआ अथवा एक ने दूसरे से लिया होगा। इसमें तो सन्देह नहीं कि पांचवीं सदी ई० पू० का हेरोदोतस् कथा-कथक ईसोपस् का उल्लेख करता है। ग्रीक कवि होसियद् ईसोपस् से पहले हुआ पर चूंकि पशु परक कथाओं की उसकी जानकारी है इससे प्रकट है कि ईसोपस् से पहले भी 'ईसोपस् फेबुल्स' का कोई न कोई रूप ग्रीस के नगरों में प्रचलित था जिनकी ओर 'इलियद' वीरकाव्य के रचनाकार अन्धकवि होमर ने अपनी कृति 'ओदिसी' में संकेत किया है। होमर का समय ई० पू० नवीं सदी माना जाता है। इसी प्रकार 'पंचतंत्र' की कहानियों का आरंभ

उस ग्रंथ के प्रणयन से ही नहीं होता, उससे पहले 'गुणाढ्य की बड़कहा' (बृहत्कथा) आदि का ग्रंथन हो चुका था, जिनसे जातक कथाएं निश्चय ही प्राचीन-तर हैं। पांच सौ से ऊपर की संख्या में बुद्ध द्वारा कही जाने वाली जातककथाओं में से कुछ, वस्तुतः अधिकतर, तो निश्चय उनकी कही हुई हैं। यद्यपि जातक कथाएं तीसरी-चौथी सदी ईस्वी में लिखी गई थीं तो भी उनका निर्माण काल बुद्ध से संबंधित होने के कारण, पर्याप्त प्राचीनतर हो जाता है। इन कथाओं में से जिन्हें बुद्ध ने कहा, विद्वानों का विश्वास है, निःसन्देह वे उनकी गढ़ी नहीं हैं, बल्कि लोक-वार्ता से उन्होंने मात्र उन्हें उठा लिया। उनका गाथाप्रवण रूप इस विश्वास का एक अंश तक प्रमाण भी है। वैसे कथाओं का—यद्यपि पशुपरक कथाओं का नहीं—विशेषतः आख्यायिकाओं का उल्लेख अथर्ववेद में हुआ है और साधारण कथाएं देवताओं, राजाओं तथा ऋषियों अथवा साधारण जनों के संदर्भ में ऋग्वेद तक में मिलती हैं जिससे कथाओं का आरंभ भारत में 1000 ई० पूर्व तक चला जाता है। जातक कथाओं से भी प्रमाणित है कि यदि उनमें से अधिकतर को बुद्ध ने स्वयं बगैर गढ़े प्रचलित कथा-वार्ता से उठाया तो उस कथा-वार्ता अथवा तत्कालीन लोक-साहित्य का दसवीं-ग्यारहवीं सदी ई० पू० में संविधान अतर्क्य न होगा। प्रायः यही समय ईसोपस् की कथाओं के आदिरूप का है और चूंकि उनमें और भारतीय कथाओं में प्रचुर साम्य है, विद्वानों का अनुमान सार्थक हो जाता है कि कुछ आश्चर्य नहीं जो एक का दूसरे वर्ग पर अथवा दोनों का दोनों पर प्रभाव पड़ा हो। इस लेन-देन के प्रसंग पर यहां कुछ प्रकाश डाल देना अनुचित न होगा। इसके अतिरिक्त भी, चाहे जिसने जिससे जितना लिया हो, दोनों देशों के बीच संपर्क प्रायः स्थापित हो जाता है। नीचे इस विषय का विवेचन कुछ विस्तार से किया जा रहा है।

वाग्ने (Wagener), वेबर, बेन्फी, केलर, हर्टेल, कोस्कीं (Cosquin), लूडर्स आदि ने इस संबंध में अपने तर्क में काफी प्रमाण दिए हैं जिनका उल्लेख यहां समीचीन होगा। वाग्ने के विचार से ग्रीस इस संदर्भ में भारत का ऋणी है। उधर वेबर और बेन्फी भारत को ग्रीस का ऋणी बताते हैं, यद्यपि बेन्फी ने साथ ही साथ यह भी कहा है कि परियों की कहानियों का मूल स्थान भारत है। इससे गुत्थियां और उलझ गई हैं, कारण कि इस स्थिति में ग्रीस और भारत दोनों को अंशतः पशुकथाओं का मूल स्थान मानना होगा। फिर प्रश्न यह उठता है कि किन कथाओं का उद्गम किसे मानें? दोनों पक्षों ने तिथिपरक प्रमाण दिए हैं। जिन्होंने भारत को ग्रीस का ऋणी बताया है उनका कहना है कि ईसोपस् के पहले के आर्खिलोखस् और सिमोनीदिज़ को पशुकथाओं का ज्ञान था। इससे यह निष्कर्ष निकला कि ईसोपस् ने अपने काल और उससे पूर्व प्रचलित कहानियों को अधिकतर कथाबद्ध कर उनका प्रचार किया था। भारत को उनका आरंभयिता

मानने वालों ने प्रायः उन्हीं प्रमाणों का सहारा लिया जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। जातककथाओं का वास्तु-शिल्प में निरूपण द्वितीय सदी के ई० पू० के भरहुत और सांची की वेष्टनियों पर तो हुआ ही है, इससे उनका बुद्ध द्वारा अपने प्रवचनों में प्रयुक्त होना असंभावित क्योंकर होगा ?

केलर ने तर्कानुक्रमण के सिद्धांत और पशुओं के प्राकृतिक जीवन के प्रति विशेष आग्रह का प्रमाण सामने रखते हुए कहा कि सिंह के बाद सिंह द्वारा मारे शिकार के अवशिष्ट का उपभोग शृगाल के लिए सहज और प्रकृति-सिद्ध होने के कारण उसके द्वारा मृगराज का अनुसरण स्वाभाविक है, इसीसे और उसके अतीव धूर्त होने से भारतीय कथाकार ने उसे सिंह का मंत्री बनाना उचित समझा। भारतीय राजनीतिक मान्यताओं में मंत्री असाधारण चतुर माना गया है, जिसका मत लिए बगैर राजा का कार्य करना अक्षम्य माना गया है और शृगाल की धूर्तता की जनविश्वास में सहज स्वीकृत होने के कारण उसका मंत्रिपद पाना भी सहज माना गया। इसके विपरीत इस प्रकार की कथाओं में ग्रीस में जो लोमड़ी शृगाल का स्थान लेती है वह, केलर की राय में, बुद्धिहीन पशु है। इस संबंध में कीथ का यह कथन, कि वस्तुतः पशुओं का चतुर और मूर्ख होना कथाकार की कल्पना पर आधृत होता है, विशेष अर्थ इस कारण नहीं रखता कि आखिर हाथी बुद्धिमान और कुत्ता स्वामीभक्त माने ही जाते हैं और वह केवल कल्पनावश नहीं बल्कि उनके अपने-अपने आचरण में उदाहृत होने से। डील्स ने कालिमाखोस् को विशेष प्रमाण मान कर लीदिया को इन कथाओं का आदिस्थान कहा। इसी दृष्टि से प्रेरित कुछ पंडितों ने यूरोप और एशिया के संधि-स्थल को इनका आरंभयिता माना जहां ईसोपस् का प्रादुर्भाव हुआ था। इस पेच को और उलझा देने वाली बात पर विचार कम किया गया है कि न केवल भारत और ग्रीस में इस प्रकार की कथाओं का प्रसार इतिहास सम्मत है बल्कि एक तीसरा स्थल भी इस संदर्भ में अपना स्थान मांगता है, वह है अफ्रीका। अफ्रीका की कथाओं में पशुओं में प्रवीण कछुआ माना जाता है। पशुकथाओं में वह सदा द्रुतधावी खरगोश से अपनी चतुराई से बाजी मार ले जाता है। ऐसी दौड़ में वह विशिष्ट मोड़ों पर अपने वर्ग के कछुओं को प्रतिष्ठित कर देता है जो समय पर सदा खरगोश को अपने आगे दीखते हैं। परिणाम यह होता है कि कछुआ दौड़ में सदा जीतता है। यह भी कहा जा सकता है कि वन्य और बर्बर स्थिति में रहने के कारण अफ्रीकावासियों का संबंध पशुओं से भारतीयों अथवा ग्रीकों से स्वाभाविक ही अधिक था, फिर उनके सभ्यता से कटे होने के कारण इन दोनों कथाकारों से प्रभावित होने की संभावना अपेक्षाकृत कम थी। हो सकता है कि उन्होंने ही मिस्र के माध्यम से दोनों को प्रभावित किया हो। यह तो संभव है कि अफ्रीका में ये कथाएं स्वतंत्र रूप से लिखी गई हों पर मिस्र के माध्यम से ग्रीस अथवा भारत को प्रभावित करना उनके लिए संभव नहीं था।

कारण यह कि मिस्र की कहानियों में पशुचरित् नहीं के बराबर हैं। इसके विपरीत 'गुरुपूजाकौमुदी'[1] में हर्टेल का कहना है कि राजनीतिक शिक्षण के प्रकरण में पशुओं की कथाओं का उपयोग सर्वथा और एकमात्र भारतीय है। इससे इन कथाओं का आरंभ भारत में ही होना तर्क-संगत लगता है।

ग्रीस और भारत की अनेक कथाओं के संदर्भ समान हैं। ग्रीक पौसानियस् ने 180 ई० के पूर्व ही उस कथा का उल्लेख किया था जिसमें सर्प बालक की रक्षा करता है पर उसकी प्रकृति डसने वाली है यह मानकर मार डाला जाता है। भारतीय कथा में नेवला अपने स्वामी के शिशु की रक्षा सर्प को मार कर करता है पर भ्रमवश उसको हन्ता कहकर मारा जाता है। यही कहानी पश्चिम में 'लेवेलिन' और 'गेलर्ट' की कथाओं में कही गई है। अन्तर बस इतना है कि उसमें कुत्ता नेवले का स्थान लेता है। छठी सदी ई० पू० के एक कोरिन्थी कलश पर लोमड़ी और काक की कथा चित्रित है। जातक में उसी कथा का निरूपण कौए के माध्यम से हुआ है। इसी प्रकार पौसानियस् ने देल्फी में पौसिग्नोतस् द्वारा चित्रित एक कथा का उल्लेख किया है जिसमें और जातकों की एक कथा में घना साम्य है। देल्फी के उस चित्र में ओक्नोस् और उसके गधे की कथा का निरूपण है और जातक कथा में शृगाली रस्सी बनाने वाले की बनती रस्सी उधेड़ती जाती है। दोनों में पुरुष की मेहनत और नारी द्वारा की हुई हानि का चित्रण हुआ है। भारतीय कथा में हंस द्वारा नीयमान वाचाल कछुआ अपनी बकवास से गिर कर नष्ट हो जाता है और देमोक्रीतस् द्वारा उद्धृत कहानी में कछुआ ईगल (गरुड़, गिद्ध) द्वारा ले जाया जाता हुआ नीचे गिरकर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। जातक की एक कथा की समता उस ग्रीक कहावत से की जा सकती है जिसमें बकरी के छुरा लील जाने का संदर्भ निहित है। सेनेका और हिरोन्दास दोनों उस जातक कथा के प्रसंग को ध्वनित करते हैं जिसमें लोहे के तराजू के चूहों द्वारा खा जाने की बात लिखी है। यही कथा 'पंचतंत्र' में भी दुहरायी गई है। पांचवीं सदी ई० पू० में होरोदोतस् और ग्रीक नाटककार सोफोक्लीज़ दोनों ने उस कथा को उद्धृत किया है जिसमें दूसरे भाई की सम्भावना न होने के कारण बहन पति के जीवन से उसके जीवन की रक्षा अधिक श्रेयस्कर समझती है। ज़कारी ने सोफोक्लीज़ के नाटक 'कामिकिओई' में उस कथा की ओर संकेत किया है जो दाइदालस् के संबंध में कही गई है और जिसका एक रूप भारतीय जातक में सुरक्षित है। सिंह की खाल ओढ़े खेत चरने वाले गधे की कहानी, ग्रीक और भारतीय, दोनों कथाओं में मिलती है, अन्तर बस इतना है कि ग्रीक संदर्भ में हवा द्वारा खाल उड़ा दिए जाने से स्थिति का भंड़ाफोड़ होता है और भारतीय संदर्भ में प्रसन्नतापूर्वक उसके रंभाने से भेद

1. पृ० 93 और आगे

खुलता है। भारतीय शृगाल की पंचतंत्रीय कथा जिसमें भौंकने से उसका भेद खुल जाता है फीद्रस् की कहानी में दोहराई गई है। दोनों कथाओं में उस सर्प का प्रसंग निरूपित है जो अपनी रक्षा करने वाले को ही डंस लेता है। एक भारतीय कहानी में चीता बकरी के साथ वैसा ही व्यवहार करता है जैसा फीद्रस् की कहानी में भेड़िया मेमने के साथ करता है। दोनों में कमज़ोर को बहाना बना कर खा जाने की घटना घटती है, फीद्रस् की कहानियों में देवता नदी का जल पी जाना चाहते हैं। भारतीय कहानी में कौए समुद्र सुखा देने का उपक्रम करते हैं। फीद्रस् की गंजे और मक्खी की कहानी जातक कथा में भी निरूपित हुई है, यद्यपि वहां उसका संदर्भ दुखद हो उठता है। आर्खिलोखस् ने एक कथा का उल्लेख किया है जिसमें लोमड़ी के बच्चे को गरुड़ को मजबूर होकर दे देना पड़ता है, उसकी दूर की प्रतिध्वनि 'पंचतंत्र' की कौए और सर्प की कहानी में सुरक्षित है। इसी प्रकार 'पंचतंत्र' की सिंह और कठफोड़वा पक्षी की कथा फीद्रस् की भेड़िए और हंस की कथा में दुहराई-सी लगती है। बुद्ध की कहानी, जिसमें वे सन्तान के मर जाने पर माता को सांत्वना देते हुए ऐसे घर से आग या तिल (सरसों) मांग लाने को कहते हैं जिसमें कभी कोई मरा न हो, पश्चिमी लोक साहित्य में अनेक प्रकार से (दिमोक्रीतस् और कालिस्थीनिज़ द्वारा) लिखी मिलती है। ग्रीक कथाओं में उपकृत सिंह आंद्रीकलस् पर आघात करने से विरत हो जाता है, वैसे ही भारतीय संदर्भ में हाथी भी उपकार मानता है। 'पंचतंत्र' की कथा में अपनी मूर्खता से कपि की मृत्यु मिलो की मृत्यु से संदर्भतः मिलती है। चित्रकार पार्सियोस् एक ऐसा पर्दा चित्रित करता है कि ज़िउसिस् को उसके वास्तविक होने का धोखा हो जाता है और वह चित्रकार से पर्दा उठा देने की बात कहता है। ऐसा प्रसंग भारतीय चित्रण साहित्य में अनजाना नहीं है जहां आलेख्य में वास्तविक का भ्रम हुआ है। व्यभिचारिणी जिस प्रकार अपनी शपथों से भारतीय कथा में अपने को अपराध से वंचित कर लेती है, इसोल्दे का उसी मिथ्यावाद से अपने को बचा लेना समानान्तर संदर्भ प्रस्तुत कर देता है। कवि ओविद की मेस्त्रा की कथा भी यही स्थिति सूचित करती है। खराद्रिओस् और भारतीय पक्षी द्वारा सूर्य की ओर पीलिया रोग ले उड़ने की कथाएं समान हैं। 'पंचतंत्र' की वह कथा जिसमें शृगाल गधे के कान और हृदय खाकर सिंह को समझा देता है कि वे उस जीव में थे ही नहीं वरना वह मारा ही नहीं जा सकता था, ईसोपस् ने भी अपनी कहानी में कहा है जिसमें रुग्ण सिंह द्वारा मारे हिरन का हृदय खाकर लोमड़ी उसे समझा देती है कि उसके हृदय था ही नहीं। कुछ कहानियां ऐसी हैं जिनका तीन तरफा सम्बन्ध है। इनमें से एक प्रकार की कहानियों का, जिनका सम्बन्ध भारत, ग्रीस, अफ्रीका तीनों से है, उल्लेख पहले किया जा चुका है। कुछ ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध भारत, ग्रीस और मिस्र से है। इनमें प्रसिद्ध जानवर के पेट से निकल कर सैनिकों का

आक्रमण है। इस प्रकार की प्राचीनतम कथा मिस्र से संबंधित है, दूसरी त्रोय के घोड़े (त्रोजन-अश्व) की है जो ग्रीकों द्वारा त्रोय विजय के समय घटी थी, तीसरी प्रसिद्ध उदयन से सम्बन्धित है जिसे लकड़ी के गज के पेट में छिपे अवन्ती के राजा चन्द्र प्रद्योत महासेन के सैनिकों ने बाहर निकलकर सहसा बांध लिया था। इसी प्रकार की एक पेचभरी कहानी मिस्र की है जो ग्रीस और भारत में भी कही गई है। हेरोदोतस् ने 'राम्पसिनितोस्' की कहानी लिखी है जिसका भारत में प्रादुर्भाव 300 ई० से पूर्व हो चुका था और ग्रीस में और भी पहले। फिर भी उसका आरम्भ कहां मानें यह तय कर पाना कठिन है। इस सम्बन्ध में फिर भी कुछ विचार अपेक्षित है जो नीचे किया जा रहा है।

वस्तुत: यह प्रश्न इस प्रसंग में इतने महत्त्व का नहीं कि इन कथाओं का आरंभ ग्रीस में हुआ अथवा भारत में। इनमें अनेक कथाएं ऐसी हैं जिनमें किसी प्रकार का वाक्य नहीं है। उनके सम्बन्ध में तो सहज ही कहा जा सकता है कि जिस देश में मिलीं वहीं से गढ़ी और कही गईं। जो समान हैं उनमें कुछ ग्रीस के कथाकारों की सृष्टि हो सकती हैं, कुछ भारत के कथाकारों की। कुछ ऐसी भी हो सकती हैं जो एक स्थान पर प्रसूत होकर दूसरे स्थान को गईं और वहां अपने रूप में कुछ परिवर्तन कर अपने प्रकृत देश को लौट आईं और इस प्रकार वे दोनों देशों के कृतिकारों की मेधा का प्रमाण बनीं। इनमें से कुछ कहानियां अफ्रीका में भी कही जाती थीं जिनका शिल्प भारतीय पंचतंत्र की कहानियों की भांति कहानी के भीतर कहानी रखने का है। भारत और अफ्रीका देशों का प्राचीन देशों से अधिक संपर्क न होने के कारण यह कहना कठिन है कि उन दोनों देशों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ा, जो ग्रीस और भारत के संदर्भ में सही है। ग्रीस और भारत का सम्बन्ध अति प्राचीन काल से प्राय: घनिष्ठ रहा है। संभावना भारत और अफ्रीकी साहित्यों के संपर्क की मिस्री के माध्यम से ही हो सकती थी पर ऐसी कथाएं उपलब्ध नहीं जो भारतीय, मिस्री, अफ्रीकी भाषाओं में एक ही रूप से, अथवा कुछ अन्तर के साथ कही गई हों। और ऐसी कथाओं का मिस्री भाषा में भी उपलब्ध होना इसलिए अनिवार्य हो जाता है कि भारत और अफ्रीका का समागम मिस्र के माध्यम से ही संभव था।

भारतीय और ग्रीक कथाओं में जो समान हैं उनके उद्गम भारत अथवा ग्रीस के अतिरिक्त कुछ मध्यवर्ती देश भी हो सकते हैं जैसे पश्चिमी एशिया के देश—इस्रायल, फिनीशिया (लेबनान; फिनीशी सौदागरों ने ही ग्रीस में पहले-पहल सुमेरी-बाबुली-असूरी-इब्रानी-फिनीशी लिपि का प्रचार किया था), सीरिया, लघु एशिया (एशिया माइनर), अनातोलिया आदि। यह स्मरणीय है कि अनेक भारत-यूरोपीय जातियों—जैसे खत्तों (हिटाइट), मितन्नी और ईरानी—का सम्मिलन-क्षेत्र कभी तुर्की और ईराक का ऊपरला भाग रहा था।

कुछ कथाओं का उद्गम तो निश्चय ही अत्यन्त प्राचीन काल में भारत-यूरोपीय जातियों के समान आवास भूमि पर ही हुआ हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। आखिर हिरैक्लीज़, थोर और इन्द्र की परस्पर समानता केवल सतही नहीं और न इश्तर, किबिली और सिंहवाहिनी दुर्गा की ही समानता सतही है।

किसका किस पर प्रभाव पड़ा इस उलझन को सुलझाने के प्रयत्न से अधिक महत्त्वपूर्ण यहां इस निष्कर्ष को स्वीकार कर लेना अधिक सार्थक लगता है कि भारत और ग्रीस में प्राचीन काल में सांस्कृतिक और साहित्यिक संपर्क हुए और घनिष्ठ हुए। इस साहित्यिक प्रसंग का अध्ययन एक और दिशा में भी संभव है, रोमांस अथवा औपन्यासिक कथाओं की दिशा में, जिसका हम नीचे संक्षिप्त विवरण देंगे।

ग्रीस और भारत : रोमांस अथवा औपन्यासिक सृजन

भारतीय काल्पनिक रोमांचक कथाओं अथवा औपन्यासिक कहानियों के स्रष्टा सुबन्धु, बाणभट्ट और कुछ अंश तक दंडी थे। इनकी कृतियां सातवीं सदी के पूर्वार्ध के प्राय: पहले ही प्रकाश में आ चुकी थीं। सुबन्धु ने कौशाम्बी के वत्सराज उदयन की प्रसिद्ध कथा अपनी 'वासवदत्ता' में आबद्ध की, बाणभट्ट ने प्रसिद्ध 'कादम्बरी' की रचना की, और दंडी ने 'दशकुमारचरित' को गद्य काव्यबद्ध किया। इनमें सुबन्धु की 'वासवदत्ता' को छोड़कर अधिकतर रचनाएं ऐतिहासिक प्रसंग का उपन्यास करती हैं। शेष दोनों की कथाएं पूर्णत: काल्पनिक और रोमांचक हैं।

पेटर्सन और राइश दोनों ने इन भारतीय उपन्यासों और ग्रीस रोमांचक काल्पनिक साहित्य में अनेक प्रकार की समानताएं बताई हैं जो साधारण तौर से सर्वथा उपेक्षणीय नहीं जान पड़तीं और दोनों ही नि:सन्देह प्रभावकारी हैं चाहे उन्होंने एक दूसरे को प्रभावित भले ही न किया हो। इनमें राइख की समानताओं की सूची खासी लम्बी है जिस पर एक फिसलती नज़र डाल लेना निरर्थक न होगा। राइख का कहना है कि ग्रीस और भारतीय दोनों की काल्पनिक कथाओं में प्रथम दर्शन में ही नायक-नायिका प्रेम का अंकुर सहसा फूट पड़ता है। दोनों में अनेक बार प्रणयी एक दूसरे का दर्शन स्वप्न में करते हैं (भारतीय प्रसंग में चित्रदर्शन से भी प्रेमांकुर का प्रस्फुटन होता है, जिसका उल्लेख ये दोनों नहीं करते) दोनों में बड़ी तीव्रता से भाग्य का परिवर्तन होता है, सौभाग्य से दुर्भाग्य का, फिर दुर्भाग्य से सौभाग्य का। साहस कार्य और नौविप्लव आदि दोनों में दर्शाए गए हैं। दोनों में प्रेम की व्यथा और प्रकृति का बहुश: वर्णन हुआ है और दोनों में नायक-नायिका के असाधारण सौन्दर्य का निरूपण हुआ है। दोनों ही साहित्य इस विधा में प्राय: एकरस हैं।

पेटर्सन ने इस सम्बन्ध को दूसरे प्रकार से प्रकाशित किया है। वह पहले ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की ओर संकेत करता है, कि किस प्रकार ग्रीकों के गणित और फलित ज्योतिष ने भारतीय गणित और फलित ज्योतिष को प्रभावित किया था। उसका कहना है कि इस संपर्क ने भारतीय रोमांस के अस्थि-पिंजर को रक्त-मज्जा प्रदान की, उन्हें साहसिक कार्यों से सम्पन्न किया और उनके गतिविन्यास को तीव्रता प्रदान की, उनमें नये प्राण फूंके। पेटर्सन के अनुसार यह ग्रीक रोमांस-परम्परा थी जिसमें प्रणयिनी के सौन्दर्य, प्रेम के मानव पर प्रभाव आदि का निरूपण हुआ। इसी प्रसंग में वह अन्य वस्तुओं के परस्पर प्रेम का भी उल्लेख करता है और इस संदर्भ में उदाहरणार्थ वह नर तालवृक्ष और मादा तालतरु के परस्पर प्रेम की ओर संकेत करता है जो स्थिति मादातरु के अंकुर के नरतरु के हृदय में रोप दिए जाने से उत्पन्न होती है।

अब ज़रा दोनों यूरोपीय पंडितों के तर्कों पर दृष्टिपात करें। केवल प्राचीनतर होने से ही एक स्थिति का दूसरे पर प्रभाव सिद्ध नहीं होता। जहां तक प्रथम दर्शन से ही प्रेमोत्पात की बात है वह प्राय: दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के ऋग्वेद में ही ध्वनित है जिसके फलस्वरूप ऐल पुरुरवा और उर्वशी प्रेमपाश में बंध जाते हैं। उसी कथा को कालिदास ने अपने 'विक्रमोर्वशी' में निरूपित किया है जिसमें दर्शन मात्र से प्रणय-विजित पुरुरवा को संज्ञालाभ कर देखते ही उर्वशी प्रेमासक्त हो उठती है। इसी प्रकार की स्थिति रथवीति की कन्या और श्यावाश्य के और शशीयसी और पुरुमिल्ह के प्रणय प्रसंग की हैं। महाभारत से लेकर पिछले काल तक न केवल स्वप्न प्रेमियों के संपर्क का भारत में माध्यम होता है बल्कि चित्र का उपयोग इस संदर्भ में महाभारत काल से पृथ्वीराज के काल तक और दक्षिण की कथाओं में बहुश: हुआ है। जहां तक सौंदर्य बोध की कल्पना है वह भारत की अपनी विशेषता है और आख्यायिकाओं में वह सर्वदा तथ्य रहा है। पुरुष के पुरुषोचित और शक्तिम रूप का रूपायन रामायण से अद्यावधि उपन्यासों में होता आया है। इसी प्रकार नायिकाभेद और नखशिख का वर्णन भरत और वात्स्यायन जितना प्राचीन है और इस मात्रा में यह वर्णन निरूपित हुआ है—काव्य और गद्याख्यान दोनों में—कि अन्यत्र से उसका पाना तर्क की विडंबना ही प्रमाणित करेगा। इसी प्रकार प्रकृति के अवयवों के मानव प्रणयियों पर प्रभाव के प्रसंग में भी इन पंडितों की कल्पना नितान्त अर्थहीन है। समूचा भारतीय काव्य—रामायण से गीत गोविन्द तक—मानव के संविधान में प्रकृति के ऐश्वर्य को सूचित करता है। अशोक वृक्ष का कुसुमधारण तरुणी के वामपाद के स्पर्श से होता है, वकुल उसी के मुखासव की परस से फूलता है। और आम्र तथा लता का परस्पर प्रेम भाव तो सर्वथा भारतीय है। वृक्षों के रोपण के बाद उनका लताओं से परस्पर विवाह सहस्राब्दियों से भारत के प्रमदवनों में अभिजातों की

लीला रहा है। जहां तक ताड़वृक्ष का प्रश्न है वह भी भारतीय संदर्भ में ग्रीस से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह मानना कठिन नहीं कि ग्रीकों ने चूंकि उत्तरी भारत पर डेढ़-दो सदियों तक राज किया, वहां अपने खेल खेले, रंगमंच पर अपने ईस्किलस, सोफोक्लीज़ आदि नाटककारों के नाटक खेले, ज्योतिष का प्रचार किया, कला में अपनी विशिष्ट गांधार शैली का प्रयोग किया, कुछ आश्चर्य नहीं कि उनका प्रभाव भारतीय साहित्य पर पड़ा हो, पर जिन संदर्भों में यह प्रभाव बताया जाता है, वे सर्वथा भारतीय हैं उन्हें अभारतीय अथवा ग्रीक स्वीकार करना युक्तिसंगत न होगा। फिर सातवीं सदी के इन रोमांसों पर ई० पू० की सदियों के ग्रीकों का प्रभाव तो कल्पना से भी परे है।

'वासवदत्ता' में स्वप्न और अन्ततः पति के वरण का अभिप्राय (मोटिफ) रोडे और वेबर की राय में 'जारियाद्रे और ओदातिस' की कथा से लिया गया है। इस प्रकार पति का चयन, स्वयंवर के रूप में; कहने की आवश्यकता नहीं, शुद्ध भारतीय है और अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। यही प्रसंग जो 'पिगमालियन और गलाती' की कथा में भी आख्यायित हुआ है जिसमें सेना का उपयोग वधू की प्राप्ति के लिए होता है और जिसमें स्वप्नांतर कन्या अपने प्रिय का वरण करती है, वास्तव में ग्रीक है ही नहीं, ईरानी है। फिरदौस ने अपने 'शाहनामा' में रोम की राजकुमारी का वर्णन किया है जो पहले अपने प्रणयी गुश्तास्प को स्वप्न में वरण करती है और बाद में उसे पति रूप में स्वीकार करती है। निःसन्देह इस प्रकार के पति-चयन-स्वयंवर की आदि भूमि भारत है और यह कथा अभिप्रायतः निश्चय ईरान में भारत से ही पहुंची थी जहां से उसका ग्रीक में उद्धृत होना अस्वाभाविक न था।

फ्रेंच पंडित लाकोत ने पहले तो गुणाढ्य (बड्कहा, बृहत्कथा के पहली सदी के कश्मीरी लेखक) को अपनी कथाओं में ग्रीस का ऋणी माना था पर बाद में अनुसंधान के बाद उसने अपनी बात बदल दी और ग्रीस को भारत का ऋणी माना। उसने ग्रीक और भारतीय साहित्यों से अनेक ऐसे संदर्भ उद्धृत किए जिनसे दोनों के सान्निध्य का पता चलता है। इनसे ऋण की स्थिति तो निश्चित स्पष्ट नहीं होती पर इतना स्वीकार करते हुए विशेष कठिनाई नहीं होती कि इस निष्कर्ष के लिए एक 'प्राइमाफेसी (प्रथम प्रमाण) केस' बन जाता है जिससे कम-से-कम यह प्रकट होता है कि भारत और ग्रीस की काल्पनिक मनोदशा साहित्य के क्षेत्र में, कुछ आश्चर्य नहीं, जो पारस्परिक संबंध से बनी हो।

लाकोत ने अन्य अनेक संदर्भ भारतीय और ग्रीक कथाओं से प्रस्तुत किए हैं। उसका कहना है कि एक विशेष पौध द्वारा जो तीन दिन में घाव भर जाने की बात ग्रीक कथा में कही गई है वह वस्तुतः भारतीय वनस्पति 'व्रणसंरोहणी' की ओर संकेत करती है जो भारतीय चिकित्सा में प्राचीनतम काल से प्रयुक्त होती

रही है। इसी प्रकार देवताओं का बगैर पलक गिराए देखना और बिना भूमि को चरण से स्पर्श किए उस पर चलना भी भारतीय विश्वास के प्रमाण हैं। कथा में थियागिनीज़ और खारिक्लिया का प्रथम मिलन में ही एक-दूसरे को पहचान लेना भारतीय पूर्वसंस्कार का परिणाम बताया जाता है। सबसे महत्त्व की बात तो यह है कि ये कथाएं अधिकतर पूर्व में—लघु एशिया की भूमि पर अथवा यूरोप और एशिया के बीच के सागर के द्वीपों में—पौर्वात्यों द्वारा, जो अनेक बार ग्रीक रहे हैं, लिखी गई हैं।

लाकोत का यह भी कहना है कि साहित्य की वह विधा जो कथा कहलाती है, भारत में ही आदितः जन्मी और विकसी जहां उसके विकास की अविरल परंपरा सहस्राब्दियों, तक अद्यावधि, जीवित रही है। निश्चय ही जहां उसकी अटूट परम्परा नहीं रही, उस ग्रीस में वह भारत से ही पहुंची। निःसन्देह, लाकोत कहता है, होमर की 'ओदिसी' में कथाओं का एक संसार ही रच डाला गया है, पर उसका विस्तार ग्रीस में हुआ ही नहीं है। और 'ओदिसी' तो पुराणों की परम्परा में है और यदि हम पुराणों की बात उठाएं तो भारतीय पुराणों के कालक्रम और कलेवर दोनों ही बड़े हैं। उनकी कुछ कहानियां तो ऋग्वेद से भी प्राचीतर हैं, अथर्ववेद में तो पुराणों की विधा का नामतः उल्लेख भी हुआ है। इससे कीथ का यह कहना कि गुणाढ्य के लिए प्राचीनतम काल देकर भी उसे वहीं रखना होगा जहां ग्रीक कथाओं का काल समाप्त हो जाता है, संभवतः सार्थक नहीं है। गुणाढ्य के संबंध में तो यह तर्क सच हो सकता है पर पुराणों की गढ़ी-अनगढ़ी देवपरक कथाएं तो अनेक बार वेदों में सम्मत होने के कारण, होमर से पूर्व चली जाएंगी। फिर रामायण-महाभारत का कथा संसार अलग है। और यदि हम उनको पुराणों की परम्परा में होने के कारण कथाओं की कोटि में न गिनें तो उसी तर्क से हमें 'ओदिसी' का भी प्रमाण नज़रन्दाज़ कर देना पड़ेगा। उस दशा में गुणाढ्य का स्वयं भारतीय कथाओं के मूल में होना अस्वीकार करना पड़ेगा, कारण कि जातक कथाएं उनसे पूर्व की हैं और उनमें से अनेक 'पंचतंत्र' की परम्परा में पशुपरक हैं, जिनमें से कुछ कम से कम द्वितीय शती ई० पू० के भरहुत और सांची के स्तूपों की रेलिंगों पर उभारी हुई हैं। यद्यपि यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि स्वयं बुद्ध द्वारा छठी सदी ई० पू० में कुछ कहानियां तो निश्चित कही गई होंगी। फिर तो वही बात ग्रीक कथा साहित्य के संबंध में भी कही जा सकती है कि बुद्ध द्वारा कही अथवा स्वयं न गढ़कर, दूसरों से सुनकर या समसामयिक लोककथाओं से उठाकर कही कथाओं से पूर्व की एक भी ग्रीक कहानी नहीं है। फिर ग्रीस में उपलब्ध कथाओं की परम्परा भी प्रायः उसके पतन के बाद ही समाप्त हो जाती है। लाकोत के विचारों की इन प्रमाणों से भी सहज ही पुष्टि हो जाती है। इतना ज़रूर है कि जहां एक भी ग्रीक कथा भारत या भारतीयों का

उल्लेख नहीं करती, 'बृहत्कथा', 'पंचतंत्र', 'बृहत्कथाश्लोक संग्रह' आदि सभी में ग्रीकों और उनके कौशल, उनके द्वारा निर्मित शय्या और यांत्रिक यानादि का उल्लेख हुआ है।

इस प्रसंग को समाप्त करने से पूर्व डेनिएल और ग्रे के विचारों की ओर संकेत कर देना भी नामुनासिब न होगा। दोनों ने भारतीय तथा ग्रीक दोनों की कथा-विधाओं में समानताएं खोजीं और घोषित की हैं। अधिकतर ये समानताएं हैं—प्रेमियों के बीच पत्र-व्यवहार, दु:खद वियोग और विषादपूर्ण स्थितियों का निरूपण तथा विलाप, आत्मघात की घोषणाएं, पंचतंत्र की कथाओं की भांति कथा के भीतर कथा का उहापोह, प्रकृति-वर्णन, अपनी स्थिति का असमाप्य संप्रेषण, पूर्वघटित संदर्भों के उल्लेख, विविध अलंकारयुक्त भाषा और समस्त पदयुक्त शैली का प्रयोग। इनका यद्यपि आदि प्रयोग भारत में हुआ है, ग्रीस में इनमें से कुछ का उपयोग भारत के प्रति उसके ऋण को प्रमाणित करता है। संभवत: दण्डी के दशकुमारचरित' और पेत्रोनियस् के 'सातीरी' की कथाओं में कुछ साम्य है। सुबन्धु और लिली की कृतियों में भी ग्रे ने समानान्तर स्थितियां और प्रभाव पाए हैं। लिली ने भारतीय रीति के अनुसार अपने रोमांस 'यूफियस्' में कहानी के भीतर कहानी रखी है, जैसे 'कालीमाखस्' की कहानी में 'कसान्दर' की कहानी निहित है। उसके शैलीगत अलंकार—अनुप्रास, विरोधाभास, संदर्भ-संकेत आदि भी—भारतीय परंपरा से प्रभावित हैं।

इस कथोपकथन से यदि और कुछ प्रमाणित नहीं होता तो इतना निश्चय ही प्रमाणित हो जाता है कि भारत और ग्रीस में दीर्घकालिक संपर्क रहा था और संभवत: उनकी संस्कृतियों ने एक-दूसरे को जब तब प्रभावित भी किया था। इस स्थिति से भिन्न और ऊपर कथा-प्रसंग में कुछ ऐसे ग्रन्थों का भी उल्लेख किया जा सकता है जिनका कालान्तर में पश्चिम की भाषाओं में अनुवाद हुआ और परिणामस्वरूप उनका उनपर प्रभाव पड़ा। अनुवाद के क्षेत्र में अनुमान अथवा अनुमित और परिणामपरक प्रमाणों की आवश्यकता प्रभाव सिद्ध करने में नहीं हुआ करती। यद्यपि इस अनुवाद से भारत और ग्रीस के परस्पर प्रभाव पर प्रकाश नहीं पड़ता, प्रसंग में सार्थक होने के कारण हम यहां पंचतंत्र के पश्चिमी भाषाओं में अनुवाद का विवरण उचित समझते हैं, और उसे अगले अध्याय में दे रहे हैं।

अध्याय-8

पंचतंत्र के अनुवाद

संसार के कथा-साहित्य में 'पंचतंत्र' के अनुवाद ने एक क्रांति उपस्थित कर दी, जिससे संस्कृति के अतिरिक्त, भारतीय साहित्य भी पश्चिम के साहित्यों के निकट संपर्क में आया और उसने उन्हें भूरिशः प्रभावित भी किया। यह संपर्क पहले परिणामतः भारत और पश्चिमी एशियाई देशों के बीच स्थापित हुआ फिर उसीके फलस्वरूप यूरोप के देशों और भारत के बीच स्थापित हुआ। पंचतंत्र की कथाओं ने इस प्रसंग में पूर्व और पश्चिम के देशों में सेतु का कार्य किया।

पंचतंत्र का पहला अनुवाद पह्लवी में हुआ, ईरानी सम्राट् खुसरो नौशेरवां (531-79 ई०) के शासन काल में। उस सम्राट् के चिकित्सक बुर्जोए ने उस कथासंग्रह का अनुवाद प्रस्तुत किया, पर दुर्भाग्यवश वह आज उपलब्ध नहीं है। उसका लोप वस्तुतः छठी सदी में ही कभी हो गया था पर भाग्यवश 570 ई० के लगभग बुद नामक एक सीरियक पंडित ने बुर्जोए के अनुवाद से सीरियाई में एक अनुवाद कर लिया था जिससे आगे अनुवादों की परंपरा जारी रखी जा सकी। 750 ई० के लगभग सीरियक (अथवा पह्लवी मूल) से अब्दुल्ला इब्न अल्-मोकफ्फा ने अपना अरबी अनुवाद प्रस्तुत किया जिससे पश्चिमी भाषाओं में विविध अनुवाद हुए। बुद द्वारा प्रस्तुत वह सारियक अनुवाद भी, अपनी कटी-पिटी हस्तलिपि-स्थिति में सुरक्षित है। वह अनुवाद पंचतंत्र-मूल की ही भांति पांच खण्डों में ही था, पर अरबी अनुवाद मूल तक ही सीमित न रह सका और उसने महाभारत आदि अन्य स्रोतों से भी कथाएं लेकर पांच अथवा आठ और खण्ड अपने अनुवाद में जोड़ कर मूल को पर्याप्त विस्तृत कर दिया। इनमें से कुछ कथाएं महाभारत, कुछ पुराणों से ली गईं, कुछ बौद्ध स्रोतों से और स्वाभाविक ही पंचतंत्र की कथामाला का इस प्रकार अरबी पाठ में पर्याप्त विस्तार हो गया। अनुवादक ने अपने प्रयोजन और आमुख के रूप में दो अध्याय और जोड़ दिए जिससे अनुवाद के परिच्छेदों की संख्या अब पन्द्रह तक जा पहुंची। कुछ अजब नहीं कि बुर्जोए के समय में ही, या उससे पहले भारत में ही जिस पाठ से उसने अपना अनुवाद किया उसी में पंचतंत्र से अधिक कुछ प्रसंग जोड़ दिए गए हों। कारण कि अरबी के इन पन्द्रह परिच्छेदों में से कम से कम दस परिच्छेद

सीरियक अनुवाद में भी उपलब्ध हैं। अरबी भाषान्तर में बढ़ कर ये परिच्छेद बाईस हो गए हैं। अनुवाद का नाम पंचतंत्र के नायक-शृगालों के नाम पर 'कलीला उ दम्ना' है। मूल नाम करकट-दमनक है। स्वाभाविक ही जैसे-जैसे अनुवाद होते गए हैं, उनके नाम भी बदलते गए हैं पर उनके नाम मूल करकट-दमनक से मिलते-जुलते ही हैं।

अरबी अनुवाद ने 'पंचतंत्र' और उसके माध्यम से भारतीय कथाओं के लिए पश्चिमी जगत के द्वार खोल दिए। दसवीं-ग्यारहवीं सदी में अरबी अनुवाद पाठ से सीरियाई-भाषा में एक दूसरा अनुवाद हुआ। उसी अरबी अनुवाद को अपना मूल बनाकर ग्यारहवीं सदी के अन्त में सेठ के पुत्र सिमिओन ने अपना ग्रीक अनुवाद प्रस्तुत किया। वही ग्रीक अनुवाद बाद में यूरोपीय अनुवादों के लिए प्रमाण बना। 1583 ई० में गिउलियो (जूलियो) नुती ने उसका इतालवी में अनुवाद किया और शीघ्र ही दो लातीनी और एक जर्मन अनुवाद प्रस्तुत हो गए। प्रायः तभी स्लाव भाषाभाषियों की दृष्टि उधर गई, और पंचतंत्र के अनुवाद अनेक स्लाव भाषाओं में कर लिए गए।

उधर एक इब्रानी (हिब्रू) अनुवाद ने यूरोपीय अनुवादों की एक दूसरी धारा बहा दी। रब्बी जोएल ने 1100 ई० के लगभग एक इब्रानी अनुवाद प्रस्तुत किया। तब ईरान, अरब और यहूदी साहित्य समीक्षकों के माध्यम से कश्मीर से स्पेन तक रसशास्त्र की जो धारा पश्चिम में बही थी उसने उन्हें सराबोर कर दिया था। अब इब्रानी ने यूरोपीय भाषाओं को अपने 'पंचतंत्र' के अरबी अनुवाद से चमत्कृत कर दिया और इब्रानी पाठ से यूरोपीय रूपान्तर नये सिरे से शुरू हुए। पहले जान कापुआ ने 1263 और 1278 ई० के बीच रब्बी जोएल के अनुवाद से अपना अनुवाद प्रस्तुत किया जिसका नाम उसने रखा—लिबेर एलीली एत दिम्नी, दिरेक्तोरियम् विती ह्यूमानी। यह अनुवाद इतना लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि उसके दो-दो संस्करण 1480 ई० में छपकर बिक गए। संभवतः उसी की एक हस्तलिपि से अन्थोनियस् फोन फोर ने अपना प्रसिद्ध अनुवाद तैयार किया जिसका पहला संस्करण 1483 ई० में प्रकाशित हुआ और शीघ्र ही जिसके प्रकाशनों का तांता बंध गया। अब तक अथवा दीर्घकाल बाद तक भी, किसी पूरबी साहित्य-ग्रंथ का पश्चिम में इतना आदर और स्वागत नहीं हुआ था जितना 'पंचतंत्र' के अनुवादों का हुआ। अन्थोनियस् के इस जर्मन अनुवाद का नाम था —डास बुख डेर विश्पेल डेर आल्टेन वाइसेन। इसने जर्मन साहित्य को तो गहरा प्रभावित किया ही, जर्मन भाषा वर्ग की अनेक भाषाओं में भी इसके अनेक अनुवाद शीघ्र ही प्रस्तुत हो गए। डेनी, आइसलैण्ड, और डच भाषाओं ने अपने-अपने अनुवाद किए। स्पेनी भाषा में 'पंचतंत्र' का अनुवाद 1483 में निकला और उसी पर आधृत कर अनयोलो फिरेन्जुओला ने अपना इतालवी पाठ 1546

ई० में प्रकाशित किया। इसी इतालवी अनुवाद का अनुवाद दस बरस बाद 1556 ई० में फ्रेंच भाषा में हुआ। 1553 ई० में ए० दोनी ने एक और पाठ दो भागों में तैयार कर दिया था। अंग्रेज़ी में 'पंचतंत्र' का अनुवाद प्रायः सबसे बाद में आया, 1570 ई० में, जो दोनी के पहले भाग का अनुवाद था, उसे सर टामस नार्थ ने 'द मारल फिलासफी ऑव दोनी' नाम से प्रकाशित किया। पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी 'पंचतंत्र' के लिए बड़ी शालीन सिद्ध हुई।

बारहवीं सदी के एक और अरबी मूल से किए अनुवाद ने अनुवादों की तीसरी धारा बहाई। यह अनुवाद 1121 अथवा 1143 ई० में अबुल-माली नस्रल्ला इब्न मुहम्मद इब्न अब्दुल हमीद ने प्रस्तुत किया था जिसका परिणाम हुसेन इब्न अली अल्वाइज़ द्वारा 1470 और 1505 ई० के बीच प्रसिद्ध फारसी कृति 'अनवारी सुहेली' के रूप में प्रकाशित हुआ। इन दोनों अनुवादों ने स्वयं पूर्वी और एशियाई भाषाओं का ध्यान 'पंचतंत्र' की ओर आकृष्ट किया। अनवारी सुहेली के पूर्वी भाषाओं में अनेक अनुवाद हुए। उसी का एक अनुवाद 1644 ई० के फ्रेंच में डेविड सहिद (दाऊद शहीद) और गोलमेन ने करके फ्रांस में उन कथाओं को जनप्रिय बनाया। इसके भी अनुवाद शीघ्र ही अंग्रेज़ी, जर्मन और स्वीडन में हुए। 1512 और 1520 ई० के अली बिन सालिह ने मूल फारसी से इसका अनुवाद तुर्की में किया। उसी का अनुवाद पहले फ्रेंच में गाला और कार्दोन ने किया जिस अनुवाद से बाद में जर्मन, डच, हंगेरियन में अनुवाद हुए। एक अनुवाद उसका मलयी तक में हो गया। इनके अतिरिक्त भी अनेक अन्य अनुवाद अरबी में हुए। जैकब (याकूब) बेन एलीज़र (एलिज़) का तेरहवीं सदी का इब्रानी अनुवाद केवल अंशतः सुरक्षित है। लगभग 1251 ई० में प्रस्तुत स्पेनी अनुवाद और कापुआ के जान (योहन) की कृति के आधार पर रेमुण्डस् डि बिट्टेरिस नवार के जोहन्ना के लिए अपनी रचना 'लिबेर दे दीना एत कलीला' प्रकाशित की। बारहवीं सदी के आरम्भ में इटली के बाल्दी ने जो 'पंचतंत्र' सम्बन्धी अपनी कृति 'नोवस् इसोपस्' लिखी उसका मूल किस अनुवाद पर आधृत था, यह आज नहीं बताया जा सकता। फ्रेंच रचनाकार ला फोतेन पशुओं को आधार बनाकर लिखी अपनी कहानियों, 'फाब्ल' (फेबुल्स्), द्वारा अमर हो गया है। अपनी उस कृति के दूसरे संस्करण (1678 ई०) में वह लिखता है कि उसकी नयी सामग्री का अधिकांश भारतीय सन्त 'पिप्लाई' के आधार से प्राप्त हुआ है। पंडित इस विषय में एकमत हैं कि 'पिप्लाई' से ला फौतेन का तात्पर्य 'विद्यापति' से है जिसका अर्थ 'विद्या का स्वामी' होता है। 'पंचतंत्र' के जितने अनुवाद हुए हैं, उतने संभवतः बाइबिल को छोड़कर और किसी ग्रंथ के नहीं हुए।

पिछले काल में 'शुकसप्तति' के भी अनेक भाषाओं में अनुवाद हुए। इसकी कथाएं भारत में बारहवीं सदी से पूर्व ही प्रचलित हो चुकी थीं। इसमें बिल्ली के

चंगुल में फंसा हुआ (शुक, सुग्गा) कहानियां कहता है। चौदहवीं सदी के आरंभ तक फारसी में इसका अनुवाद हो चुका था। इसी के आधार पर हाफ़िज़ और शेख सादी के समकालीन नख्शाबी ने 1329-30 में 'बेताल पंचविंशती' की भी कुछ कहानियां लेकर अपनी प्रसिद्ध कृति 'तूतीनाम' लिखी। सौ वर्ष बाद इसका तुर्की में अनुवाद हुआ। उसी तूतीनामे का दूसरा अनुवाद कादिरी ने अठारहवीं सदी में किया। फारसी अनुवाद द्वारा शुक-सप्तति की अनेक कहानियां यूरोप पहुंचीं जिनमें से एक गोटफ्रीड द्वारा प्रस्तुत 'त्रिस्तान उण्ड इसोल्डे' में बहुत प्रसिद्ध हुई। इसका मूल एक जातक कथा थी जिसका चीनी भाषा में अनुवाद पांचवीं सदी में ही हो चुका था।

अध्याय-9

अन्य देशों से भारत का साहित्यगत संपर्क

ऊपर हमने देखा कि किस प्रकार भारतीय कथाओं ने फारसी, अरबी, यहूदी और यूरोपीय भाषाओं के साहित्यों को प्रभावित किया। कथाओं का संक्रमण अन्य वस्तुओं की अपेक्षा शीघ्रतर और सहज होता है। इसका कारण यह है कि आबाल वृद्ध सभी के आकर्षण व मनोरंजन का साधन कथाएं ही होती हैं। इनका संक्रमण और पश्चिम की ओर प्रगति, जैसा संक्षेप में पहले बताया जा चुका है, अनेक साधनों से हुई है। इस संक्रमण के सबसे सहज और स्वाभाविक साधन सार्थवाह अथवा कारवां रहे हैं। जिन-जिन देशों के गांवों-सरायों में ये अपनी मंज़िलें तय करते रहे हैं वहां के लोगों के साथ इनका सद्भाव होता रहा है और उनसे ये कारवां संध्या और रात के समय और यदि जाड़ों के दिन हुए तो अलाव जलाकर उसके चारों ओर बैठ, विविध देशों, जातियों और भाषाओं की कथाएं कहते रहे हैं। हज़ारों मीलों तक निरंतर चलते रहने वाले इन सार्थवाहों के कथा-स्थल अनन्त रहे हैं।

इसी प्रकार जिप्सी-बंजारे भी पश्चिम में भारतीय कथाओं के प्रचार के बड़े महत्त्वपूर्ण साधन रहे हैं। इनके अनेक कबीले संभवत: अशोक के दिनों से ही भारत से बाहर निकल गए थे। और बाद की सदियों में उनकी नई धाराएं भी बाहर जाती रहीं। सदियों से जिप्सी पश्चिमी एशिया और यूरोप के देशों में ईरान से इंग्लैण्ड और स्पेन तक और मिस्र से मास्को तक फिरते रहे हैं। रोमानिया का तो नाम ही इनके कारण पड़ा जहां इनकी स्थानीय भाषा 'रोमनी' कहलाती है। ये पड़ाव डाल-डाल कर निरंतर एक देश से दूसरे देश, एक स्थान से दूसरे स्थान को फिरते रहे और आज भी फिरते रहते हैं, अपनी संस्कृति बचाए हुए अपनी भाषा बोलते हैं, अपने गीत गाते हैं, अपनी कहानियां कहते फिरते हैं। इन्हें विविध देशों में बसाने के बहुत प्रयत्न हुए, पर संभवत: युगोस्लाविया (स्कोप्ये) को छोड़कर, ये अन्यत्र कहीं बस नहीं पाए। इनके रंग से भ्रमवश पहले यूरोप-वासियों ने इन्हें मिस्री समझा और ईजिप्ट के नाम पर इन्हें 'जिप्सी' कहा पर अब यह सभी प्रकार से प्रमाणित हो गया है कि इनका मूल देश भारत था। भारत की लोककथाओं को, जिनमें जातक, पंचतंत्र, शुकसप्तति आदि सभी कथाएं सम्मिलित हैं, इन्होंने कह-कह कर पश्चिमी देशों में फैलाया और उनकी भाषाओं

के कथा साहित्य को गंभीर रूप से प्रभावित किया। इनके प्रभाव के बारे में जो अटकल लगाया गया है वह पर्याप्त होता हुआ भी वास्तविकता की अपेक्षा बहुत कम है। वस्तुतः इस क्षेत्र में जिप्सियों का योग असाधारण और महत्त्वपूर्ण रहा है। इनके माध्यम से भारतीय कथाओं का विदेशों में बहुत प्रचार हुआ है।

अरबों ने सातवीं सदी में समूचे पश्चिमी एशिया और उत्तर अफ्रीका के देशों पर अधिकार कर लिया था और उनका आधिपत्य अगली सदी के आरम्भ तक चीनी सीमा से स्पेन तक फैल गया था। स्वयं स्पेन पर सदियों उन्होंने शासन किया था और दक्षिणी फ्रांस पर अनेक धावे किए थे। उनके माध्यम से भी भारतीय कथाएं मिस्र आदि देशों से होती हुई पश्चिमी यूरोप पहुंचीं। अरबों के अतिरिक्त यहूदियों ने भी इस क्षेत्र में प्रभावोत्पादक कार्य किए। पश्चिम की ओर अरबों के संक्रमण इस्रायल से सदा होते रहे हैं और उनके द्वारा भी भारतीय कथाओं का पश्चिम में विस्तार हुआ है।

युद्धों के और भी अनेक मोर्चे पश्चिमी एशिया और पूर्वी यूरोप में ऐसे बने जिनसे इन कथाओं का प्रचार पश्चिम में हुआ। दीर्घकाल तक 'क्रूसेडों' की लड़ाईयां यूरोपीय ईसाइयों और अरबों तथा अन्य मुसलमानों में, जेरुसलम पर अधिकार के लिए होती रहीं और हज़ारों की संख्या में यूरोपीय ईसाई सैकड़ों साल तक पश्चिमी एशिया के चक्कर काटते रहे। प्राचीन काल में जैसे हूणों ने रोमन साम्राज्य की रीढ़ तोड़कर हंगरी को अपना नाम दिया और यूरोप के एक बड़े भाग पर शासन किया था उसी प्रकार उन्हीं के वंशज मंगोलों ने भी पूर्वी यूरोप पर एक बार अधिकार कर लिया था और बेलग्रेड के मैदान में सावा-दानूब नदियों के संगम के सामने समस्त यूरोपीय ईसाई राजाओं की सम्मिलित वाहिनी को युद्ध में नष्ट कर 'होली रोमन एम्परर' (पवित्र रोमन सम्राट्) को उसकी राजधानी वियना के उसके ही महलों में कैद कर लिया था। इन आक्रमणों का भी अनिवार्य लाभ यूरोपीय भाषाओं को हुआ और भारतीय कथाओं को इनके द्वारा पश्चिम की राह मिली।

1453 में कुस्तुन्तुनिया (बिज़ान्तियम्, इस्तंबूल) जीतकर तुर्कों ने न केवल पूर्वी रोमन साम्राज्य का अन्त कर दिया बल्कि समूचे पूर्वी यूरोप पर, इटली की सीमा और आद्रियातिक सागर के तीर तक, अधिकार कर उस पर सदियों राज किया। ग्रीस, बुल्गारिया, रोमानिया, युगोस्लाविया सभी उसके परिवेश में समा गए। स्लाव भाषाओं में उनके ज़रिये तुर्की, फारसी, अरबी के हज़ारों शब्द व्यवहृत होने लगे। इन सदियों में भारतीय कथाओं का पश्चिमी एशिया, विशेषकर लघु एशिया (एशिया माइनर), बास्फोरस के आरपार और यूरोपीय पूर्व के देशों में प्रचार होना स्वाभाविक और अनिवार्य था। इन अपने विविध साधनों से भारतीय कथाओं का यूरोप में प्रचार और प्रसार हुआ और उन्होंने अनेक प्रकार

से वहां के साहित्यों को अपनी अक्षय और महती संपदा से प्रभावित किया। नीचे हम संक्षेप में उस पश्चिम-पूर्व के साहित्यगत संबंध का विवरण देंगे।

'सिन्दबाद' की कहानी ने समूचे पश्चिमी एशिया और यूरोपीय भाषाओं को प्रभावित किया है। अरब इतिहासकार मसूदी (मृत्यु 956 ई०) ने उसके अरबी रूप 'किताब एल सिन्दबाद' को मूल भारतीय कथा बताया। इस कथा के पश्चिमी एशिया की भाषाओं में अनेक रूप निखरे। फारसी में वह 'सिन्दबाद-नामे' और सीरियाई में 'सिन्दबान' कहलाई। इब्रानी में वह कथा 'सन्दागार' नाम से प्रसिद्ध हुई और ग्रीक में 'सुन्तिपस्' नाम से। अरबों में वह कथा 'सात वज़ीर' के नाम से प्रचलित करके उसे अपने कहानी संग्रह में डाला जो अंग्रेज़ी में 'अरेबियन नाइट्स' के रूप में विख्यात हुआ और यूरोपीय भाषाओं में तो 'सिन्द-बाद' की कथा से कहानियों की एक बाढ़ ही आ गई, जो पंडित और साधारण-जन दोनों में लोकप्रिय हुई और उनके मनोरंजन के साधन बनीं।

प्रमाणतः और सहज ही सिन्दबाद की कथा का मूल 'पंचतंत्र' है जहां से उसकी कथावस्तु ली गई है। राजा अपने मूर्ख पुत्र को ज्ञान सीखने के लिए एक पंडित के सुपुर्द करता है। कहना न होगा कि यही 'पंचतंत्र' की कथाओं का प्रस्थान-बिन्दु है। सिन्दबाद में जो प्राणदण्ड पाए राजकुमार की रक्षा के प्रयत्न में कहानियां कही जाती हैं वे भारतीय परम्परा की हैं। प्रायः सभी कथाओं की समानान्तर कथाएं 'पंचतंत्र' आदि में कही गई हैं। नेवले वाली कथा तो खैर 'पंचतंत्र' की है ही, अपना व्यभिचार छिपाने के लिए कही गई नारी की चतुराई भरी कहानियां भी अपने मूल में भारतीय हैं जिनमें से कुछ स्वयं 'पंचतंत्र' के आधार पर गढ़ी गई हैं और कुछ अन्य भारतीय कथाधारों पर। ग्रीक 'सुन्ति-पस्' को पढ़ते हुए तो ऐसा लगता है जैसे वह संस्कृत मूल का ही अपभ्रष्ट पाठ हो। प्रमाणित है कि इसका सद्यः मूल संस्कृत के पह्लवी अनुवाद का अरबी संस्करण है।

यही स्थिति अरबी कथा संग्रह 'एक हज़ार एक रातें' (जिसका हिन्दी अनु-वाद 'सहस्ररजनी चरित्र' कहलाता है) की है। इसकी भूमिका और कथाओं के आरम्भ की प्रक्रिया प्रमाणतः भारतीय है। इस अरबी कथा संग्रह के सर्वथा समानान्तर 'कनकमंजरी' की जैन कथा है जिसमें वह राजा को अपने में आसक्त-अनुरक्त छः महीनों तक ऐसी कहानियां सुनाती रहती हैं जिनका आरम्भ तो होता है पर उस रात अन्त नहीं होता और कहानी में से कहानी निकलती जाती है। इसी प्रकार 'कथासरित्सागर' और हेमचन्द्र की कृति में अनेक प्रकार से उस आदमी की कथा कही गई है जो इस कारण दुःखी है कि उसकी पत्नी पतिपरा-यणा नहीं, व्यभिचारिणी है, पर जिसके मन को शान्ति बाद में यह जानकर होती है कि स्वयं राजा की रानी दुश्चरित्रा है। संभवतः इसका मूल वह बौद्ध कथा है

जिसका चीनी अनुवाद 251 ई० में प्रस्तुत हो गया था। इसी प्रकार शहरियार और शाहज़मान की साहसपूर्ण कथाएं भी प्रमाणतः 'कथासरित्सागर' से उठा ली गई हैं।

ऐसा नहीं कि भारत ने फारसी या अरबी से कभी कुछ न लिया हो, पर स्पष्टतः फारसी से संस्कृत में अनुवाद काफी पीछे हुए। कश्मीर के पठान राजा ज़ैनुल आबिदीन ने फारसी कहानी 'यूसूफ और जुलेखा' का संस्कृत अनुवाद 'कथा-कौतुक' नाम से श्रीधर द्वारा पन्द्रहवीं सदी में कराया।

फारसी, सीरियक और अरबी माध्यम से यूरोपीय कथा-साहित्य पर पड़े भारतीय प्रभाव का ज़िक्र ऊपर किया जा चुका है, यहां बगैर उन माध्यमों के कुछ सीधे प्रभावों का विवरण दे देना भी उचित होगा। अरस्तू और सिकन्दर के बीच कही और 'सिक्रेतुम् सिक्रेतोरुम' में कही विषकन्या की कथा मूल में भारतीय है। विषकन्या का उल्लेख कौटिल्य (चाणक्य) के 'अर्थशास्त्र' में भी हुआ है जिसका विस्तार विशाखदत्त ने अपने नाटक 'मुद्राराक्षस' में किया है। एक कोरोलिंजि-याई कविता में (नवीं सदी में) एक कथा कही गई है। जिसमें व्याध सूअर को मारता है और जो स्वयं उस सांप के काटने से मर जाता है जिसे वह मार डालता है। इसका मूल पंचतंत्र की वह सबल कथा है जिसमें बहेलिया हिरन और सूअर को धनुष से मारता है पर स्वयं जिसे मारता हुआ सूअर मार डालता है। एक शृगाल तब आहार के लिए भटकता वहां जा पहुंचता है और कंजूस होने के कारण हिरण, सूअर और बहेलिया का मांस छोड़ पहले धनुष की तांत को ही खाने लगता है और उसके टूट जाने से चोट खाकर मर जाता है। दोनों कथाओं की समानता स्पष्ट है। फ्रांस की मारी की कहानियां स्पष्टतः भारतीय आधार पर आधृत हैं। शेरितोन के ओदो (लगभग 1215 ई०) ने सन्त मार्तिन के पक्षी की कहानी कही है जिसमें वह पक्षी अपने अंगों के सहारे आकाश उठा रखता है पर ऊपर से एक पत्ते के गिरते ही भयातुर हो सन्त से रक्षा की प्रार्थना करता है। कथा का मूल 'महाभारत' और 'पंचतंत्र' में है जहां वह कथा अनेक बार कही गई है।

कैन्टर्बरी का निगेल (लगभग 1180 ई०) पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों की कृतघ्नता का उल्लेख जिस कहानी में करता है उसके समानान्तर अनेक कथाएं भारत में कही गई हैं। तोलेमाई का बिशप—बिन्नी का जेम्स—जिसने क्रुसेडी युद्धों में भाग लिया था, पूरब में सुनी उस ब्राह्मण की कहानी कहता है जिसमें कई धूर्त मिलकर ब्राह्मण को ठग लेते हैं। वह हवा में गढ़ बनाने वाले मनमोदकी ब्राह्मण की भी कहानी कहता है, और पुत्र की भी जो अपने दीर्घजीवी दादा को दफनाने के लिए उसके जीते जी कब्र खोदता है पर वह यह नहीं जानता कि स्वयं उसका पुत्र अपने पिता के लिए कब्र प्रस्तुत कर चुका है! ये कथाएं निःसन्देह भारतीय कथाओं पर आधृत हैं। इसी प्रकार के कुछ और समानान्तर प्रसंग

दिए जाते हैं।

बूरबों के एतियान (मृत्यु लगभग 1260 ई०) ने अपनी रचना 'दि दिवर्सिस रीबस प्रीदिकाबिलिब्स' में अन्धे और लंगड़े की प्रसिद्ध भारतीय (जैन) कहानी फिर से कही। एक बौद्ध कथा जिसका चीनी अनुवाद उपलब्ध है और जो 'शुकसप्तति' की कहानियों से भी मिलती है उस सौतेले पिता की है जो बोधिसत्व का अन्त कर देना चाहता है। उसी आधार से उठी एतियान की वह कहानी है जिसमें राजा अपने नौकर को अपना विद्रोही मानकर उसका अन्त करने के लिए रसोई में रसोइयों के पास यह कहकर भेजता है कि जो कोई उनके पास राजाज्ञा लेकर जाए उसे ही चूल्हे में डाल दो। 'गेस्ता रोमानोरम' की अनेक कहानियां भारतीय हैं। इसकी 1469 ई० की एक हस्तलिपि में प्रसिद्ध जातक कथा दी हुई है जिसमें कृतज्ञतावश पशुभाषा सिखाया हुआ व्यक्ति अपनी पत्नी को सिखाकर स्वयं भाग जाता है। एक भारतीय कथा में संसार की आयु समझाने के लिए यह कहा गया है कि एक आदमी सौ वर्ष में एक बार पर्वत को रेशमी वस्त्र से परसता है और इस प्रकार परसते-परसते जब वह पर्वत घिस कर धूल हो जाता है तो वह भी सृष्टि के काल-विस्तार से कम है। संभवतः यही कहानी एक दूसरे रूप से हाइन्रिख सियुस (लगभग 1330 ई०) ने अनन्तता को स्पष्ट करने के लिए कही है। वह कहता है कि पृथ्वी के आकार की अन्न से भरी एक चक्की है। एक पक्षी लाख वर्ष में एक बार आकर अन्न का एक दाना उठा ले जाता है। इस प्रकार जब सारे दाने चुक जाते हैं तब अनन्तता का एक पल समाप्त होता है।

मध्य युग में यूरोप में प्रचलित अनेक कहानियां अपने मूल के लिए भारत की ऋणी हैं। उनमें से एक प्रकार की कहानियों में परियों के बूट इक्कीस-इक्कीस मील लम्बे होते हैं। इस प्रकार की कथाएं 'कथासरित्सागर' में भी मिलती हैं। तरुओं से यथाकाम प्राप्ति भारतीय कल्पना है। इसीसे कुछ के नाम 'कामतरु' (इस प्रकार के पारिजात आदि पांच प्रकार के) हैं। 'शाकुन्तल' के अतिरिक्त अन्यत्र भी इस प्रकार की उपलब्धियां काम अथवा कल्पतरुओं से होती हैं। वृक्षों में यक्ष, यक्षी, देवियों आदि के निवास के विश्वास से इस प्रकार के प्रसंगों का कथाओं में उपयोग हुआ। इसी प्रकार मनुष्य अथवा पशु का स्वर्ण झरना भी भारतीय कल्पना का परिणाम है। 'कथासरित्सागर' की निश्चयदत्त की कथा में यक्षिणी द्वारा आकाश में परिवहन की भांति पक्षियों का आकाशमार्ग से मानवों को ले जाना, मानव जाति की साधारण कल्पना है और इस प्रसंग की कहानियां यूरोप में भी स्वतंत्र रूप से कल्पित की जा सकती हैं। ऐसी समानताओं का विशेष महत्त्व नहीं होता। पर कुछ कहानियां, जिनका निरूपण कला में भी हुआ है, निःसन्देह समान कहानियों की जननी हैं। इस प्रकार की एक कहानी 'महोसध-जातक' की है जिसमें पति की अनुपस्थिति में कामी लोग उसकी साध्वी पत्नी को

अपनी वासना का शिकार बनाना चाहते हैं और वह अपने सतीत्व की रक्षा बड़ी चतुराई से करती हुई उन्हें कलशों में बन्द कर देती है। वे फिर राजा के पास दण्ड के लिए भेज दिए जाते हैं। द्वितीय शती ई० पू० के भरहुत स्तूप की वेष्टनी पर यही कथा अर्धचित्रों में उभारी गई है जिसमें तीन पुरुषों को पिटारों में बन्द दिखाया गया है।

परिशिष्ट-1

भारतीय दर्शन और ग्रीस

ऊपर के एक अध्याय में भारतीय और ग्रीक दर्शनों के कुछ प्रसंगों की परस्पर समानता की ओर संकेत किया जा चुका है। नीचे, इसी परिशिष्ट में, हम उस समानता का थोड़ा विश्लेषण करेंगे। यद्यपि इस प्रकार की समानता एक देश को दूसरे देश का अनिवार्यत: ऋणी नहीं बनाती, उन पर कुछ अपेक्षाकृत विस्तार से दृष्टिपात: संभवत स्थिति को स्पष्ट कर देगा।

वेदान्त दर्शन और 'इलीतिक' तथा अफलातून (प्लातोन, प्लेटो) की समता पर तुलनात्मक विचार किया गया है यद्यपि ऋण का विषय सर्वथा संदिग्ध है। पैथागोरस के संबंध में कहा गया है, और इस विचार की मान्यता संसार में प्राय: आम हो गई है, पर कुछ लोगों ने इस मान्यता पर आपत्ति की है। ऐसे विद्वानों में प्रमुख आर्थर बेरेडेल कीथ[1] हैं। उनका कहना है कि इस मान्यता के आधार सर्वथा कमज़ोर हैं। इसे स्वीकार करने का अर्थ है सांख्य और कपिल को सुदूर अतीत में रखना, संभवत: पांचवीं सदी ई० पू० से भी पूर्व, जो उनकी राय में, संभव नहीं। कारण यह कि इस प्राचीनता को स्वीकार कर लेने पर हमें हेराक्लेइतस्, एम्पेदोक्लीज, अनक्सागोरस्, देमोक्रीतोस् और ऐपिकूरस् के समूचे दर्शन-परिवार पर सांख्य का प्रभाव स्वीकार करना पड़ेगा जो समीचीन नहीं जान पड़ता। वे दोनों दर्शनों की समानता-सम्बन्धी स्थिति को भी इस मात्रा तक नहीं स्वीकार कर पाते जिस मात्रा तक वह बताई जाती है। इससे कहीं अधिक प्रभाव वह ज्ञेयतावादियों (ग्नोस्तिकों) और नौअफलातूनियों (नियोप्लातोनिस्तों) पर मानते हैं; यद्यपि साथ ही कीथ यह भी कहते हैं कि वह प्रभाव-सा लगने वाला अंश भी वस्तुत: ग्रीक दर्शन के औरस और स्वाभाविक विकास का परिणाम है।[2] परन्तु यह स्वीकार कर लेने के बाद कि भारतीय दर्शन की ये

---

1. रिलीजन एंड फिलासफी आफ दि वेद, अध्याय 29, जे० आर० ए० एस० 1909, पृ० 597 से आगे।

2. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० 501.

धाराएं ईरान में प्रतिष्ठित हो चुकी थीं जहां से वैचारिक यातायात ग्रीस के साथ संभव था।'[1] स्वयं भारत और ग्रीस के बीच इस संबंध को उसी तर्क से कैसे अस्वीकार किया जा सकता है ? इसके परिहार के साथ-साथ कीथ भारतीय न्याय (तर्क) के मूल के ग्रीस में होने की बात भी अस्वीकार करते हैं। इसी प्रकार, उनका कहना है कि, जैन और वैशेषिक दर्शनों में स्वीकृत अनुवाद के ग्रीस में आरम्भ होने की बात भी नहीं मानी जा सकती।[2] वे और भी कहते हैं कि अगर ग्रीस का भारत पर प्रभाव मान भी लिया जाए तब भी साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि उसने उस प्रभाव को पचा कर उस दर्शन को इस प्रकार साधकर अपना बना लिया है[3] कि वह स्वयं मूल बन गया है।

परिशिष्ट-2

भारत और ग्रीस के चिकित्सा-विज्ञान

ग्रीस और भारत के चिकित्सा-विज्ञान में विद्वानों ने अनेक समानताएं पाई हैं और परिणामस्वरूप उनका मूल खोजने के प्रयत्न किए हैं। दोनों में वात, पित्त, कफ के त्रिदोषों का सिद्धांत स्वीकृत है। ज्वर के त्रिरूपीय उपद्रव, ताप और शीत, शुष्क और तैल आदि द्वारा चिकित्सा दोनों में विहित है, दोनों में निदान और चिकित्सा में रोग के पूर्वनिर्देश का महत्त्व बताया गया है और दोनों में चिकित्सकों की शपथ, उनकी गोपनीयता, रोगी के संबंध के आचरण का प्रायः समान निरूपण हुआ है, दोनों स्वास्थ्य पर ऋतुओं का प्रभाव मानते हैं, दोनों स्थिति-विशेष में आसव का उपयोग भी आवश्यक मानते हैं। दोनों क्षयरोग को कष्टसाध्य मानते हैं और हृदय रोगों से प्रायः उदासीन हैं। गर्भ के बालक, भ्रूण के विकास, यमज (जुड़वें) के कारण, आठवें मास के गर्भ को सशक्त, सातवें को कमज़ोर मानने, भ्रूण को गर्भ से अलग करने आदि के संबंधों में दोनों के विचार प्रायः समान हैं। इसी प्रकार शल्य विज्ञान में भी पर्याप्त समानता है। पथरी के लिए आपरेशन में, रक्त स्रावण और उसके लिए जोंक के उपयोग में, नेत्र आदि की चिकित्सा, शल्य आदि के प्रयोग में भी दोनों एक दूसरे से अजनबी नहीं। कौन किस का ऋणी है सवाल उठता है तब यह जिसका जवाब साधारणतः संभव नहीं। आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में भी दर्शन की ही भांति इस प्रश्न का उत्तर दे पाना अनुसंधानों की वर्तमान स्थिति में संभव नहीं जान पड़ता। जहां तक

1, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० 501
2. वही
3. वही

भारतीय त्रिदोष की बात है उसके एक अंग 'वात' का उल्लेख अथर्ववेद तक में हुआ है और कौशिक-सूत्र में तो वह निरूपित है ही।

यह कहना, कि चूंकि क्तेसियस् (लग० 400 ई० पू०) और मेगास्थिनीज़ (लग० 300 ई० पू०) उत्तर भारत में रहे थे, शल्य चिकित्सा में भारत को ग्रीस का ऋण मान लेना चाहिए, कोई अर्थ नहीं रखता।[1] जहां तक पूर्वकालिकता की बात है यह ज़रूर स्वीकार करना पड़ेगा कि सिकन्दरिया में हिरोफिलोस् और इरासिस्त्रातोस् की शल्यशालाओं में तीसरी सदी ई० पू० में ही मानव-शव के चीड़फाड़ का कार्य प्रचुरता से होने लगा था, जबकि भारत में शव से परहेज़ काफी समय तक चलता रहा था। शल्यचिकित्सा पर 'चरक संहिता' में प्राचीन अध्याय प्रायः कोई नहीं और सुश्रुत में शल्य पर दो अध्याय और शल्यकार्य पर एक अध्याय है। पर इससे यह निष्कर्ष निकालना अयुक्तियुक्त होगा कि भारत इस क्षेत्र में ग्रीस का ऋणी है, क्योंकि ग्रीस शल्यशास्त्रियों को शरीर की हड्डियों, मांसपेशियों, रक्तधमनियों का इतना विस्तृत ज्ञान है कि यदि भारतीयों ने यह ज्ञान उनसे लिया होता तो सांगोपांग ही लिया होता। पर उनकी जानकारी तो इस क्षेत्र में स्वल्प है और जो कुछ है भी वह भी अधिकतर अटकलबाज़ी पर आधारित है। दोनों की अस्थिसंख्या में, हार्ले के विचार से,[2] ज़मीन-आसमान का फर्क है। फिर भी संभवतः रस, भस्म, वनस्पत्योषधि के ज्ञान में ग्रीस भारत का ऋणी है। कम से कम जब तक अशोक ने चिकित्सोपयोगी पौधों का आरोपण ग्रीस राज्यों में नहीं कराया था तब तक, यानी तीसरी सदी ई० पू० के मध्य तक, उन्हें ओषधियों के चिकित्सा में उपयोग का ज्ञान नहीं था।

इसमें भी संदेह नहीं कि तृतीय सदी ई० पू० के मध्य तक उपलब्ध चिकित्सा संबंधी ज्ञान तक पहुंचने के लिए भारत को अनेक मंज़िलें तय करनी पड़ी होंगी, सदियों अनुसंधान-प्रक्रिया के जंगल से गुज़रना पड़ा होगा। क्योंकि क्षयादि रोगों की ओर संकेत तो ऋग्वैदिक काल से ही मिलने लगता है, और यद्यपि अथर्ववेद में रोगों के निवारण के लिए दैवी कृपा अथवा टोनों-टोटकों पर ही अधिकतर निर्भर रहना पड़ा है, रोगों की अमित संख्या में परिगणन यह सिद्ध कर देता है कि लोग उस दिशा में सर्वथा उदासीन नहीं थे। फिर उस पुराकाल में भी अवश्य ऐसे अनेक जिज्ञासु चिकित्साक्षेत्र में रहे होंगे जिन्हें मात्र टोने-टोटकों से ही अभितृप्ति न होती रही होगी और उन्होंने निःसंदेह कुछ वैज्ञानिक प्रयत्न किए होंगे।

---

1. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० 515
2. ओस्टियालोजी, पृष्ठ 3 से आगे

ग्रीस और भारतीय गणित

गणित के क्षेत्र में भी ग्रीस और भारत के बीच आदान-प्रदान की बात कही गई है पर वह भी प्रमाणतः स्पष्ट कर सकना प्रायः कठिन कार्य है। उस पर यहां कुछ विचार व्यक्त कर देना समीचीन होगा।

रोमनों ने जब अफलातून आदि की एथेंस स्थित अकादमियां बंद कर दीं तब ग्रीस दार्शनिकों-गणितज्ञों को सागर पार मिस्र की सिकन्दरिया में और बाद में 530 ई० में खुसरो के फारस में शरण मिली। फारस में उनका रुकना दीर्घकाल तक नहीं हो सका। वैसे भी, अगले काल में कुस्तुन्तुनिया के पतन के समय की भांति, उन्हें शीघ्र ही अरबी आंधी के सामने भागना ही पड़ता। पर सिकन्दरिया में वे दीर्घकाल तक अपने ज्ञान-विज्ञान को साधते रहे थे। वहां दियोफांतोस् (लग० 260 ई०) के समय तक विकसित होने वाले गणित का तो लेखा-जोखा आसानी से लिया जा सकता है, पर शीघ्र ही 415 ई० में हुपातिया के मूर्ख जनसमुदाय द्वारा नृशंस वध के उपरान्त गणित का विकास वहां हुआ भी, और यदि हुआ तो कितना हुआ, इसका अन्दाज़ नहीं लगाया जा सकता।

इसमें सन्देह नहीं कि चौथी सदी तक ग्रीकों ने इक्वेशन (समीकरण) की दिशा में कुछ प्रगति कर ली थी। उनकी पहुंच पहले और दूसरे अंश, संभवतः कुछ संदर्भों में तीसरे अंश तक इक्वेशनों (समीकरणों) के हल में पहुंच गई थी, पर इससे आगे नहीं, जबकि भारत इस क्षेत्र में प्रगति की अनेक मंज़िलें पार कर चुका था। ब्रह्मगुप्त का ज्ञान इस क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ा हुआ था और उसने इक्वेशनों (इन्टिग्रल) के हल पूर्णतया पा लिए थे। इन्टिग्रल सोल्युशन के कारण-स्वरूप 'कम्पोजिशन' और भास्कर के वर्तुलीय विधान का ज्ञान ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य प्राप्त कर चुके थे। हैंकेल का कहना है कि अंकों के सिद्धांत में लाफ्रांग के पहले इतनी क्रान्तिकारी प्रगति नहीं हुई थी जितनी इन दो भारतीयों ने कर ली। इस ज्ञान की खोज, उसकी राय में, गणित के क्षेत्र में सबसे अधिक चमत्कारी प्रक्रिया थी। इन प्रसंगों के मूल की ग्रीस में खोज वस्तुतः तर्क की विडम्बना ही है। यह स्वीकार करना होगा कि भारत की प्रगति इस क्षेत्र में ग्रीस से कहीं आगे था, चाहे उसका ऋण ग्रीस पर प्रमाणित न किया जा सके।

भारी संख्याओं का उपयोग भारत में पर्याप्त पहले होने लगा था। अंकों के उपयोग में भी भारत ने पहल करके यह विधि अरबों के माध्यम से पश्चिम को दी और अंकों की स्थिति से उसके मूल्य का अन्तर भी भारत ने खोज निकाला, यह तो साधारण विश्वास है। इसमें फिर भी सन्देह नहीं कि संख्याओं अथवा अंकों का स्थितिपरक मूल्यन भारत में भी बाद के काल में ही कभी हुआ क्योंकि ब्राह्मी

और खरोष्ठी के अभिलेखों में उनके होने का प्रमाण नहीं मिलता। वस्तुत: तीसरी सदी ई० पू० के मध्य के अशोक के अभिलेखों में इसके विपरीत मिलता है जैसे अशोक 256 की संख्या लिखने के लिए शब्दों को 200, 50 और 6 द्वारा प्रकट करता है। नवीं सदी ईसवी से वैसे स्थान तथा मूल्य का भी भारत में प्रचुर उपयोग होने लगा था। योग भाष्य, आर्यभट्ट और वराहमिहिर तीनों अंकों के स्थान-मूल्य को जानते हैं और यद्यपि 594 ई० के एक अभिलेख में उनके उपयोग पर सन्देह व्यक्त किया गया है। अगर इन गणितज्ञों को, जो उसी काल के हैं, यह मूल्य-भेद ज्ञात है तो उनके समकालीन अभिलेखों में उनके उपयोग को सन्देह की दृष्टि से क्यों देखा जाए ? सीरिया में भारतीय अंकों का प्रचार 662 ई० से पहले ही हो चुका था, जैसा मसूदी के प्रमाण से सिद्ध है। उसने तभी पंडितों की एक परिषद् में अंकों का मूल ब्रह्म से होना बताया। इससे यह मानना पड़ेगा कि अंकों के स्थानपरक मूल्य के अनुसंधान और अंकों की खोज में भारत ने पहल की और ग्रीस से वह इस क्षेत्र में बहुत आगे था।

कुछ विद्वानों का यह कथन कि अरब भारत की अपेक्षा ग्रीस से गणित में अधिक प्रभावित थे, विशेष अर्थ नहीं रखता। कारण कि जिस मुहम्मद इब्न मूसा (782 ई०) को ग्रीस का ऋणी कहा जाता है उससे कम से कम दस साल पहले 771 ई० से ही अरबी विज्ञान (गणित ज्योतिष) भारतीय स्रोतों से निरन्तर योगदान लेने लगा था, और शीघ्र ही अरबी में आर्यभट्ट और ब्रह्मगुप्त के अनुवाद भी प्रस्तुत हो गए थे।

अध्याय-10

ग्रीक और भारतीय ज्योतिष

भारतीय ज्योतिष पर ग्रीक ऋण का संकेत अन्यत्र किया जा चुका है, पर उसका अपेक्षाकृत कुछ सविस्तार विवरण यहां अपेक्षित है।

भारत पर ग्रीक आक्रमणों के परिणामस्वरूप जो यहां अनेक यूनानी राज्य कायम हो गए थे उससे ग्रीक भाषा भी भारतीयों और उनकी भाषाओं के संपर्क में आई। भारत के कुछ उत्तर-पश्चिमी भागों में तो ग्रीक बोली, समझी और लिखी भी जाती थी। इसके प्रमाण उपलब्ध हैं कि जब तियाना का अपोलोनियस् तक्षशिला आया तब वहां के गैर ग्रीक राजा फ्रातिस ने ग्रीक भाषा में ही उससे बातें कीं। उस भारतीय राजा ने ग्रीक नाटकों का भी अध्ययन किया था। इसके पहले भी, ऐसी प्रसिद्धि है, राजा पोरस (यह सिकन्दरकालीन पोरस से भिन्न था) ने ई० पू० 22 में रोम के सम्राट् ओगुस्तस् को ग्रीक भाषा में पत्र लिखा था। इससे स्पष्ट है कि भारतीय भाषाओं में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ग्रीक शब्दों का समावेश हो गया था। संस्कृत में अनेक ग्रीक शब्दों का प्रयोग तभी होने लगा था, जैसे कलम, स्याही, लिखने की तिपाई, पटल और पुस्तक के लिए कलमोस, मेलन, पित्तकियोन, प्लाकोस और पुक्सियोन का प्रयोग, यद्यपि संस्कृत में उनके स्वरूप में कुछ भेद पाया गया है। इसी प्रकार ग्रीक शब्द 'सुरिंक्स' के पर्याय 'सुरंग' का उपयोग अर्थशास्त्र में पहले-पहल, संभवतः चौथी-तीसरी सदी ई० पू० में ही, हो गया था। जैसे ऊंट के अर्थ में मूल ग्रीक शब्द का उपयोग 'क्रमलक' (अंग्रेज़ी केमल) के रूप में।

ज्योतिष के क्षेत्र में कला के क्षेत्र की ही भांति भारतीय और ग्रीक संबंध घना है। 'गार्गी संहिता' ने प्राय. पहली सदी ई० पू० के लगभग ही ऐलान किया था कि 'यद्यपि यवन म्लेच्छ हैं पर चूंकि ज्योतिर्विज्ञान का जन्म उन्हीं के यहां हुआ, वे ऋषिवत् पूज्य हैं।' स्वयं वराहमिहिर ने छठी सदी ईस्वी में लिखा कि 'यद्यपि यवन (यूनानी) विदेशी हैं, पर ज्योतिर्विज्ञान उनके यहां फलफूल रहा है।' उस काल अनेक ग्रीक पंडित विविध विषयों के आचार्यों की भांति संभवतः भारत में रह भी रहे थे जिससे उनका और उनसे संबंधित विचारों तथा स्थानों का उल्लेख यवनाचार्य, यवनेश्वर, मणित्थ, यवनजातक, यवनसिद्धान्त, मयमत (जो असूरी भी हो सकता है पर ग्रीक माध्यम से ही) रोमक और पोलिस

सिद्धांत आदि शब्दों से हुआ है।

वराहमिहिर ने ज्योतिर्मण्डलों, ग्रहों और राशिचक्र के जिन विशेषित और लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग किया है वे ग्रीक हैं। उनके पांच सिद्धान्तों (पंच-सिद्धान्तिका) में से प्रायः सभी के लिए ग्रीकों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की गई है। सूर्य सिद्धान्त से स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त को सूर्य ने सर्वप्रथम रोमक (रोम) में सुरमय को बताया था। प्रमाणतः ज्ञात है कि ग्रीकों ने अपने ज्योतिष का अधिकांश बाबुलियों से पाया था। सूर्य द्वारा मय को ज्योतिर्विज्ञान का उल्लेख बाबुली सम्राट् हम्मुराबी को सूर्य द्वारा 'विधिसंहिता' दी जाने की बात याद दिलाता है। रोम का नाम इस प्रसंग में इस कारण आया है कि तब सिकन्दरिया का नगर, जो तब के ज्योतिर्विज्ञान का केन्द्र माना जाता था, रोमन साम्राज्य का ही अंग था। वराहमिहिर ने रोमक और पोलिस सिद्धान्तों का विदेशी होना स्वीकार किया है और यह महत्त्व की बात है कि रोमक सिद्धान्तों में भारतीय युग-व्यवस्था नहीं है, उसमें युग गणना की अपनी प्रणाली प्रयुक्त हुई है। उसमें उन्नीस वर्षों के मीतोनीय काल को 150 से गुणा करने की प्रणाली थी जिससे छोटे से छोटा युग भी चन्द मासों और साधारण दिनों की समायोजित संख्याओं में विभाजित किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त उसमें यवनों (ग्रीकों) के नगर यवनपुर (सिकन्दरिया) के याम्योत्तर के लिए गणना की गई है। इसी प्रकार पोलिस सिद्धान्त भी विदेशी प्रणाली थी जिस पर मुख्यतः पौलस अलेक्ज़ेन्द्रिनस् (378 ई०) का प्रभाव था। इसमें भी सारे पारिभाषिक शब्दों का उन्हीं अर्थों में उपयोग किया गया है जिनमें यूनानी लेखक ने अपनी कृति 'एइसागोगे' में प्रयोग किया है। इसमें एक स्थायी युग की प्रस्थापना नहीं की गई बल्कि उसको समय की छोटी अवधियों को लेकर विशेष रूप से निर्मित किया गया है और यवनपुर तथा उज्जयिनी की देशान्तर रेखाओं का अन्तर दिया गया है।

जैसा ऊपर कहा गया है, यूनानी आचार्यों में मय, मणित्थ, और यवनाचार्य का भारतीय ज्योतिषशास्त्र में उल्लेख हुआ है। एक यवन-जातक की नेपाली पांडुलिपि में एक बड़ा दुर्बोध और कटा-पिटा बयान मिलता है जिसका अर्थ है कि किसी अनुल्लिखित संवत् के 19वें वर्ष में किसी यवनेश्वर ने अपनी भाषा से एक कृति का अनुवाद किया जिसको राजा स्फूर्जीध्वज ने 191 वर्ष में 4,000 इन्द्रवज्रा छन्दों में प्रकाशित किया। वराहमिहिर के टीकाकार भट्टोत्पल ने एक यवनेश्वर स्फूर्जीध्वज की चर्चा की है जिसने एक संवत् का प्रयोग किया था और जो संभवतः उपरोक्त दो व्यक्तियों के रूप में स्मरण किया गया है। वराहमिहिर ने स्वयं एक यवनाचार्य की चर्चा की है जो शायद वही था। इस प्रकार उसका काल 169 ई० बैठता है। मीनराज या मीनराजा यवनाचार्य एक और यूनानी आचार्य था जिसको 'यवन-जातक' और एक अन्य कृति का रचनाकार माना गया

है। इस मीनराज की गाथाओं का यूनानी राजा मिनोस (क्रीत क्षेत्रीय यूनानी राजा मिनोस) बताया जाता है। मणित्थ की 'अपोतेलेस् माता' के लेखक मनेथो से तुलना की गई है जिसको वराहमिहिर से भिन्नमतीय और प्राचीन यूनानियों से सहमत माना गया है। यह व्यक्ति सिकन्दरिया का सुप्रसिद्ध लेखक हो सकता है जिसको मिस्र के फराऊन-वंशों का अनुक्रम स्थापित करने का श्रेय दिया जाता है।[1]

संस्कृत में यूनानी ज्योतिष के कुछ शब्द जैसे के तैसे ले लिए गए हैं, जैसे होरा (ग्रीक होरा), पनफर (एपनफोरा), अपोक्लिम्ब्र (अपोक्लिमा), हिबुक (हिबुको), त्रिकोण (त्रिकोन), जामित्र (दियोमित्रोन) और मेसूरण (मेसुरन)। कुछ लाक्षणिक शब्द समानार्थक शब्दों में बदल दिए गए हैं, जैसे लिप्तोन 'लिप्त' में, केन्द्रीय 'केन्द्र' में, दुतोन 'द्युतम' में, सुनफे 'सुनफ' में, अनफ 'अनफ' में, देकनोस 'द्रिकण' में। ग्रहों के लिए कुछ भारतीय नाम हैं हेली, हिम्न, अर, कोण, ज्यौ और अस्फुबित् जिनके यूनानी समानवाची मूल हैं हेलियस्, हरमिस्, अरेसे, क्रोनोस्, ज्यूस् और अफ्रोदीती। ग्रह चिह्न जो पहले बाबुली से यूनानी में अनूदित हुए, फिर यूनानी से संस्कृत में वे, निम्नलिखित हैं : क्रिया (ग्रीक क्रियोस्), तवूरी (तौरोस्), जितुम् (दिदुमोई), लेय (लियोन्), पाथोन (पोथेनोस्), जुक (जुगोन), कौर्प्य (स्कार्पियोस्), तौक्षिक (तोक्सोतिस्), अनोकेल (ऐगो-कोरोस्), हृद्रोण (हृद्रोखूस्), और इत्थ्य (इत्युस्)। कन्या, मिथुन, वृश्चिक, सिंह, वृषभ, मेष आदि संस्कृत राशि नाम भी स्पष्टतया सीधे अनुवाद कर लिए गए हैं।[2]

महत्त्व की बात है कि 60 के गुणज की षाष्ठिक प्रणाली का सर्वप्रथम उपयोग बाबुलियों ने किया। उनसे यूनानियों ने वह प्रणाली सीखी और बाद में उन्होंने उसे भारत पहुंचाया जहां वह स्वीकार कर ली गई। यह भी महत्त्व की बात है कि यद्यपि हिन्दुओं में जन्मकुण्डली प्राचीन काल से ही लोकप्रिय रही है, फिर भी संस्कृत में उसके लिए अपना शब्द नहीं है। उसके लिए भारतीय ज्योतिषी विदेशी ग्रीक शब्द 'होड़ाचक्र' का उपयोग करते हैं जो यूनानी 'होरस्' (सूर्य देवता) से बना है; चक्र तो 'साइकिल' है ही। इसी प्रकार यह भी कुछ कम अर्थपूर्ण नहीं कि हिन्दू विवाह के लिए अत्यंत पुण्यलग्न 'जामित्र', जिसमें कालिदास ने शिव और पार्वती के दैवी जोड़े को विवाह-सूत्र में बांधा था, मूल यूनानी शब्द 'दियोमित्रोन' का संस्कृत रूपान्तर मात्र है।[3]

इसी प्रकार भारत ने रोमनों से ग्रह-पंचांग और सप्ताह के ग्रहनाम लिए।

1. उपाध्याय, भारतीय संस्कृति के स्रोत, पृ० 60-61
2. उपाध्याय, भारतीय संस्कृति के स्रोत, पृ० 60-61
3. वही, पृ० 61-69

दियोकासियस् के अनुसार, जब 230 ई० में उसने लिखा था, तब तक ग्रहों के विषय में पंचांगी नाम प्रचलित हो चुके थे। भारत ने यहूदी-ईसाई सप्ताह स्वीकार कर लिया जिसमें क्रम यहूदी प्रणाली से रखा गया और नाम ईसाई प्रणाली से रखे गए। वराहमिहिर, जिसने रोमक (रोम) को श्रीलंका से 90° पश्चिम में माना था, इससे परिचित था और उसने इसका प्रयोग भी किया। रोमन सम्राट् कोंस्तान्तीन ने 321 ई० में रविवार को विश्राम का दिन निश्चित कर सात दिनों के सप्ताह को विधिवत स्वीकृति दी। इसके उपयोग का पहला उदाहरण 484 ई० के एक अभिलेख में मिलता है जिसके बाद उसका प्रयोग अप्राप्त है। फिर वह 800 ई० से अनेक पुरालेखों में प्रयुक्त होने लगा और उसका उपयोग समान्य हो गया।[1]

1. उपाध्याय, भारतीय संस्कृति के स्रोत, पृ० 64

अध्याय-11

भारत का पश्चिम से संबंध

(चौथी-छठी सदी ई०)

भारत और रोम

रोमन सम्राटों और कुषाणों के बीच के राजनीतिक संबंध का ज़िक्र पहले किया जा चुका है। धीरे-धीरे राजनीतिक संबंध बाद की सदियों में समाप्त हो गया। रोमन साम्राज्य को अनेक बार बर्बर जातियों के आक्रमणों के सामने घुटने टेकने पड़े। विज़िगाथों और श्वेत हूणों से रोमन सेनाओं को बार-बार परास्त होना पड़ा। विज़िगाथों के राजा अलारिक ने तो 3,000 पौंड भारतीय काली मिर्च के बदले रोम के नागरिकों को प्राणदान दिया और श्वेत हूण अत्तिल के आक्रमणों ने रोमन साम्राज्य की कमर तोड़ दी। फिर यह सोचकर कि विशाल और विस्तृत साम्राज्य की रक्षा कर पाना रोमनों के लिए संभव नहीं उन्होंने साम्राज्य के दो भाग कर दिए। पश्चिमी भाग की राजधानी रोम हुआ और पूर्वी साम्राज्य की राजधानी बिज़ान्तिअम (अगले युगों के कांस्तान्तिनोपुल, रूम और इस्तंबूल)। रोमन साम्राज्य के इस पूर्वी भाग से ही विशेषत: भारतीय राजाओं का संबंध हुआ और उन्हीं के साथ उनके दौत्य संबंध कुछ काल तक कायम रहे। उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

कुछ विवरण भारत और रोम, विशेष कर उसके पूर्वी साम्राज्य के बीच के व्यापार का पहले दिया जा चुका है। वह व्यापार पश्चिमी भाग के साथ तो अगली सदियों में स्वाभाविक ही कम होता गया पर पूर्वी भाग के साथ आने वाली सदियों में भी (चौथी और छठी ईस्वी सदियों के बीच) चलता रहा था, यद्यपि दक्षिण भारत में जो सिक्के मिले हैं उनमें से अनेक पश्चिमी रोमन साम्राज्य के सम्राटों के भी हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि उस पश्चिमी जगत् से भी भारत का संबंध सर्वथा टूट नहीं गया था, यद्यपि उनका पूर्वी साम्राज्य के माध्यम से भी भारत पहुंचना कुछ अजीब नहीं था।

इस काल के रोमन सिक्कों के भारत में मिलने से व्यापार के इतिहास पर कुछ प्रकाश पड़ता है। मदुरा में जो बड़ी संख्या में रोमन सिक्के मिले हैं वे दोनों साम्राज्य भागों के सम्राटों के हैं, पश्चिमी रोमन सम्राट ओनोरियस् (395-

423 ई०) और पूर्वी सम्राट् अर्कादियस् (395-408 ई०) के। सम्राट् ओनोरियस् के ही शासन काल में 408 ई० में अलारिक ने साम्राज्य को लज्जास्पद सन्धि करने पर बाध्य किया था।

दो सम्राटों के सोने के सिक्के मिले, पर बस एक ही एक। ये हैं कोंस्तान्तियस् द्वितीय (337-361), थियोदोसियस् द्वितीय (408-450) के। इनके दूसरे सिक्के त्रावणकोर में मिले हैं। त्रावणकोर में मार्कियन (450-457), लियो (457-474) और जुस्तिनस् प्रथम (418-527) के भी सिक्के पाए गए हैं। दक्षिण भारत में कुछ और रोमन सम्राटों से चलाए सिक्के भी मिले हैं, जैसे थियोदोसियस् प्रथम (379-395), बालेन्तिनियन् (364-375) और युदोक्सिया (401-404) के सिक्के। इस प्रकार चाहे राजनीतिक संबंध भारत के राजाओं और रोम-बिज़ान्तियम के सम्राटों के बीच कालान्तर में समाप्त हो गए हों, व्यापारिक संबंध एक हद तक कायम रहे थे। फिर भी इन सिक्कों में से कुछ अरबों द्वारा ही भारत पहुंचे हों तो कुछ आश्चर्य नहीं क्योंकि भारत का सीधा सम्बन्ध उन्हीं के जहाज़रानी द्वारा स्थापित हुआ था।

अरब और भारत

भारत और अरबों का सम्बन्ध इस्लाम के उदय के बहुत पूर्व से ही स्थापित था। वस्तुत: अत्यन्त प्राचीन काल में अरब सागर में सिवा अरब माझियों के किसी और का बोलबाला न था। नि:सन्देह ईरानी नाविकों का भी उस सागर और उसके माध्यम से होने वाले व्यापार पर दावा था, पर अरब नाविकों का ही वहां प्राधान्य था। उनके निरन्तर भारत आते रहने का यह परिणाम हुआ कि भारत के पश्चिमी सागर तट पर अरबों की अनेक बस्तियां बस गईं।

फारसी साहित्य में एक विचित्र कहानी कही गई है। उसमें सविस्तार कहा गया है कि एक भारतीय राजा पश्चिम का स्वामी हो गया था जिसका अधिकार तुर्की और फारस तक फैल गया था। उसने बड़ी सेना लेकर, जिसमें तुर्की और फारस के अपने सामन्त राज्यों से भी उसने कुछ सैनिक लिए थे, फिलिस्तीन पर आक्रमण किया पर दैवी सहायता से फिलिस्तीन के राजा ने उसे परास्त कर दिया। भारतीय राजा अपनी हारी हुई एक लाख सेना लिए भूमध्य सागर के तीर की ओर भागा। उसने जलमार्ग से भागने के लिए जहाज़ों पर अपनी सेना चढ़ाई पर नौविप्लव हो जाने से उसकी समूची सेना डूब गई। स्वाभाविक ही इस कहानी पर विश्वास नहीं किया जा सकता—यह सारी संभावनाओं से परे है—पर पश्चिमी एशिया की कहानियों में भारत का इस प्रकार का विवरण निश्चय पश्चिमी देशों से उसके सम्बन्ध का परिचायक है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि उस काल भारत की अपनी नौसेना थी या कम से कम उसके व्यापारियों के अपने

जहाज़ी बेड़े थे जो व्यापार की वस्तुएं लिए सागरीय यात्राएं किया करते थे। इन बेड़ों का उल्लेख अरबी और फारसी दोनों साहित्यों में मिलता है। बसरा के पास उस काल उबुल्ला नाम का एक बन्दरगाह था जिसका नाम ही 'भारत द्वार' पड़ गया था। उल्लेख मिलता है कि वहां से गवर्नर को सादा थल पर अरब बद्दुओं से और जल पर भारतीय बेड़ों से लड़ते रहना पड़ता था।

महत्त्व की बात यह है कि भारत चीन और पश्चिमी देशों—रोम, अरब, और फारस—के जलमार्ग के बीच पड़ता था और दोनों ओर के जहाज़ भारत होकर ही पूरब-पश्चिम जाया करते थे। चीनी साहित्य में भी पता चलता है कि अरब और फारस के साथ उसका व्यापार सम्बन्ध स्थापित हो गया था। यह सारा व्यापार भारत की राह से ही होता था। स्वयं चीनी यात्री ईत्सिंग भारत में फारस के ही जहाज़ से आया था। 720 ई० में चीन की यात्रा करने वाले भिक्षु वज्रबोधि ने लिखा है कि लंका के बन्दरगाह में उसने पैंतीस ईरानी जहाज़ देखे थे। रोमन लेखक आनियानस् मार्सेलिनस् चौथी सदी के उत्तरार्द्ध में लिखता है कि भारत से जो माल सागर से आकर फरात नदी से होकर आता था वह बात्ने नामक नगर की मंडी में उतार लिया जाता था। वहां के वार्षिक मेले में भारतीय वस्तुओं की बड़ी मांग होती थी। अरब तो भारतीय इस्पात से बनी तलवार के लिए दीवाने हो जाते थे। अरबी भाषा में 'कुरन फूल' (कर्णफूल) जैसे शब्दों का प्रचलन इस प्राचीन व्यापार-सम्बन्ध की याद दिलाता है। स्वयं अदन सदा से इत्र-फुलेल के व्यवसाय का केंद्र रहा था जहां से वह इन्हें तब के सभ्य संसार के सभी देशों को भेजता था। हिन्द और सिन्ध का नाम उस प्रसंग में विशेष रूप से लिखा मिलता है। इस्लाम के उदय से पूर्व ओमन में अरब के दक्षिणी-पूर्वी कोने पर बसा दाबा नाम का एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। उसके वार्षिक मेले में संसार भर से, और विशेष कर भारत से, चीन और ग्रीस के सौदागर माल ले जाते थे। कहना न होगा कि अन्य पश्चिमी देशों की ही भांति अरब और उसके पड़ौसी देशों में भारतीय गरम मसालों की बड़ी मांग थी।

व्यापार के अतिरिक्त विज्ञान और साहित्य में अरब का भारत से घना संबंध हुआ। अन्यत्र लिखा जा चुका है कि किस प्रकार भारतीय 'पंचतंत्र' का अनुवाद अरबी में हो चुका था जिस माध्यम में उसके यूरोपीय भाषाओं में भी अनेक अनुवाद हुए। भारत से सीखे हुए 'अंकों' को अरब पंडित 'हिन्दसा' कहते थे और 832 ई० में तो बगदाद में उन्होंने प्रसिद्ध शोधपीठ 'बायतुलहिकमा' की ही नींव डाल दी जहां सदियों भारतीय चिकित्साशास्त्र, गणित, ज्योतिष आदि के ग्रंथों के अनुवाद होते रहे थे। वहां अनुवाद में सहायता करने के लिए भारतीय पंडित भी रखे जाते थे। वहीं अनेक चीनी और ग्रीक विज्ञान के ग्रंथों के भी अनुवाद हुए।

'बरलाम और जोज़ाफत' की कथा का अन्यत्र उल्लेख किया जा चुका है। यह

कथा दमिश्क में वहीं के सन्त योहन (जान) ने आठवीं सदी में लिखी थी। उसमें बुद्ध सम्बन्धी अनेक कहानियां दी हुई हैं पर उसकी प्रधान कहानी वह है जिसमें बुद्ध ईसाई सन्त के रूप में निरूपित हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि बोधिसत्व गौतम ग्रेगरी तेरहवें (1582) के ग्रंथ 'मार्तिरालोजी'(शहीदों की संख्या) में दर्ज हो गए।

भारत और फारस

मध्य काल के आरम्भ में भी भारत का सम्बन्ध फारस से बना रहा जिसका विवरण पह्लवी ग्रंथों में भरपूर दिया गया है। इसी प्रकार के एक पह्लवी ग्रंथ में लिखा है कि हर्ष और पुलकेशिन् द्वितीय से प्राय: आधी सदी पहले देवसरम (देवशर्मन) नामक एक भारतीय राजा ने अपने दूतों को अनेक मूल्यवान वस्तुओं तथा शतरंज के मोहरों को देकर खुसरो प्रथम के पास भेजा था। फिरदौसी अपने 'शाहनामा' में लिखता है कि भारतीय राजा ने खुसरो प्रथम अनुशीखां के पास शतरंज के फलक के साथ कुछ खिलाड़ी भेजे जिन्होंने उस खेल सम्बन्धी कुछ समस्याओं के हल पूछे। अन्य फारसी और अरबी लेखकों ने भी यह स्वीकार किया है कि शतरंज (संस्कृत चतुरंग) का खेल भारत से फारस पहुंचा। इस प्रकार फारस से प्राय: सातवीं सदी में यह खेल अरब में पहुंचा जिनके माध्यम से उसका प्रवेश यूरोपीय देशों में दसवीं सदी के पहले ही हो गया।[1]

सर पर्सी साइक्स[2] ने तबरी, ईरानी इतिहासकार, को प्रमाण मानते हुए लिखा है कि अनुशीखां ने सेना भेजकर भारत के कुछ प्रांत जीत लिए थे। उस काल से सदियों बाद तक के इतिहास पर सामग्री प्राप्त होने के कारण इस कहानी की यथार्थता में सहज ही सन्देह किया जा सकता है। वास्तव में तबरी ने इस प्रकार की अनेक कहानियां लिखी हैं जिनकी ऐतिहासिकता संदिग्ध है। पर इसका मतलब यह भी नहीं कि उसने जो भी लिखा वह निराधार है। वैसे साधारणत: जिन घटनाओं का उसने ज़िक्र किया है नवीं-दसवीं सदी (838-923) का होने के कारण वह उनसे ज्यादा दूर, कालमान में नहीं है। उसने अपने कथन का प्रमाण वह पह्लवी ग्रंथ माना है जो खुसरो द्वितीय (590-628) की मृत्यु के शीघ्र ही बाद लिखा गया था। वह लिखता है कि बादशाह खुसरो के शासन काल के 36 वें वर्ष में एक भारतीय राजा ने उसके पास पत्र और उसके पुत्रों के लिए मूल्यवान उपायनों के साथ अपने दूत भेजे थे। पत्र पर, जो शाहज़ादों में से एक को 'निजी' लिख कर भेजा गया था, एक विशेष सन्देश भी था। उसमें

1. एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, "चेस."
2. हिस्ट्री आफ पर्शिया, पृ० 456.

भविष्यवाणी की गई थी कि वह दो वर्ष बाद सिंहासनासीन हो जाएगा। भारतीय राजा चालुक्य पुलकेशिन् द्वितीय माना जाता है जिसने 'उत्तरापथनाथ' हर्ष को परास्त कर उसके चीनी सम्राट के यहां अपने राजदूत भेजने के जवाब में ईरानी सम्राट् के पास अपने दूत भेज कर उससे मित्रता चाही थी। उसके जवाब में चालुक्यराज के पास खुसरो द्वितीय ने भी अपने दूत भेजे जिनका चित्रण अजन्ता के गुहा मन्दिर नं० 1 की छत में हुआ बताया जाता है। निःसन्देह उसमें चित्रित व्यक्तियों के परिधान ईरानी हैं। दूतों के अतिरिक्त दो और व्यक्तियों का चित्रण उसमें हुआ है जिनमें से एक स्वयं सम्राट् खुसरो द्वितीय का और दूसरा उसकी मलका शीरीन का माना जाता है। दूतों के आदान-प्रदान में सन्देह भी किया गया है पर परिधान आदि से-कम-से कम भारत और फारस के बीच बने संपर्क का प्रमाण अवश्य मिल जाता है। बाणभट्ट के 'हर्षचरित्र' के अनुसार हर्ष का प्रांगण फारसी अश्वों से भरा था।

अरबों की ही भांति फारस भी अनेक विज्ञानों में भारत का ऋणी था। इनमें चिकित्साशास्त्र प्रधान था। भारतीय आयुर्वेद शास्त्री ईरानी दरबार में रहते थे। पुस्तकों के प्रमाण से सिद्ध है कि सस्सानी सम्राट् अनुशीखां खुसरो प्रथम (531-579) के शासन काल में बर्ज़ूए नाम का वैद्य भारत आया था और उसने यहां चिकित्साशास्त्र तथा अन्य विज्ञानों का ज्ञान प्राप्त किया था। इस प्रकार भारतीय विज्ञानों का अध्ययन पश्चिमी देशों में आरम्भ हुआ और भारत का उन पर गहरा और दीर्घकालिक प्रभाव पड़ा। कहते हैं कि खुरासान के निवासी इब्न सिना (अविचेन्ना), जिसे सुल्तान महमूद ने अपने गज़नी के दरबार में रखना चाहा था और जो उससे जान छुड़ाकर स्वदेश भाग गया था, भारतीय चिकित्सा विज्ञान से बहुत प्रभावित था। उसी प्रभाव का यह परिणाम था कि उसने अपनी 'मेटीरिया मेडिका' (निदान-शास्त्र) लिखी जिसका उपयोग यूरोपीय डाक्टर अट्ठारहवीं सदी तक करते रहे थे। इब्न सिना ने यूरोपीय चिकित्सा विज्ञान और दर्शन दोनों को बड़ी मात्रा में प्रभावित किया था, यह निर्विवाद है।

भारतीय धर्म का प्रभाव भी ईरान आदि पश्चिम के देशों पर कुछ कम नहीं पड़ा। सातवीं सदी के प्रथम चरण के चीनी यात्री हुएन्तसांग ने उस छोटे-से देश, लांग-किए-लो, के विषय में, जो भारत के पश्चिम में पड़ता था और फारस के अधिकार में था, लिखा है कि वहां के बौद्ध विहारों में 6,000 भिक्षु रहते थे। वह बताता है कि वहां सैकड़ों देव मन्दिर (हिन्दुओं के) भी थे जिनमें से अधिकतर शैव धर्म के पाशुपत संप्रदाय के थे। चीनी ग्रंथों में तो यहां तक लिखा है कि स्वयं फारस में दो-तीन बौद्ध विहार और ब्राह्मण धर्म के अनेक देवालय थे। चीनी तुर्किस्तान के दन्दांउइलिक नामक स्थान के भित्तिचित्रों में से एक में बोधि-

सत्व का निरूपण ईरानी परिधान में हुआ है। वेशभूषा के अतिरिक्त उसे काली ईरानी दाढ़ी भी दी गई है और उसके बायें हाथ में वज्र है। प्रकट है कि बौद्ध कला ईरानी कलाओं से प्रभावित होकर उस पूर्वी इलाके में पहुंची थी। इससे प्रकट है कि धर्म और कला के क्षेत्र में भी भारत ने फारस को छठी-सातवीं सदी में प्रभावित किया था और दोनों पड़ोसी देशों में सदियों घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा था।

सातवीं सदी के बाद का काल स्वयं ईरान में ईरानी प्रभुत्व का नहीं रह जाता। उसपर खुसरो द्वितीय के बाद ही अरबों का अधिकार हो जाता है और ईरान के स्वतन्त्र अस्तित्व का लोप हो जाता है। उसके अग्नि पूजक ज़रथुस्थ्र के भक्त पारसी अरबों के मार्मिक उत्साह की कठोरता न सह सकने के कारण भारत में शरण लेते हैं और इस देश के विविध धर्मों की परम्परा में ईरान से आई यह एक ज़रथुस्त्री परम्परा भी आ जुड़ती है। पारसीक अग्निपूजकों का अविर्भाव इस काल से प्राय: आधी सहस्राब्दी पूर्व ही, पह्लवों के शासन काल में ही, भारत में हो गया था जैसा कि तक्षशिला की खुदाइयों में मिले ज़रथुस्त्री मन्दिर के खंडहर से प्रमाणित है। पर नि:सन्देह जिस शीघ्रता से उसके राजनीतिक संरक्षक भारत से गायब हो गए उसी शीघ्रता से भारत की धरती से उनका धर्म भी विलीन हो गया था। पर पारसीकों—अग्निपूजकों—के नवागमन ने भारत में नए बोध की एक लहर उठा दी जो इधर की सदियों में विशेष प्राणवती सिद्ध हुई। अट्ठारहवीं सदी के अन्त से लेकर उन्नीसवीं सदी तक प्राय: सौ वर्ष भारतीय राजनीति, अर्थ व्यवस्था और शिक्षा के क्षेत्र में इन पारसियों ने सफल और प्रगतिशील नेतृत्व किया।

भारत और ईरान का सम्बन्ध आर्य-ईरानी काल की दूसरी सहस्राब्दी ईसा पूर्व से आरम्भ होकर सातवीं सदी में सहसा समाप्त हो गया, कारण यह कि ईरान का स्वयं राजनीतिक सूर्य उसके क्षितिज पर डूब गया। यद्यपि ईरानी अरब साम्राज्य में भी अपनी प्रतिभा से अग्रणी रहे पर विधान और शासन तो अब अरबों का ही था। ईरान का संबंध आगे यदि भारत से हुआ भी तो अरबों के ही माध्यम से, या उन तुर्कों के माध्यम से जिनका अफगानिस्तान और ईरान पर बाद की सदियों में आधिपत्य हुआ। अगले अध्याय में हम अरब-भारत-संबंधों पर फिर विचार करेंगे, कारण कि वह एक महान सभ्यता के उत्कर्ष और विकास का काल है।

अध्याय-12

इस्लाम का उदय, हारूं-अल्-रशीद और भारत

इस्लाम का उदय

अरबों का प्राचीन रेतीला देश अरब अतीत काल से सभ्यता के निर्माताओं का देश रहा है। इसी के एक विशिष्ट कबीले ने ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में उन जनों को जन्म दिया जो बाद में यहूदी कहलाए और कालान्तर में जिन्होंने सारे संसार पर आर्थिक साम्राज्य स्थापित किया चाहे वे स्वयं जातियों की क्रूरता के शिकार होते रहे। उन्हीं में वे हज़रत अब्राहम (इब्राहिम) हुए जो अपनी यहूदी जनता को लिए अरब से निकल उस दिशा में चले जो उनके भगवान जेहोवा (यह्वा, यह्वे) का उनके लिए मनोनीत देश (फिलिस्तीन-जूदिया और इस्रायल) था और जिन्हें अपने संक्रमण काल में बाबुलीसम्राट हम्मुराबी के शासन काल (संभवत: उन्नीसवींसदी ई० पू०) में दज़ला-फरात के बीच के द्वाब के नगर ऊर में बसना पड़ा था और परिणामत: इतिहासकारों के ग्रंथों में वह नगर 'खल्दियों का ऊर' (ऊर आफ दि खल्दीज़) कहलाया। और जब कनानियों ने फिलिस्तीन में भूमध्य सागर के तीर पर पहले से होने के कारण, उन्हें वहां बसने नहीं दिया तब अब्राहम (इब्राहिम) मिस्र में जा बसे थे। प्राय: तीन सदियों बाद, संभवत: सोहलवीं सदी ई० पू० में, अनेक अत्याचारों के सहने के बाद यहूदियों के नये नेता हज़रत मूसा ने अपनी जनता के साथ फिर 'मनोनीत देश' की ओर संक्रमण किया और राह में साइनाई पर्वत (कोहेनूर) में यह्वे द्वारा दिए इलहामी 'दशादेश' (टेन कमान्डमेन्ट्स) प्रकाशित कर वे स्वयं तो मर गए पर उनके अनुयायियों ने फिलिस्तीन को अपना निवास बनाया।

उसी अरब में, जहां दज़ला-फरात के द्वाब की विविध सभ्यताओं के परिणाम स्वरूप 'ज़हालत' के युग में विभिन्न विश्वासों की मूर्तिपूजा का बोल-बाला था, कबीलाई जीवन का राज था, जहां परिवार में छठी सदी में मुहम्मद नाम के एक विचारक उत्पन्न हुए जिन्हें कहते हैं, हीरे की गुहाओं में, इलहाम हुआ जिसका संग्रह बाद में 'कुरान' में संग्रहीत हुआ। बड़े उत्साह से हज़रत मुहम्मद ने अपने एकेश्वरवादी इस्लाम का प्रचार आरम्भ किया जिसमें मूर्तिपूजा को धिक्कारा था, 'अल्लाह' जिसका एकमात्र ईश्वर था और स्वयं मुहम्मद जिसके पृथ्वी पर

'रसूल' और 'पैगम्बर' थे। अपने धर्म का प्रचार उन्होंने संभवत: 610 ई० में प्रारम्भ किया यद्यपि उसकी जड़ें अरब में 630 के बाद ही जम सकीं।

पर नये धर्म का विस्तार पहले भाईचारे और प्रेम के साथ नहीं हुआ, तलवार के ज़ोर पर हुआ, यद्यपि इस्लाम की सामाजिक सीमाओं के भीतर भाईचारे और प्रेम और परस्पर बराबरी का व्यवहार इस हद तक हुआ कि उस हद तक वह किसी धर्म में नहीं हुआ था। स्वयं मुहम्मद साहब को अरब में अनेक लड़ाइयां लड़नी पड़ीं और 630 में मक्का पर अधिकार हो जाने पर ही नये धर्म का प्रचार विशेष शक्ति और शीघ्रता से हुआ। भारत के साथ भी 712 ई० में अरब के इस नये धर्म का संबंध युद्ध के ही माध्यम से सिन्ध की विजय के बाद हुआ। हज़रत मुहम्मद की मृत्यु के अस्सी वर्ष के भीतर ही अरबों, अरबी खलीफाओं और इस्लाम का साम्राज्य पूर्व में चीन की सीमा से पश्चिम में स्पेन पार अतलांतिक महासागर तक की भूमि पर फैल गया। जिन बादशाहों ने मुहम्मद साहब के धार्मिक एलानिया पत्र की अवहेलना की थी वे सब शीघ्र ही धूलि में मिल गए। हां, चीन के तांग नृपति ने अवश्य उसके उत्तर में कहा कि 'चीन की ज़मीन विस्तृत है, उसका आसमान ऊंचा है, चाहे कितनी चौड़ी, लम्बी, चाहे जितनी ऊंची अपनी मस्जिदें बनाना चाहो इसकी ज़मीन पर इसके आसमान के नीचे बनाओ।'

इसमें सन्देह नहीं कि तलवार के ज़ोर से ही चाहे इस्लाम भारत में भी सिन्ध-विजय के बाद पहुंचा, उस धर्म के उदय से बहुत पूर्व ही अरब सागर के व्यापारिक जलमार्ग के स्वामी अरब नाविकों की अनेक बस्तियां मालाबार के पश्चिमी सागरतट पर बस चुकी थीं। और कुछ अजब नहीं कि नौसाधन से जुड़े होने से भारत में नए धर्म के उदय की खबर अरबी जहाज़ियों द्वारा और देशों से पहले ही पहुंची हो। एम० ए० गनी का तो कहना है[1] कि मुस्लिम भारत में 637 में ही आ गए थे और व्यापारियों और मुल्लाओं (मिशनरियों) ने यहां अपनी स्थायी बस्तियां बसा ली थीं। दसवीं सदी के बुज़ुर्ग बिन शहर्यार की कृति 'अजीब उल-हिन्द' को प्रमाण मान वे लिखते हैं कि इन नवागंतुकों का जीवन इतना पुनीत, धर्म के प्रति उनका इतना आग्रह और विश्व बन्धुत्व का सन्देश इतना सच्चा था कि स्थानीय लोग बड़ी संख्या में इस्लाम को स्वीकार करने लगे। उनका अनुमान है कि प्राय: पचास हज़ार की संख्या में प्रति वर्ष नये धर्म में लोग दीक्षा लेने लगे। नि:सन्देह इस संख्या की सच्चाई पर विश्वास कर पाना कठिन है।

दक्षिण भारत के लब्बों, नवायतों और केरल के मोपलों में भी इस प्रकार

1. प्रोसीडिंग्स आफ दि ओरिएंटल कान्फ्रेन्स, 10, पृ० 403

की परम्परा आज भी जीवित है कि उनके पूर्वज सातवीं सदी में भारत के सागर तीर अरब से आए थे। मोपलों का विश्वास है कि उनके पूर्वज हाशिम थे जो हज़रत मुहम्मद द्वारा अरब से निकाल दिए जाने पर भारत के पश्चिमी सागर तट पर मालाबार (केरल) में आ बसे थे और वे मोपला कहलाए। उल्लेख मिलता है कि मलिक मदीना नाम का एक मुसलमान कुछ मुल्लाओं के साथ मंगलौर के पास बसा। नवायतों में भी एक परम्परा बताई जाती है जिसके अनुसार उसके पूर्वज फारस की खाड़ी से ईरानी गर्वनर के अत्याचार से पीड़ित होकर सातवीं सदी के अन्त में यहां आ बसे थे। सोलहवीं सदी में लिखे, परन्तु प्राचीन परम्पराओं पर आधृत ग्रंथ 'तुहफात-उल-मुजाहिदीन' के अनुसार क्रांग-नूर का हिन्दू राजा इस्लाम ग्रहण कर अरब गया और वहीं मरा। उसी ग्रंथ के अनुसार, 200 हिजरी अर्थात् नवीं सदी में, उस राजा की मृत्यु के उपरान्त, इस्लाम का प्रचार मालाबार में दूर-दूर तक हो गया था। कुछ आश्चर्य नहीं जो कतिपय विद्वानों में प्रचलित धारणा सही हो कि केरल (मालाबार) के, जहां मुसलमानों की संख्या प्रचुर हो गई थी, शंकराचार्य ने अपना अद्वैतवाद उन्हीं से लिया और इस्लाम से प्रभावित हो नवीं सदी में एकेश्वरवाद का भारत में पहली बार प्रचार किया।

उत्तर-पश्चिमी भारत के सिन्ध में पर्याप्त इस्लामी बस्तियां उसकी 712 ई० में विजय के बाद बसीं। उससे पहले ही इस्लाम का प्रचार कराची के सागर-तट से लंका तक के अरबों में कुछ हद तक हो चुका था, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। कारण यह कि सिन्ध पर आक्रमण का प्रधान कारण लंका से उपहार में हज्जाज भेजी गई कुछ मुस्लिम कुमारियों को राह में दाहिर द्वारा रोक लेना ही बताया जाता है। 'छनामा' के अनुसार सिन्ध के राजा दाहिर की सेना में 500 अरब (मुसलमान) सैनिक थे जो खलीफा के अत्याचार के कारण लाचार होकर भारत भाग आए थे। पर इसका ऐतिहासिक प्रमाण विद्यमान है कि सिन्ध पर मुहम्मद कासिम के आक्रमण के समय उन्होंने अपने हिन्दू स्वामी दाहिर की ओर से अपने धर्म बन्धुओं पर प्रत्याक्रमण करने से इंकार कर दिया था और उनसे वे युद्ध के समय जा मिले थे। जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि अरबों द्वारा सिन्ध-विजय (712 ई०) से पूर्व ही अरबी मुसलमानों की बस्तियां भारत में बस गई थीं, और कुछ हिन्दू संभवत: स्वेच्छा से मुसलमान भी हो गए थे। अरबों की बस्तियां पश्चिमी तट पर पहले से ही बसी थीं, इससे इस्लाम के उदय के बाद उनमें नये धर्म के प्रचार के परिणामस्वरूप उनका मुसलमान हो जाना सहज और स्वभाविक था।

खलीफा हारूं-अल्-रशीद और भारत

ऊपर कहा जा चुका है कि किस प्रकार और कितनी कालावधि में चीनी तुर्किस्तान से स्पेन तक, सीरिया से मिस्र तक, के इलाकों पर अरबों का राज स्थापित हो गया था। रसूल पैगंबर के प्रतिनिधि खलीफा थे। वैसे तो खलीफा विरक्त फकीर माने जाते थे पर उनकी शक्ति और शानो-शौकत शहंशाहों जैसी थी। वस्तुतः रोमन जनरलों की ही भांति उनके सामने भी बादशाह श्रृंखलित होकर उन्हें मुजरा किया करते थे। इन खलीफाओं में से अनेक बड़े उदार और विचारशील भी थे। इन्हीं में, खलीफा हारूं-अल्-रशीद हुए।

750 ई० में खिलाफत उमैया खान्दान से अब्बासियों ने छीन ली। नये खान्दान के शासनकाल में अरबों का भारत से सीधा संबंध स्थापित हो गया और भारतीय ज्ञान का अजस्र स्रोत बगदाद की ओर बह चला। 762ई० में खलीफाओं की राजधानी दमिश्क से उठकर बगदाद चली गई और बगदाद सही माने में ज्ञानपीठ बन गया। उसे कहने भी 'दार-उल-उलूम' लगे। आठवीं सदी से दसवीं सदी का काल अरब ही नहीं समूचे पश्चिमी संसार के लिए ज्ञान के संदर्भ में अत्यन्त महत्त्व और समृद्धि का था। इसी काल में (830 में) बगदाद में 'बाय-तुलहिकमा' की नींव पड़ी जहां ग्रीक दर्शन और ज्ञान, भारतीय ज्योतिष, गणित और चिकित्सा, चीनी चिकित्साशास्त्र आदि का अध्ययन, अनुवाद और व्याख्यान हुए और इनका प्रचार पश्चिमी यूरोप में हुआ। उसका यूरोपीय वितरण-केन्द्र स्पेन पर अधिकार हो जाने पर कोरदोवा और पीछे तोलेदो से अरबों द्वारा हुआ। उन्होंने ही चीन से कागज़ और बाद में छपाई का प्रेस ले जाकर यूरोप को दिया और इस प्रकार यूरोप एशिया के ज्ञान का कुतूहलपूर्वक स्वीकार करने वाला भंडार बन गया। बगदाद की सत्ता समाप्त हो जाने पर यही कोरदोबा पीछे पूर्वी ज्ञान के वितरण का यूरोपीय केन्द्र बना जिसकी ज्ञानरश्मियों ने यूरोपीय इतिहास के अंधकारपूर्ण युग को अपनी प्रभा से यथाशक्ति आलोकित किया।

इस युग में अल-मंसूर (754-75), हारूं-अल्-रशीद (786-809) और अल् ममून (813-33) तीन खलीफाओं के शासन काल अरबी ज्ञान प्रसार के लिए विशेष महत्त्व के थे। इस बीच भारत और बगदाद के बीच बगैर ईरान के माध्यम से सीधा संबंध स्थापित हो गया था। अल्-मंसूर का तो सिन्ध पर सीधा शासन स्थापित था जिससे उसके दरबार में भारतीय दूतमंडलों का तांता ही लगा रहता था। अनेक भारतीय पंडित, चिकित्साशास्त्री, ज्योतिर्विद और गणितज्ञ बगदाद पहुंचकर वहां अपने ज्ञान का दान करने और विद्या का विकास करने लगे। अल्-मंसूर पहले (753 में) और जीवन काल (773) में भारतीय

दूतमंडलों के बगदाद पहुंचने का हवाला मिलता है[1] और गज़ना के महमूद के दरबारी पंडित अल्-बरुनी ने तो अपने ग्रंथों में बगदाद पहुंचने वाले भारतीय पंडितों का भूरिश: वर्णन किया है। वह लिखता है कि हिजरी 154 (771 ई०) में अल्-मंसूर के दरबार में जो सिन्ध से राजनीतिक दूतमंडल बगदाद भेजा गया उनमें एक हिन्दू पंडित था जिसने वहां अपने ज्योतिष-ज्ञान का सैद्धांतिक निरूपण किया। अल्-फ़राज़ी और याकूब इब्न तारीक ने, अल्-बरूनी लिखता है, जिस नक्षत्रचक्र का वृत्तान्त लिखा है कि वह ज्ञान इसी पंडित से बगदाद में उन्हें प्राप्त हुआ था। अल्-बरूनी, आगे लिखता है: इसी प्रकार 161 (778) में अल्-मंसूर के शासन काल के केवल तीन साल बाद एक भारतीय पंडित बगदाद पहुंचा जिसने याकूब इब्न तारीक को नक्षत्रों की परस्पर दूरी का रहस्य बताया।

खलीफा हारूं-अल्-रशीद को 'सहस्ररजनीचरित्र' आदि संग्रहों ने विशेष प्रसिद्ध कर दिया है। वह विद्याव्यसनी, उदार शासक, प्रजावत्सल और विद्वानों का संरक्षक था। उसकी विशेष रुचि साहित्य और दर्शन में थी। इसके अतिरिक्त वह योद्धा भी असाधारण था और उसकी सुरुचि की मर्यादा ज्ञान की परिधि तक ही सीमित न थी। रणक्षेत्र में भी उसके पौरुष की परख हो चुकी थी। उसने पूर्वी रोमन सम्राट् निकेफोरस् को द्वन्द्व युद्ध में परास्त कर 782 में कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार भी कर लिया था।

हारूं-अल्-रशीद के शासन काल में भारत और बगदाद के बीच संपर्क और घनिष्ठ हुआ। बगदाद के भारतीय ज्ञान का वितरण-केन्द्र हो जाने का एक विशेष कारण था। बलख एक समय ईरान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया की भारतीय बस्तियों की सांस्कृतिक सीमा पर बौद्ध अध्ययन का पीठ बन गया था। उसका 'नौबिहार' (नवविहार) बौद्ध ज्ञान का सम्मानित केन्द्र था जिसके महापंडित और स्थविर तथा आचार्य उस भारतीय कुल के थे जो बाद में अरबों और ईरानियों में 'बरमक' नाम से प्रसिद्ध हुआ। बरमकों से कालांतर में अरबों का केवल सीधा आध्यात्मिक विद्यात्मक संबंध ही नहीं हुआ बल्कि अल-मंसूर, अल्-रशीद और अल्-ममून ने तो बरमकों में से ही अपने मंत्री भी चुने खालिद पहला बरमक था जिसकी नियुक्ति सफ्फा और मंसूर के समय राजकीय कार्यों में हुई। खालिद का पुत्र यहिया था जिसे अल्-रशीद की तरुणाई में उसका शिक्षक बनाया गया था। इसी का यह परिणाम हुआ कि वह खलीफा इस प्रकार उदार और विद्याव्यसनी हुआ। उसने खलीफा होने पर यहिया को अपना प्रधानमंत्री बनाया। इस प्रकार ज्ञान और उदारता के साथ-साथ शक्ति के भी हाथ में आ जाने पर बरमकियों ने अपनी सुरक्षा का अमित विस्तार किया और विद्या प्रेम और उनके

1. दि एज आफ इम्पीरियल कनौज, पृ० 450

ही सानिन्ध्य से प्रभावित खलीफाओं की उदारता का ही यह परिणाम हुआ कि बगदाद अपनी ज्ञानवर्ती सक्रियता में उस काल के संसार में लासानी और अध्ययन का बेजोड़ केन्द्र बन गया।

बगदाद से थोड़ी ही दूर पर नस्तूरी ईसाइयों ने जुन्दिशपुर में ग्रीक दर्शन और विज्ञान के अध्ययन के लिए एक पीठ कायम किया था जहां ग्रीक ज्ञान के अतिरिक्त भारतीय ज्ञान-विज्ञान का भी अध्ययन और उनसे संबंधित ग्रंथों का अनुवाद होता था। खलीफा अल्-ममून ने 830 में बगदाद में भी इसी प्रकार के एक शोध-प्रतिष्ठान की नींव डाली, जो 'बायत-अल्-हिकमा' कहलाया और जो पीछे अरबी, भारतीय, ग्रीक, चीनी, सिंहली, ईरानी, लातीनी तथा यहूदी विद्वानों का क्रिया-स्थल बन गया। उसके साथ एक संग्रहालय, नक्षत्रशाला ओर ग्रंथागार भी कायम हुए। अल्-ममून का शासन-काल इस ज्ञान विकास का मध्याह्न है। उस काल ज्ञानगरिमा ने बगदाद के उस बायतलहिकमा में अपने विकास और क्रियाशीलता की चरम सीमा पर पहुंच गया। अल्-ममून के बाद भी, उसके उत्तराधिकारियों ने उस ज्ञान पीठ की प्रतिष्ठा कायम रखी और उसे अपनी संरक्षा की महिमा प्रदान की। बरमकी परिवार मुसलमान हो गया था। पर संस्कृत और भारत के प्रति उसकी निष्ठा बराबर बनी रही। उन्होंने अनेक भारतीय पंडित बगदाद बुलवाए और उनसे संस्कृत के ग्रंथों के अरबी में अनुवाद करवाए या उनके अनुवादकार्य में उनकी सहायता ली। तब का बगदाद भारतीय पंडित की दूसरी मातृभूमि बन गया था और वहां जाने वालों का तांता बंध गया था।

कहते हैं कि जब स्वयं हारूं-अल्-रशीद एक बार ऐसा बीमार पड़ा कि उसके जीवन की आशा छोड़ दी गई थी तब तक उसके प्रधानमंत्री बरमक यहिया ने भारत से एक वैद्य बुलाकर उससे खलीफा का इलाज कराया। खलीफा उसके इलाज से अच्छा हो गया और उसने उसे अपने राजकीय शफाखाना का प्रधान चिकित्सक बना दिया। किसी विदेशी के जीवन-मृत्यु से संबंध रखने वाले इस उत्तरदायी पद पर नियुक्त होने का संभवतः यह पहला उदाहरण था। फिर तो उस खलीफा के हृदय में भारत के आयुर्विज्ञान के प्रति इतना विश्वास बढ़ा कि उसने अनेक भारतीय चिकित्सा-ग्रंथों के अरबी में अनुवाद करवाए। जिस भारतीय वैद्य ने खलीफा को रोगमुक्त किया उसका नाम अरबी में 'मंख' लिखा है। यह बता पाना आज कठिन है कि इस नाम का भारतीय मूल क्या था—इस संबंध में अनेक सुझाव दिए गए हैं—यद्यपि स्वयं 'मंख' नाम भारत के लिए अनजाना नहीं है—एक कश्मीरी कवि का यह प्रकृत नाम था जिसका उल्लेख कल्हण ने अपनी 'राजतरंगिणी' में किया है। यह भी महत्त्व की बात है कि कश्मीर में आयुर्विज्ञान का अध्ययन भी प्रचुर मात्रा में हुआ था और चरक, सुश्रुत आदि पर वहां अनेक भाष्य लिखे गए। कुछ ग्रंथ के मुख्यांश नष्ट हो जाने पर इन्हीं कश्मीरी

भाष्यों से मूल के नष्टांशों पर प्रकाश पड़ा।

हारूं-अल्-रशीद ने अपने शासन काल में अनेक भारतीय ग्रंथों, जैसे चरक और सुश्रुत की संहिताओं, निदान, वाग्भट्ट के 'अष्टांगहृदय' का अनुवाद कराया। सुश्रुत संहिता का अनुवाद इसी मंख ने किया था। अनेक ऐसे भारतीय पंडित हैं जिनके नाम अरबी में दिए होने से उनकी पहचान नहीं हो पाती। सचाऊ ने अल-बेरुनी के अनुवाद में कुछ भारतीय-अरबी नामों के मूल पहचानने के प्रयत्न किए हैं, जैसे अत्रि, वेदव्यास, व्याघ्र आदि, पर इस प्रकार के प्रयत्नों के परिणाम पर भरोसा करना प्रामाणिक न होगा। इसी प्रकार कुछ अरबी नामों की पहचान जैसे 'दहन' का धनिन, भी संदेहात्मक ही है। इसे भी बरमकों द्वारा नियुक्त राजकीय चिकित्सालय का प्रधान चिकित्सक माना गया, जो संभवत: ऊपर लिखे मंख से भिन्न था।

हारूं-अल्-रशीद से भी पहले बगदाद में ब्रह्मगुप्त के गणित-ज्योतिष के ग्रंथ 'ब्रह्मस्फुट सिद्धांत' और 'खण्डखाद्यक' पहुंच चुके थे जिनके अनुवाद अल्-फज़ारी ने किए और जिनका ज़िक्र याकूब इब्न तारीक ने बाद में अपने ग्रंथ 'अरकीब अल्-अफ्लक' में किया। बायतल हिकमा में आर्यभट्ट और वराहमिहिर के ज्योतिष ग्रंथों का भी अध्ययन हुआ और वराहमिहिर के 'सूर्यसिद्धांत' का अनुवाद तो दसवीं सदी में स्वयं अल्-बरुनी ने किया। दशमलव, अंकस्थान और शून्य का अनुसंधान भारत ने ही करके अरबों को सिखाया जिससे संसार में वैज्ञानिक गणित की परम्परा चली। संभवत: अल् ख्वारिज़्मी ने, जो ज्योतिष, गणित और भूगोल का अरब आचार्य था, भारतीय अंकों का उपभोग पहली बार किया। इसने विश्व के वैज्ञानिक, गणित संबंधी अनुसंधानों में क्रांति उत्पन्न कर दी। ऊपर लिखा जा चुका है कि फरात के तीर पर हुए विद्वानों के एक सम्मेलन में सातवीं सदी के मध्य सीरियक पंडित सेवेरस् सेबोख्त ने कहा था कि 'ज्योतिर्विज्ञान के क्षेत्र में भारतीयों के अनुसंधान ग्रीकों और बाबुलियों के प्रतिभावान अनुसंधानों से कहीं अधिक सूक्ष्म हैं।'[1] इसी प्रकार मैक्डोनेल ने लिखा है कि 'विज्ञान के क्षेत्र में भी भारत के प्रति यूरोप का ऋण पर्याप्त है। पहली बात और महान् महत्त्व की बात तो यह है कि भारतीयों ने अंकों का अनुसंधान किया जिनका उपयोग सारा संसार करता है। उन अंकों पर आधृत दशमलव सिद्धांत का प्रभाव केवल गणित तक ही सीमित नहीं, बल्कि उसका प्रभाव साधारण सभ्यता की प्रगति पर भी पड़ा है, यह कहना रंचमात्र भी अतिरंजना नहीं। आठवीं और नवीं सदियों में भारतीय अंकगणित और बीजगणित के अरबों के शिक्षक-आचार्य बन गए थे, सो अरबों के माध्यम से वे पश्चिम के राष्ट्रों के भी शासक बने। परिणामत: जो नाम हमने

1. दि एज आफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ० 450

बीजगणित का अरबी (अल्-जेब्रा) स्वीकार किया है, वस्तुत: उसके लिए हम भारत के ऋणी हैं।'[1] अल्-अन्दलूसी 'तबकात अल्-उलाम' में लिखता है कि भारत ज्ञान, कानून और राजनीति का भंडार है। लोगों की मान्यता थी कि भारतीय वैज्ञानिक संख्याओं (अंकों) के सिद्धांत (इल्म अल्-अदाद) ज्योमिति और ज्योतिष के आचार्य हैं और चिकित्सा के विज्ञान में संसार की सारी जातियों में अग्रणी हैं।[2] नवीं सदी में अल्-मिन्दी (अरबों में सबसे महान् दार्शनिक) ने भारतीय गणित का सहारा लेते हुए अपना प्रसिद्ध 'हिसाबुल हिन्द' लिखा। अरब ज्योतिर्विदों में सबसे महान् मुहम्मद इब्न जाबिर अल्-बतानी (877-918) ने जो अपने अनुसंधानों के ज़रिये ग्रीक विज्ञान को यूरोप से विदा कर अपने अरबी गणित के सिद्धांतों से मध्यकालीन यूरोप को चकित कर दिया था और जिसके अनुपात (रेशियो), साइन और टैन्जेन्ट सर्वत्र पश्चिम में व्यवहृत होने लगे उन सबका मूल आर्यभट की ज्योमिति थी।[3] वहां के पंडितों में विशिष्ट अल्-ख्वारिज़्मी था जो भारतीय ज्योतिष और गणित का विद्वान् तो था ही वह भारतीय भाषाओं का भी ज्ञाता था। उसके विचारों ने यूरोप को प्रभूत प्रभावित किया। इन विद्याओं में दक्ष अल्-फराबी (870-950) का भी तब के अरबी संसार में असाधारण सुयश फैला।

अल्-बरुनी का नाम अरबी पंडितों में सबसे अधिक विख्यात है। अपने 75 साल (973-1048) के जीवन काल में उसने अपने समकालीन और पश्चात्कालीन ज्ञान-विज्ञान की जानकारी को बहुत बढ़ाया। पहले तो उसने संस्कृत का भरपूर अध्ययन कर उस पर पूरा अधिकार कर लिया। उसने पुराणों का भी अध्ययन किया और पंडितों से भारतीय ज्ञान के संबंध में विशद चर्चाएं कीं। वह लिखता है कि भारतीय पंडित बड़े अभिमानी हैं, अपने पुराणों आदि पर असाधारण विश्वास करते हैं पर अनेक बार तर्क का सही उत्तर न दे पाने पर बगलें झांकने लगते हैं। वह गज़ना के तुर्क सुलतान महमूद की सभा का पंडित था, उस सभा का जिसके दरबार में फिरदौसी, अल्-उतबी आदि कवि और दार्शनिक विद्वान् रहते थे। उसने भारत के सुदूर प्रांतों में भ्रमण भी किया। 'तारीख अल्-हिन्द' में उसने भारतीय इतिहास का कुछ विवरण दिया और 'अल्-अतहर अल्-बकीया अन अल् कुरान अल्-खालिया' में उसने इतिहास के कुछ अनुक्रम दिए तथा कुछ तिथियों पर प्रकाश डाला। उसने काबुल और उद्भाण्ड-पुर के 'साहियों' का बयान लिखा और 'तुर्क' और 'हिन्दू' साहियों के विवरण

1. हिस्ट्री 'आफ संस्कृत लिटरेचर पृ० 424
2. डी० पी० सिंघल, इंडिया एंड वर्ल्ड सिविलाइज़ेशन, भाग 1, पृ० 145
3. वही, पृ० 147

लिखे। उसके इतिहास से भारतीय इतिहास की कुछ समस्याओं पर भी प्रकाश पड़ा है। उसने पतंजलि के 'योगसूत्रों' पर 'किताब पतंजल' और कपिल के सांख्य (सांक) के व्याख्यायुक्त अनुवाद किए। अपने 'किताब अल्-बयान' में उसने भारतीय अलंकारों का भी विवरण दिया है। अल्-बरुनी अरस्तू की ही भांति बहुमुखी प्रतिभा का पंडित था। उसका अधिकार गणित, भौमिकी, ज्योतिष, ज्योमिति सभी पर समान रूप से था जिन पर उसने विशद परिमाण में ग्रंथ लिखे।

जिन विविध विज्ञानों में अरब पंडित भारतीय आधार से पारंगत हुए और जिन्हें उन्होंने यूरोप में फैलाया, आयुर्विज्ञान उनमें विशेष महत्त्व का था। उस विज्ञान के पाण्डित्य में दो अरबी विद्वानों ने विशेष प्रतिष्ठा पाई। दोनों ही मुसलमान परंपरा और अरबी विचारधारा में विकसित हुए थे पर दोनों ही नस्ल से ईरानी थे। ये थे अबू बक्र इब्न ज़करिया अल्राज़ी (865-925) और अबूअली इब्न सिना (अविचेन्ना)। इब्न सिना को अपने दरबार का पंडित बनाने के लिए महमून ने हज़ार प्रयत्न किए पर वह उसके चंगुल से भाग निकला। अल्-राज़ी और इब्न सिना भारतीय आयुर्विज्ञान के महान् ज्ञाता थे और उनके माध्यम से भारतीय चिकित्सा सिद्धांत का यूरोप में भरपूर विस्तार हुआ। वह ग्रीक और भारतीय दोनों चिकित्सा पद्धतियों का माहिर था, स्वयं असाधारण विशिष्ट वैद्य पर भारतीय प्रणाली को वह अधिक महत्त्व देता था। इब्न सिना ने यूरोप में अविचेन्ना नाम से आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में प्रसिद्धि पाई। उसका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। वह विविध विषयों का पंडित था। उसने प्रायः 200 पुस्तकें लिखीं जिनमें से लगभग 100 चिकित्साशास्त्र पर थीं। उसकी प्रसिद्ध कृति 'अल् हावी' का लातीनी में अनुवाद क्रेमोना के गेरार्द ने किया जो इब्न सिना की मृत्यु के प्रायः सात सौ साल बाद तक यूरोपीय आयुर्विज्ञान के विद्यालयों में पढ़ाई जाती रही और जो सत्रहवीं सदी तक यूरोपीय डाक्टरों के लिए एकमात्र संदर्भ ग्रंथ बनी रही।

इब्नवशिया, जाबिर, मैमंडी सभी चरक आदि की संहिताओं से प्रभावित थे। इसी प्रकार अरब संसार का अनुपम दार्शनिक अल् किन्दी (मृत्यु 850), जिसने प्रायः 265 पुस्तकें लिखीं, भारतीय चिकित्सा-शास्त्र का भी जानकार था। बायतलहिकमा की स्थापना से कुछ पूर्व से लेकर उसके सौ-डेढ़ सौ साल बाद तक संस्कृत के इतने ग्रंथों के अनुवाद अरबी में हुए कि दसवीं सदी में भारत का भ्रमण करने वाले अहमद बिन याकूब बिन जफर ने तब तक हुए अनुवादों की एक सूची ही बना डाली। मुहम्मद बिन इसहाक इब्न अल्-नादिम ने जो अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'किताब अल्-फेहरिस्त' बनाई उसमें भी भारतीय ग्रंथों का निःशेष विवरण उसने दिया।

ऐसा भी नहीं कि अनुवाद एकतरफा ही हुए हों और केवल भारतीय पुस्तकों के ही अरबी में अनुवाद होते रहे हों। अरब-भारत के इस संबंध का भारतीयों ने भी लाभ उठाया। 1658 में पं० कमलाकर ने जो अपना 'सिद्धांतविवेक' लिखा उसमें अरबी ज्ञान का सहारा लिया। जयसिंह ने फारसी से ज्योतिग्रंथ 'ताजिकी' का संस्कृत में अनुवाद कराया। 'ताजिक' शब्द 'तैजी' से बना है जिसका अर्थ ही 'अरबी' होता है। नीलकंठ ने 1587 में 'संज्ञातंत्र' और 'वर्षातंत्र' के दो भागों से संयुक्त अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'ताजिक' लिखा। भयभंजन शर्मा का 'रमलरहस्य' अरबी-फारसी प्रभाव का ही परिणाम था जो भारत में इस्लाम के सदियों पहले स्थापित हो जाने के बाद मुस्लिम शासन में ही लिखा गया। 'रमल' के द्वारा भी भविष्य की गणना फलित ज्योतिष के विधान की ही भांति की जाती है। कुछ आश्चर्य नहीं जो तैमूरिया खान्दान के हुलागू खां आदि के तत्वावान में बने नक्षत्र दर्शन में प्रयुक्त समरकंद की वेधशाला के ही प्रभाव से भारत के प्रसिद्ध दिल्ली, जयपुर, उज्जैन और काशी के 'मानमन्दिर' बने हों।

नवीं और दसवीं सदियों में अरबी दुनिया से अनेक यात्री भारत आए, उन्होंने देश में लंबी-लंबी यात्राएं कीं और उनके विस्तृत वृतांत लिखे। प्रसिद्ध अरब यात्री इब्न हौकल ने दसवीं सदी में भारत भ्रमण किया। उसकी यात्रा के समय दकन और दक्षिण-पश्चिमी भारत पर राष्ट्रकूट नृपति राज कर रहे थे। वह लिखता है कि राष्ट्रकूटों के राज्य में अनेक ऐसे नगर थे जिसमें मुस्लिम बस्तियां बस गई थीं और राजा इतने उदार थे कि मुसलमानों पर शासन करने के लिए मुसलमान अधिकारी ही नियुक्त करते थे। वह यात्री लिखता है कि पश्चिमी भारत के अनेक नगरों में जामा मस्जिदें थीं जिनमें नियम् आज़ान, नमाज़ आदि पढ़े जाते थे, विधिवत् वहां इस्लाम् के ग्रंथों का शिक्षण होता था और इस्लाम के धार्मिक नियम बरते जाते थे।

इब्न हौकल और अल्-बरुनी के अतिरिक्त जिन अरब यात्रियों ने भारत भ्रमण कर अपने वृतान्त छोड़े हैं उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—बुजुर्ग बिन शहर्यार, सुलेमान, अबू ज़ईद सिराफी, दुखाफ बिन मुहलहिल, इस्तखारी, मसूदी, मुकद्दिसी, इब्न बतूता।

भारतीय विज्ञानों—गणित, ज्योतिष, चिकित्सा आदि—साहित्य—पंचतंत्र आदि—और दर्शन ने तो अरब के संसार को प्रभावित किया ही उसके धार्मिक आन्दोलनों और मत-मतांतरों के प्रभाव से भी पश्चिमी एशिया की जनता प्रभावित हुए बगैर न रह सकी। रहस्यवाद, विशेषकर तसव्वुफी रहस्यवाद, में तो भारत का अमित योग रहा है। तीतस (टाइटस्) का तो कहना है[1] कि विचारों,

1. इण्डियन इस्लाम, पृ० 149।

धार्मिक अभिव्यंजनाओं-कल्पनाओं और व्रतादि आचरणों पर बौद्ध और वेदान्त का गहरा प्रभाव पड़ा। वह लिखता है कि अब्बासी खिलाफत के समय भारतीय यायावर भिक्षुओं और साधुओं के आचार-व्यवहार-संयम अरब देशों में आदर के साथ देखे जाते थे।[1] सूफी सन्तों पर भारतीय साधुओं की स्वच्छन्दता का प्रभाव पड़ना तो स्वाभाविक ही था। जानी हुई बात है कि अल्-मंसूर और अल्-रशीद के शासन काल में अनेक बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद अरबी में हो चुके थे जिनका प्रभाव उनके पढ़ने वालों पर पड़े बगैर नहीं रह सकता था।[2] 'जुहद' (तपपरक जीवन) इसी प्रकार के प्रभावों का परिणाम था। पंडितों का कहना है कि नवीं सदी के अल्-जाहीज़ ने जिन 'निन्दीक'(सिन्धी, हिन्दी ?) साधुओं का ज़िक्र किया है, वे निश्चय या तो हिन्दू साधु थे या बौद्ध भिक्षु।[3] ऐसे घुमक्कड़ों का प्रभाव निःसंदेह अरब दार्शनिकों पर भी पड़ा। इनमें से कम-से-कम एक दार्शनिक पर हुए गहरे प्रभाव का उदाहरण तो दिया ही जा सकता है। अबू-अल्-अला अल्-मआरी (973-1057), जो अल्-बरुनी का समसामयिक था, और जिसे 'दार्शनिकों का कवि और कवियों का दार्शनिक' कहा गया है, भारतीय आचार-विचारों से इस प्रकार प्रभावित हो गया था कि उसने भारतीय सन्तों का सा शाकाहारी भोजन और एकान्तवासी जीवन अपना लिया था।[4]

अध्याय समाप्त करने से पहले यह समीचीन होगा कि भारत में भारतीय और इस्लामी देशों के संबंध के परिणामस्वरूप सूफी सन्तों का जो आगमन और प्रचार हुआ उसका कुछ विवरण दे दिया जाए। सिन्ध-विजय के फलस्वरूप सिन्ध में कुछ हिन्दू वहां पर हुए बल के प्रयोग के कारण मुसलमान हो गए पर साधारणतः अरबों की बस्तियां बस जाने पर भी हिन्दुओं की स्वेच्छा से नये धर्म के प्रति विशेष अभिरुचि नहीं हुई। परन्तु भारत पर गज़नवी हमलों के बाद वहां निश्चय प्रभावात्मक प्रसार इस्लाम और उसके धार्मिक विचारों का हुआ। उसके प्रचारक सूफी सन्त थे।

भारत आने वाला पहला जाना हुआ सूफी सन्त लाहौर का शेख इस्माइल था। उसका भारत आगमन ग्यारहवीं सदी में ही हो गया था। प्रसिद्ध दाता गंज बख्श (1072 में) उसी का चेला था। दाता गंजबख्श का वास्तविक नाम शेख अली बिन उस्मान अल-हुजवैरी था। भारत में सूफी विश्वास का वास्तविक प्रवर्तक यही था। उसने अनेक पुस्तकें लिखीं जिनमें सबसे प्रसिद्ध 'कश्फ अल्-महजूब' है। उसके महत्त्व को अजमेर के प्रसिद्ध सूफी सन्त ख्वाजा मुइनुद्दीन

1 वही, पृ० 147
2. डि वोर, टी० जे०, हिस्ट्री आफ दि फिलासफी आव इस्लाम, पृ० 9
3. हित्ती, पी० के०, हिस्ट्री आफ दि अरब्स, पृ० 435
4. इंडियन इस्लाम, पृ० 458-59

चिश्ती ने स्वीकार किया और उससे स्वयं दीक्षा ली। स्वयं मुइनुद्दीन चिश्ती भारत के सूफी सन्तों में सबसे महान् थे। प्राय: उसी काल के सूफी सन्त लखी-दाता (सैयद अहमद सुलतान सखी सरदार) जो मुलतान के पास शाहकोट में 1181 में मरे, आज भी इनके अनुयायी, हिन्दू-मुसलमान दोनों, बड़ी संख्या में हैं जो 'सुलतानी' कहलाते हैं। ये दोनों पंजाब में लोकप्रिय हुए। इनके गीत आज भी वहां गाये जाते हैं।

ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती, जिसने अपने चेलों की एक लंबी परम्परा स्थापित की, चिश्त के सन्त ख्वाजा उस्मान हरवानी के चेले थे। वे 1161 में गज़नी से लाहौर पहुंचे, फिर अजमेर में रहने लगे जहां उनकी मृत्यु हुई। उनके चेले कुतुबुद्दीन बख्त्यार काकी (ऊश में जन्मे) ने दिल्ली में डेरा डाला। इसी काल बहाउद्दीन ज़करिया ने मुलतान में नया सूफी पन्थ चलाया। ये प्रसिद्ध सूफी शिहाबुद्दीन सुहरावदी से मिल चुके थे। इनके चेले 'सुहरावदी' कहलाए। इनके ही पन्थ में, सूफी सन्त मखदूम लाल शहबाज़ कलन्दर हुए जिनके चेले हिन्दू मुसल-मान दोनों हुए और जिसको 'राजा भरथरी' (भर्तृहरि) मानकर सारंगीधारी उनके गीत गाते फिरते हैं।

अध्याय-13

पश्चिम में भारतीयता के जिप्सी प्रचारक

जिप्सियों के संबंध में पहले थोड़ा लिखा जा चुका है परंतु उनका भारतीय परंपराओं का पश्चिम में विस्तार करने में इतना योग रहा है कि उन पर एक स्वतंत्र अध्याय की आवश्यकता उचित जान पड़ती है। 'पंचतंत्र' की कथाओं अथवा अन्य भारतीय कहानियों के उनके द्वारा 'पश्चिम' में प्रसार की ओर संकेत किया जा चुका है।

यूरोपीय पंडितों का, संभवतः उनके रंग और अन्य कारणों से, यह विश्वास हो गया था कि जिप्सी 'ईजिप्त' अथवा मिस्र से यूरोप गए, इससे उन्होंने उनका यह नाम रख दिया। आज जिप्सी समूचे संसार में प्रायः एक करोड़ की संख्या में फैले हुए हैं। अकेले यूरोप में इनकी संख्या अस्सी लाख से ऊपर है, और अब तो ये आस्ट्रेलिया-न्यूज़ीलैंड तक फैल गए हैं। अमेरिका—उत्तरी और दक्षिणी—में इनका निवास तब आरंभ हुआ जब ये इंग्लैंड, स्पेन, पुर्तगाल आदि यूरोपीय देशों से निकालकर वहां भेज दिए गए।

जिप्सी कौन हैं, इस संबंध में विद्वानों के विभिन्न मत थे पर अब जान कोचानौस्की, जान-पाल क्लेबर्ट (ज़ां-पोल क्लेबेर), ली लैंड, जार्ज बारो, इर्विंग ब्राउन, ब्रियांविज़ी-फिज़्जेराइल्ड, बर्टन आदि की खोजों ने उन्हें मूलतः भारतीय मान लिया है। भारत में कंजरों या बन्जारों के कबीलों को तम्बू, गाड़ी, मवेशी लिए उत्तर भारत में घूमते जगह-जगह गांवों के बाहर पड़ाव डालते और अवसर पाकर चोरी करते पाया जाता है। इन जिप्सियों का यूरोप में प्रायः यही रूप है। वे भारतीय (उत्तर प्रदेश और बिहार में) 'डोमों' की तरह सूप, टोकरियां आदि भी बनाते फिरते हैं और बड़े तथ्य की बात यह है कि वे अपने को 'डोम' कहते भी हैं।[1]

---

1. प्रायः पचीस साल हुए आर्मीनिया, तुर्की, ईरान और ईराक में मुझे कुछ जिप्सी परिवारों से मिलने का अवसर मिला। मैंने विशेषकर ईरान, ईराक और तुर्की की सरहद पर कुछ नाचते-गाते जिप्सियों से बात की, और प्रायः शुद्ध भोजपुरी में, और हम दोनों एक दूसरे की बातें समझ गए थे। मैंने पूछा, 'रोम हो,' उसने दूर पच्छिम रोमानिया-हंगरी की ओर हाथ उठाकर कहा, 'रोम—दराज।' मैंने पूछा—लोम ? (अष्टाध्यायी के सूत्र 'रलयोरभेदाः'—'र' और 'ल' एक दूसरे में बदल जाते हैं की याद आ गई)। उसने

जिप्सी भारत से बाहर कब गए, यह कह सकना कठिन है। निश्चय वे अनेक धाराओं में बंटे सदियों से बाहर जाते रहे हैं। यद्यपि महानदियों की घाटियों की सभ्यता में पली जातियां अधिकतर अपना देश छोड़कर बाहर नहीं जातीं, कभी-कभी विषम परिस्थितियों के आ जाने पर उन्हें भी अपने प्रिय स्थानों को छोड़ना पड़ता है। प्राचीन काल में ऋग्वैदिक जनों में से द्रुह्युओं के भारत छोड़कर बाहर चले जाने के उल्लेख मिलते हैं। इसी प्रकार पुराणों में भी प्रचेतसों के भारत से बाहर जाकर 'म्लेच्छों' में जा बसने की बात कही गई है। म्लेच्छों से तब तात्पर्य होता था उन जातियों से जिनमें वर्ण-व्यवस्था प्रचलित न थी। महाभारत और ऐतरेय ब्राह्मण में भी कथा दी हुई है कि किस प्रकार जब जनमेजय के अश्वमेध यज्ञ को पुरु-कावषेय ने भ्रष्ट कर दिया तब श्रुतसेन, भीमसेन आदि उनके भाइयों ने हज़ारों ब्राह्मणों को तलवार के घाट उतार दिया और जो बचे वे देश छोड़कर उत्तर-पश्चिम की ओर विदेश चले गए और स्वदेश राजन्यों के अनुनय पर तभी लौटे जब अग्नि ने बगैर उनके पौरोहित्य के हवनकुंड में प्रज्वलित होने से इनकार कर दिया।

संभवत: कुछ जातियां सिकन्दर के हमलों के समय उत्तर-पश्चिम की ओर गईं, कुछ ग्रीकों-शकों के विध्वंस के समय। गार्गीसंहिता के युगपुराण का वक्तव्य है, जो घटना के प्राय: पचास साल के भीतर ही लिखा गया था, कि ग्रीकों—दिमित्रियस् और मिनान्दर—ने जब मगध पर आक्रमण कर पाटलिपुत्र को घेर लिया तो राजा नष्ट हो गए (नश्येरन् च पार्थिवा:) और (मागध साम्राज्य) के प्रान्त बिखर गए। फिर शीघ्र ही बाद जब लोहिताक्ष शक अम्लात ने पाटलिपुत्र पर कण्वों के बाद पहली सदी ई० पू० अथवा ईसवी में आक्रमण किया तब उसने इतने पुरुष वहां मारे कि स्त्रियां ही वहां राज काज और खेती आदि करने लगीं। दशा इतनी दयनीय हो उठी कि जब कोई पुरुष कहीं दीख जाता तो वे एकाएक चिल्ला उठतीं—'आश्चर्यम्! आश्चर्यम्!' इस समय भी संभवत: बिहार से बाहर की ओर संक्रमण हुआ। यह सार्थक बात है कि जैसे श्रीलंका में बोली जाने वाली सिंहली कुछ ध्वनि परिवर्तन के बाद मागधों द्वारा आज भी समझी जा सकती है वैसे ही अशोककालीन पाली को समझने वाला व्यक्ति कुछ अंश तक इन जिप्सियों की भाषा समझ सकता है। यह भी महत्त्व की बात है कि जिप्सियों की भाषा सर्वथा उत्तर भारतीय है, दक्षिण भारतीय कतई

कहा—'लोम'। जर्मनी-फिलिस्तीन, यानी लोम कहलाने वाले जिप्सी आर्मीनिया और इस्रायल में रहते हैं। अभी मैं आगे पूछने ही वाला था कि उसने कहा, 'हम'—अपने सीने पर उंगली रखते हुए—'डोम'। बात साफ हो गई है कि वे भारत के डोमों की तरह टोकरियां बुननेवाले डोम-बंसफोड़ हैं। मैंने फिर पूछा, 'चोरी करते हो?' वह बोला, 'ना', और अपनी टोकरियों की ओर इशारा कर दिया।

नहीं। निःसन्देह विप्लव काल में, तुर्कों के आक्रमणों के समय पंजाब और गांधार-सीमाप्रांत तथा काबुल-हिंदुकुश (के आरपार) की जनता तितर-बितर हो गई थी। यदि हम इसपर ध्यान दें कि काबुल के राजा महमूद के पिता के आक्रमण के समय 'साहिय' हिंदू थे और उनकी हिंदू प्रजा हिंदूकुश पार बामियान-बलख तक फैली हुई थी, तब इसे स्वीकार करने में कठिनाई नहीं हो सकती कि तुर्कों और मंगोलों के आक्रमणों के समय काबुल और हिंदूकुश के हिंदुओं का पश्चिमाभिमुख संक्रमण हुआ होगा। इनसे भी पहले हूणों के आक्रमणों के समय भी, कुछ आश्चर्य नहीं जो पश्चिम की ओर कुछ संक्रमण हुए हों। यह भी महत्त्व की बात है कि जिप्सी (रोमनी) भाषा में पंजाबी शब्द भी अनन्त संख्या में हैं।

शिहाबुद्दीन गोरी की हत्या जाटों ने की थी, परिणामस्वरूप, संभवतः कुतुबुद्दीन, बख्त्यार आदि के अत्याचार से वे भी पश्चिम की ओर चले गए थे। पर उस काल से भी पहले अरबी विजयों और खलीफाओं के शासन काल में भी जाटों को फारस की खाड़ी के तीर, ईराक आदि में बसाने के हवाले मिलते हैं। और जिन गूजरों के दल के दल कंजड़ों की ही भांति भारत में अपने रेवड़ लिए फिरा करते हैं उनकी विजयिनी सेनाओं ने कभी भारत पर गुर्जर प्रतिहार नाम से अपना साम्राज्य प्रतिष्ठित किया था और गुजरात को अपना नाम देने के अतिरिक्त टूट कर वे पीछे बिखर गए थे। क्या यह संभव नहीं है कि वे लोग जैसे आभीरों के साथ भारत आए वैसे ही दल के दल पश्चिम के देशों में भी चले गए हों।

यहां जाटों के पश्चिम संक्रमण की बात तनिक विस्तार से लिख देना उचित होगा। निःसंदेह 'जिप्सी' कहे जाने वाले दलों में कुछ जाटों का उल्लेख तो स्पष्ट मिलता है। अरबी में जाटों को 'जोट' कहा गया है। जाटों के लिए इस शब्द का पहला उपयोग इस्फहान के हम्ज़ा ने (940 में) किया। पचास वर्ष बाद फिरदौसी ने उन्हें 'लूरी' (फारसी) नाम से पुकारा और अपने 'शाहनामे' में लिखा कि सस्सानी नृपति बहराम गौर ने भारतीय राजा से अपनी प्रजा का मनोरंजन करने के लिए कुछ गायक नर्तक मांगे थे और परिणामस्वरूप भारत से उसने लगभग 1200 'लूरी' एकत्र कर लिए थे।[1] यह भी कहा गया है कि गज़नी के महमूद ने अपने भारतीय आक्रमणों के दौरान बड़ी संख्या में जाटों को गुलाम बना लिया था—और ये सिन्ध से आए थे—पर जब इसे सुन्दर गोरे इरानी गुलाम मिल गए तब उसने इन्हें बन्धन मुक्त कर दिया और ये पश्चिम की ओर चले गए। अपने मूलदेश—सिन्ध के मुहाने पर—अरबी इतिहासकार लिखते हैं, ये बड़े प्रबल थे, अरबों ने इन्हें जीतने के अनेक प्रयत्न किए पर वे इन्हें जीत न

1 हित्ती, हिस्ट्री आफ दि अरब्स, पृ० 242।

पाए। पता चलता है कि खलीफा वलीद (705-715) के समय अरबों और 'जोत्तों' में समझौता हो गया पर कुछ झगड़ों के बाद इनकी एक बड़ी संख्या कुर्दिस्तान दजला पार पहुंचा दी गई। याज़ीद द्वितीय के समय, छ: साल बाद, इन्हें, मय इनके तंबुओं और मवेशियों के, सीरिया में अन्तिओक पहुंचा दिया गया। सौ वर्ष बाद, 820 में जोत्त इतने शक्तिशाली हो गए कि चौदह साल तक वे अरबी सेनाओं से लड़ते और उन्हें परेशान करते रहे और अन्त में 834 में अल्-मोतासिम ने उन्हें सर किया। करीब सत्ताइस हज़ार जोत्तों को कैद कर पहले तो उसने खानीकिन भेजा और बाद में ऐन्ज़र्बा पहुंचा दिया। 856 ई० बिज़ान्तीनी रूमियों ने ऐन्ज़र्बा (उत्तरी सीरिया) जीत कर ज़ोतों को बन्दी बना लिया और रूम अथवा बिज़ान्तियम (कुस्तुन्तुनिया) में ले जाकर उन्हें बसाया। जिप्सियों के अन्य दल भी उधर पहुंचे और सभी 'रूमी' कहलाने लगे। रोमनी भी वही कहलाए जैसे उनकी भाषा भी बाद में 'रोमनी' कहलाई और इस प्रकार जिप्सियों का यूरोप के द्वार पर पदार्पण नवीं सदी के मध्य हुआ। इसके बाद यूरोप का द्वार इनके लिए खुल गया और ये कुस्तुन्तुनिया की राह उत्तर से और मिस्र होते ग्रीस की राह अनातोलिया-बुलगारिया होते अपने विविध दलों में बड़ी संख्या में यूरोप पहुंच गए।[1]

अब तक जिप्सी ईरान और एशिया के विविध देशों में फैल चुके थे। वे यूरोप के देशों में कब और कहां फैले इसका विस्तृत उल्लेख विद्वानों की खोजों के फलस्वरूप अब मिलने लगा है। पन्द्रहवीं सदी के आरंभ तक ये सारे यूरोप पर छा गए थे, वस्तुत: इनका पदार्पण वहां की ज़मीन पर सदियों पहले—संभवत: दसवीं और चौदहवीं सदियों के बीच—हो चुका था। विल ड्यूरां के अनुसार जिप्सियों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य के बिज़ान्तीनी इलाकों में 'रोम' (रोमन) नाम धारण किया, बाल्कन देशों (ग्रीस, बुलगारिया, युगोस्लाविया, रोमानिया, हंगरी आदि) और मध्य यूरोप में इन्हें 'अत्सिगान' और इस शब्द से बनने वाले अनेक शब्दों (त्ज़िगानी, त्सिगिउनेर त्सिंगारी, ज़िगरी आदि) द्वारा पुकारा गया जिनके मूल का कुछ पता नहीं। यूरोपीय देशों में पहली बार वे चौदहवीं सदी के आरंभ में विविध कारीगरों, गायकों, नर्तकों, भविष्यवक्ताओं और—साधारण विश्वास के अनुसार—चोरों के रूप में प्रविष्ट हुए। 1414 तक वे जर्मनी, 1422 तक इटली, 1417 तक फ्रांस और 1500 तक इंग्लैण्ड पहुंच गए थे। साधारणतया उन्होंने बप्तिस्मा स्वीकार कर लिया पर ईसाई आदेशों का पालन उनमें से बिरले ही करते थे। 'इंक्विज़िशन' के जेसूतों से उनका झगड़ा हो गया और वे 1499 में स्पेन से, 1500 और 1548 में पवित्र रोमन साम्राज्य से, 1561 में फ्रांस से

1. विस्तृत वर्णन के लिए देखिए, हित्ती, हिस्ट्री आफ दि अरब्स, पृ० 234-266।

निकाल दिए गए। उनकी नारियों के रंग-बिरंगे परिधानों और आभूषणों के अतिरिक्त उनकी यूरोपीय सभ्यता की देन उनके नृत्य और संगीत थे जिनकी विषाद और आह्लादमय तरंगों ने अनेक महान् यूरोपीय गीतकारों को प्रभावित किया।[1]

जिप्सियों के ऊपर भी यहूदियों की ही भांति ईसाइयों ने असंख्य अत्याचार किए। सदियों तक इनका नरसंहार होता रहा। स्पेन में, इटली में, फ्रांस में, जर्मनी में, पवित्र रोमन साम्राज्य की आस्ट्रिया में सर्वत्र सहस्रों की संख्या में इनका वध होता रहा। पिछले महायुद्ध के समय नात्सियों ने इनका भी जर्मनी में लाखों की संख्या में वध किया। ये हर जगह से निकाले जाते रहे पर यूरोप की भूमि इन्होंने नहीं छोड़ी। अपने रेवड़ और कुनबे, गाड़ियां और तम्बू लिए ये देश-देश फिरते रहे। इनके खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज़ यूरोपियनों से सर्वथा भिन्न बने रहे यद्यपि उनकी भाषा की ही तरह उनकी कुछ रीतियां भी ये स्वीकार करते रहे।

कुछ जिप्सी ईसाई हो गए थे, कुछ मुसलमान पर, कुछ अंत तक हिन्दू बने रहे। इनके ईसाई, मुसलमान, हिन्दू सभी अलग-अलग प्रकार के हैं पर इनका रहन-सहन समान है। एक जगह बस्ती बनाकर रह पाना असंभव है यद्यपि इन्हें बसाने के अनेक प्रयत्न यूरोप में हुए हैं। सोवियत भूमि, पोलैंड और युगोस्लाविया के स्कोप्ये के पास ये कुछ समय से बसने भी लगे हैं। ये जिस देश में रहते हैं उस देश की भाषा के अनेक शब्द अपनी भाषा में डाल लेते हैं। इस प्रकार इनके अनेक दलों में अनेक भाषाओं के शब्द—हज़ारों की संख्या में—बोले जाते हैं, पर इनकी अपनी 'रोमनी' भाषा की बनावट, शब्द और वाक्य योजना, क्रियापद आदि मूल-भाषा के ही हैं और ये सदा से ही ऐसे ही बने रहे हैं, जो विशेषत: और मूलत: भारतीय संस्कृत, प्राकृतों या बोलियों के हैं। इन्होंने अपने हज़ारों शब्द यूरोपीय भाषाओं में मिलाकर उन्हें ऋद्ध और मुखर किया है।

संगीत में ये बड़े माहिर माने जाते हैं और कला की उस विद्या में इनका कोई जोड़ नहीं है। स्वच्छन्द वातावरण में स्वच्छन्द गायन और नर्तन इनका शौक है। अनेक यूरोपीय सुर-तान जिप्सियों ने यूरोप को दिए हैं। स्पेन के कई राग-तरंग, विशेषत: उसके प्रसन्न भावातिरेक, जिप्सियों के ही दिए हुए हैं। यदि उनकी भाषा आदि संबंधी देन हम न भी देखें तो संगीत पर इनका प्रभाव अमिट और गहरा बना रहेगा। शायद ही कोई जिप्सी—नर या नारी—हो जो गाना-नाचना न जानता हो या बियाबां में अपनी तंत्री झंकृत कर अलाप न उठता हो। यूरोप के अनेक तारयुक्त वाद्ययंत्र जिप्सियों के ही दिए हुए हैं। कुछ अन्वेषकों का तो यहां तक कहना है कि स्वयं बिठोवेन, मोत्सार्ट, श्रूबर्ट और अन्य गायक और

1. दि स्टोरी आफ सिविलाइज़ेशन, खंड 6, पृ० 171, पाद टिप्पणी।

गीतकार इनसे पर्याप्त प्रभावित हुए थे।

जिप्सियों के विवाहादि अपने ही बीच होते हैं। जो अन्यत्र या यूरोपीय जातियों में विवाह कर लेते हैं वे नीची नज़र से देखे जाते हैं और हिन्दू प्रथा के अनुसार ही जातिच्युत हो जाते हैं। वैसे उनमें वर्णव्यवस्था जैसी कोई चीज़ नहीं है पर उनके फिरके अलग-अलग ज़रूर हैं। फिर भी उनमें स्थानीय जातियों के मिश्रण हुए हैं जिससे उनमें अनेकों के रंग यूरोपीय-गोरों जैसे भी हैं। उनका मूल और प्रधान रंग गेहुआं अथवा जैतूनी है, अन्य रंग उसके ही विकार हैं। कई बार तो उनके रंग इस प्रकार बदल गए हैं कि उन्हें पहचानना कठिन हो जाता है।[1] उनके नाक-नक्श तीखे और आकर्षक होते हैं।

यूरोपीय संगीत और भाषाओं के अतिरिक्त जिप्सियों ने यूरोपीय लोक साहित्य को विस्तृत और समृद्ध किया है। लोककथाओं के वे असाधारण धनी हैं। कथा कहने का उनका सामर्थ्य असामान्य है। जैसे वे हाथ देखने और हस्तरेखाओं को देख कर भविष्य बताने में प्रवीण माने जाते हैं वैसे ही कथावार्ता में भी वे बेजोड़ हैं। कितनी जातक, पंचतंत्र, हितोपदेश, कथासरित्सागर आदि की लोक-गत कथाओं को अपना रूप देकर उन्होंने यूरोपीय देशों में पहुंचाया और उनकी स्थानीय कथाकारिता को प्रभावित किया होगा, इसका अनुमान आसानी से किया जा सकता है। वैसे तो 'पंचतंत्र' के पह्लवी, सीरियक, अरबी अनुवाद हुए जिनसे यूरोपीय भाषाओं में भी उनके विविध रूप प्रस्तुत हुए पर ऐसा अनुमान गलत नहीं होगा कि उन कथाओं के प्रचार और प्रसार में इन जिप्सियों का बहुश: और प्रभूत योग रहा होगा।

वैसे जिप्सी बहुधंधी हैं और बेंत, बांस आदि से बुनाई का काम करने के अलावा वे सदियों से यूरोप में लोहार और ठठेरे के काम भी करते रहे हैं। भाथी से धातु पिघला कर उनसे बर्तन बनाने में वे प्रवीण माने जाते रहे हैं। कुछ विद्वानों का तो यहां तक विश्वास है कि उन्होंने ही यूरोप में धातु ढालने और उससे बर्तन बनाने की कला का आरम्भ किया।

इधर उनको संगठित करने के भी प्रयत्न किए गए हैं। उनकी संस्कृति का अध्ययन भी बड़े मनोयोग से होने लगा है। अनेक बार तो मध्य काल में रजवाड़ों तक में उनके प्रशंसक हो गए थे। 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' के 'जिप्सी' प्रसंग में विद्वान् लेखक ने स्काटलैंड के राजा जेम्स के एक पत्र का उल्लेख किया है जिसे उस राजा ने दूसरे राजा को एक जिप्सी के लिए परिचय-पत्र दिया था और उसे जिप्सियों का राजा कहा था!

---

1. न्यूयार्क की एक सभा की अध्यक्षा को दिखाकर मेरे पास बैठी महिला ने पूछा, जानते है वे किस राष्ट्रीयता की महिला हैं? मेरे न करने पर उन्होंने बताया कि वे जिप्सी हैं। मैं अध्यक्षा के वलययुक्त कानों को देखता ही रह गया।

खण्ड-2

अध्याय-14

मध्य एशियाई देश और भारत

1. उत्तर के मार्ग

उत्तर की ओर जाने के अनेक मार्ग थे। एक मार्ग तो शुद्ध पश्चिम का था, ईरान, ईराक, की ओर मकरान की ओर से होता हुआ जो बोलन का दर्रा पार करके जाता था। दक्षिणी ईरान के सूसा, पर्सिपोलिय और एलाम जाने का वही एक रास्ता था। पर वह रास्ता जलहीन और सूखा-रेतीला था। सिकन्दर उसी राह सिन्ध से बाबुल लौटा था और इसी मकरानी रेगिस्तान से जाती हुई उसकी सेना का दो-तिहाई भाग प्यास से मर गया था। इसी मार्ग से कवि कालिदास 'रघुवंश' में अपने नायक-विजेता रघु को पारसीकों की 'द्राक्षावलय भूमियों' की ओर कोजक-अरमान पहाड़ों के साये ले गए थे। शकों के अधिकतर कुल सीस्तान से इसी राह शकद्वीप अथवा सिन्ध आए थे। पर यह राह विशेष चलती न थी।

विशेष चलती थी खैबर के दर्रे की राह, सिन्धु पार, गंधार लांघकर काबुल नदी की धारा के साथ-साथ, लंदीकोतल होती, उद्यान (चमन) पार करती हिन्दूकुश की पर्वत माला लांघती···जिससे सिकन्दर, मुसलमान आदि अधिकतर विजेता और चीनी यात्री भी आए—बामियान, बलख-बदखशां की ओर, और पामीरों के साये वंक्षुनद (आबू दरिया) के केसर भरे अंचल पार तकलामकान की ओर, प्राचीन रेशम-मार्ग से जा मिलती थी। इसी राह पर भारतीय उपनिवेश कालान्तर में स्थापित हुए और बौद्ध बस्तियां बसीं। यह राह वास्तव में चीन जाने की राह थी जो थल मार्ग से होकर गई थी।

तीसरा मार्ग नीति-पास (उत्तर हिमालय का क्रौंचरंध्र) होता तिब्बत की ओर जाता था। तिब्बत जाने का एक दूसरा मार्ग नेपाल होकर भी था जिससे अधिकतर बौद्ध-भिक्षु तिब्बत गए थे। कश्मीर से जोज़िला दर्रा पार कर एक मार्ग लद्दाख होता सीक्यांग की ओर जाता था। सीधा कराकोरम पार कर उसकी बर्फीली चोटियों को लांघते केवल हूण आक्रान्ता भारत आए थे। लद्दाखी राह से दरदों के देश लांघता जो मार्ग उत्तर को जाता था वह यारकंद (सीता) की धारा के साथ चलकर खुत्तन पहुंचता था।

चौथा मार्ग आसाम-बर्मा की दिशा से चीन जाता था जिससे 'चिनांशुक' आदि चीन में बनी वस्तुएं भारत आती थीं। इसी राह कभी दक्षिणी चीन से

चीनी जातियां हज़ारों साल पहले आकर बर्मा आदि में बस गई थीं। शेष तो यूनान की राह फुनान आदि की ओर आते या जलमार्ग की प्रधानता से दबते थे।

2. अफगानिस्तान

उचित तो यह होता कि अफगानिस्तान की भारतीय औपनिवेशिक संस्कृति का विवरण भारत के अन्य पड़ोसी देशों—तिब्बत, नेपाल और श्रीलंका—के साथ-साथ दिया जाता परन्तु चूंकि बामियान-बलख से तुंग-हुआंग तक बसी भारतीय बस्तियों की राह उसी से होकर जाती थी, उसका विवरण पहले और यहीं करना उचित होगा।

अफगानिस्तान भारतीय सांस्कृतिक परिधि में रहने के अतिरिक्त अनेक बार उसका राजनीतिक अंश भी बनता रहा है। ईरानी सम्राट कुरूष (साइरस्, 558-530 ई० पू०) ने काबुल की घाटी और गंधार पर अधिकार कर लिया। गंधार (गन्दरीतिज़) तब भारत का भाग नहीं माना जाता था और उसके भीतर वे सब इलाके आते थे जो सिन्धुनद से पश्चिम और हिन्दूकुश से दक्खिन पड़ते थे। सिन्धुनद के पूर्व की भूमि को जब दारयवौष (दारा, 522-486 ई० पू०) ने जीता तब इन इलाकों को सम्मिलित रूप से गंधार और हिन्द (जिसमें सिन्धु नदी के मुहाने वाली भूमि भी शामिल थी) कहने लगे। क्षयार्षा (जरवसीज़ 486-465 ई० पू०) ने जब ग्रीस जीतने के लिए अपनी सेना में इस भाग से सैनिक चुने तो उन्हें 'गन्धारी' और 'हिन्दी' कहा क्योंकि अब गंधार और सिन्धु के पूरब के भी कुछ भाग (पश्चिम में सागर और सिन्ध तक) उसके साम्राज्य में शामिल हो गए थे।

सिकन्दर ने ईरानी सम्राट और भारतीय राजाओं से ये इलाके 320 ई० पू० जीत लिए पर 305 ई० पू० में जब उसके साम्राज्य के सीरियक भाग के स्वामी सिल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया तब हार कर उसे चन्द्रगुप्त मौर्य को भारत के पश्चिमोत्तरवर्ती चार प्रांत, एरिया (राजधानी, हेरात), अराकोसिया (राजधानी, कन्दहार), परापनिसदी (हिन्दूकुश, राजधानी काबुल) और गेद्रोसिया (बलूचिस्तान) देने पड़े। इस प्रकार भारत की राजतीतिक सीमा बामियान के परे प्रायः बाख्त्री तक जा लगी। अफगानिस्तान के इन इलाकों पर भारतीय राजा (चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक आदि) प्रायः सौ साल, 206 ई० पू० तक, शासन करते रहे। जब अन्तियोकस तृतीय ने अफगानिस्तान पर आक्रमण किया तब वहां का शासन भारतीय सोफागसेनस् (सुभागसेन) के हाथ में था। फिर उस पर बाख्त्री के हिन्दू-ग्रीक राजाओं, पार्थवों, कुषाणों आदि का शासन हुआ जो सभी भारतीय राजा थे। दिमित्रियस तो 'रेक्स इन्दोरम' (भारतीयों का राजा) कहलाता ही था। इन अहिन्दू राजाओं के उस भूभाग के

स्वामी होने पर भी अफगानिस्तान की संस्कृति, उसकी भाषा, धर्म आदि मुसलमानों के आगमन तक हिन्दू बने रहे। अशोक ने यद्यपि कन्दहार आदि में बसी अपनी ग्रीक प्रजा के लिए ग्रीक भाषा और लिपि में अपने अभिलेख खुदवाए, वहां की प्राकृत बोलने वाली प्रजा के लिए प्राकृत और ब्राह्मी में भी उसे अपने संवाद खुदवाने पड़े। कारण कि चाहे अफगानिस्तानवर्ती वह भाग विदेशी प्रभुसत्ता द्वारा शासित क्यों न होता रहा हो उसकी समूची संस्कृति, धर्म और कला भारतीय थी।

हिन्दूकुश (प्राचीन भारतीय नाम 'निषध') की भारत की ओर की ढलान का पूर्ववर्ती भाग ऋग्वैदिक आर्यों के 'सप्तसिन्धु' में भी कदाचित सम्मिलित था। कम से कम यह सारा भूभाग निःसन्देह ऋग्वैदिक आर्यों का था, इसमें इस कारण सन्देह नहीं किया जा सकता कि ऋग्वेद में उस भाग की नदियों कुभा (काबुल), उसकी सहायक नदी सुवास्तु (स्वात), क्रुमु (कुर्रम) और गोमती (गोमाल) और इनके तीर बसने वाली जातियों अलीनों, भलानों और पक्थों का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है। ऋग्वेद के प्रसिद्ध 'दाशराज्ञयुद्ध' (दस राजाओं के युद्ध) में ये जातियां लड़ी थीं। साथ ही यह भी याद रखने की बात है कि काबुल और सिन्धु नदियों के संगम पर 4-5 मील उत्तर-पश्चिम में वह शलातुर नाम का गांव था जहां जगत्प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि पांचवीं सदी ई० पू० में जन्मे और रहे थे। उन्होंने काबुल नदी के दक्षिण तीर पर बसने वाले मधुमन्तों (मोहमन्दों) और उत्तरी तीर के आप्रीतों (अफ्रीदियों) का उल्लेख अपनी 'अष्टाध्यायी' में किया है। पाणिनि के अतिरिक्त जिन दो अन्य पठान ब्राह्मणों ने सिन्धु पार के उस गांधार देश से आकर भारतीय संस्कृति को अपने चिन्तन द्वारा समृद्ध किया था वे बौद्ध दार्शनिक बन्धु वसुबन्धु और असंग थे। दूसरी सदी ईस्वी के त्तोलमी ने अपनी 'ज्योग्राफी' में अफगानिस्तान और बलूचिस्तान को भारत का भाग माना। पहली सदी ईस्वी में चरक्स के इसीदोर ने लिखा कि अराकोसिया (कन्दहार का इलाका) को तब के पार्थियन 'श्वेत भारत' कहते थे। हिन्दूकुश और अफगानिस्तान का यह समूचा इलाका बाबर के समय से औरंगज़ेब के शासन काल तक भारत के अधिकार में रहा था। कन्दहार के लिए ज़रूर ईरानियों से लड़ाईयां होती रही थीं और उसका किला कभी मुगलों के, कभी ईरानियों के हाथ में आता रहा। मुगल वंश के प्रत्येक बादशाह की यह तमन्ना थी कि वह अपने आदि देश फरगाना को जीत ले और उसके शहज़ादे औरंगज़ेब के काल तक सदा वहां अपनी मिल्कियत हिन्दूकुश लांघ कर लड़ते रहे थे। स्वयं अबुल फज़ल ने अकबर के ज़माने में काबुल और कन्दहार को भारत के दो द्वार माने थे। राजनीतिक सत्ता को निश्चय कालान्तर में बदलती रही, बदल गई, पर, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस्लाम के आगमन तक अफगानिस्तान संस्कृति

में हिन्दू बना रहा और नवीं-दसवीं सदी तक वहां हिन्दू राजा (साहिय) राज करते रहे थे।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, दक्षिणी अफगानिस्तान की काबुल नदी की घाटी भौगोलिक दृष्टि से भारत का भाग है, पर जैसे ही हम हिन्दूकुश की पर्वत श्रेणी खैबर दर्रे से पार कर उत्तर की ओर निकलते हैं, हम आमूदरिया (वंक्षु-नद) की घाटी में उतर जाते हैं जो भौगोलिक रूप से मध्य एशिया का भाग है। काबुल की घाटी से सिन्धु पार झेलम तक वह गंधार का इलाका है यहां पठानों की कबीलई बस्तियां हैं और वहां कभी हिन्दू, विशेषतः बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ था। इसी भाग में उस भारतीय कला ने जन्म लिया जो हिन्दू-ग्रीक राजाओं की संरक्षा में ग्रीक छेनी और भारतीय धार्मिक घटना के संयोग से बनी और 'गान्धार शैली' के नाम से प्रसिद्ध हुई। फूशे, हाकिन और कार्ल की खुदाइयों ने धर्म और कला के कीर्तिमान वहां उजागर कर दिए हैं।

सिन्धवर्ती गंधार और अफगानिस्तान के वास्तुविधान में कोई अन्तर नहीं है। काबुल के समीप और काबुल की जलधारा के तीर जलालाबाद में आज भी बौद्ध स्तूपों के आधार खड़े हैं जिनका रूप तक्षशिला के स्तूपों का-सा ही है। हडडा और अल्मस्जिद के स्तूपों की ही भांति वहां के स्तूपों के कलेवर भी स्टक्को (मिट्टी-चूने) की बनी मूरतों से सजे थे। घोरबंद की धारा के तीर बेग्राम का गांव खड़ा है, वहीं कभी कुषाणों की राजधानी कपिशा थी, जिसे सातवीं सदी के चीनी यात्री ने महायान का केन्द्र बताया और वहां के गगन-चुंबी स्तूपों और संघारामों का ज़िक्र किया है। उत्तर-पश्चिम से आने वाले मध्य एशियाई और दक्षिण के भारत से आने वाले मार्ग यहीं मिलते थे और दोनों ओर के सौदागर यहीं माल बदल या बेच लिया करते थे। वहां कुषाणकालीन धातु की मूर्तियां, अलंकृत स्टक्को-वृत्त, सीरियक कांच की वस्तुएं और हान-कालीन चीन (200 ई० पू०-250 ई०) की जड़ाऊ संदूकें प्राप्त हुईं। ये वस्तुएं अधिकतर तीसरी-चौथी सदी ईस्वी की थीं।

जलालाबाद के पास हड्डा के खंडहर हैं, प्राचीन नगरहार के प्रतिनिधि। चूने-मिट्टी की बनी अनन्त मूर्तियां, उभारी हुई चित्रकारिता, और अनेक स्तूपों तथा संघारामों के भग्नावशेष यहां खोद निकाले गए हैं। काबुल के तेप्पे मेरे-न्जान के विहार से मिली मूर्तियों की परिधानरेखाएं विविध रंगों से रंजित हैं। हड्डा के संघारामों और स्तूपों के बारे में हुएन्त्सांग लिखता है कि वे उजड़े और वीरान पड़े हुए हैं। हड्डा में मिली भारतीय-गंधार शैली की मूर्तियों से प्रकट है कि वहां भारतीयों, ईरानियों और यूरोपियनों की सम्मिलित बस्तियां थीं। कारण कि वहां तीनों की रूपरेखा के मूर्तन प्राप्त हुए हैं।

अफगानिस्तान में दूसरा महत्त्व का केन्द्र बामियान रहा है। उसकी पठारी

ऊंचाई से हिन्दूकुश और कोहे-बाबा के बीच की हरी-भरी घाटी अभिराम दिखती है। कहावत है कि चंगेज़ खां ने बामियान की समूची जनता को तलवार के घाट उतार दिया था। बामियान के विहार और मन्दिर चट्टानी दीवार काट कर बनाए गए हैं और चैत्यों और शालाओं से मीलों पर्वत भरा हुआ है। शाक्य मुनि की विशाल मूर्तियां वहां हुएन्त्सांग के समय भी खड़ी थीं। इसमें से एक की ऊंचाई 120 फुट है, दूसरी की 175 फुट। अपनी ऊंचाई की महिमा से ये मूर्तियां सहज ही लोकोत्तर हो गई हैं। वहां के अनेक गुहा-मन्दिर चीन के तुन-हुआंग की गुहाओं के आदर्श बने थे। मध्य एशिया की बस्तियों की कला पर अधिकतर अफगानिस्तान के इस बामियान की गांधार कला का ही प्रभाव पड़ा था। वहां के और मध्य एशियाई भित्तिचित्रणों में भी बहुत साम्य है। सूर्य की चट्टानों में कटी सूर्य की एक प्रतिमा से प्रकट है कि बामियान में केवल बौद्ध धर्म का ही प्रचार नहीं था यद्यपि प्राधान्य उसी का था। छतों के चित्रों में अजन्ता की गुहाओं की भांति अप्सराएं चित्रित की गई हैं।

बोधिसत्वों की परम्परा के पास ही एक नग्न नारी मूर्ति खड़ी है जो प्रमाणतः शक्ति की है। वह केवल कानों में फूल और कलाइयों में वलय पहने हुए है। उसका अभिराम मूर्तन बेग्राम की हाथीदांत की बनी मूर्तियों की याद दिलाता है। सच तो यह है कि झेलम से घोरबंद तक, फिर बामियान से बाख्त्री (बलख) तक गान्धार शैली का क्षेत्र बना रहा और उसकी परम्परा कभी टूटी ही नहीं। तख्तेबाही के महलों से पुष्कलावती के खंडहरों चारसद्दा-बालाहिसार तक, और वहां से हड्डा-बेग्राम-बामियान, कपिशा तक, आमूदरिया की धारा तक, भारतीय धर्मों, विशेष कर बौद्ध धर्म, की कीर्तिपताका फैली और उसकी अटूट परम्परा में वास्तु के विविध भवन बनते चले गए और धीरे-धीरे उन्होंने मध्य एशिया में उन बस्तियों में संघारामों, स्तूपों आदि का रूप धारण किया जो नवीं सदी तक बौद्ध-हिन्दू संस्कृति का केन्द्र बनी रही थीं।

अफगानिस्तान स्वयं भारतीय संस्कृति और कला की अग्रभूमि तो था ही, उत्तर-पूर्व की बह निकलने वाली भारतीय सांस्कृतिक धारा का एक दूसरा मार्गस्थ उद्गम भी था। न केवल उत्तर-पूर्वी चीनाभिमुख जाने वाली धारा का ही बल्कि पश्चिम-पूर्व की संस्कृतियों की संगम-भूमि भी वही था जिससे गंधार शैली की भारतीय कला अपना रूप पा सकी। अफगानिस्तान भारत और उत्तरवर्ती बाह्य जगत् की अत्यंत महत्त्वपूर्ण शृंखला-कड़ी था जिसके माध्यम से भारत बाहर के संसार से अपने संपर्क साध सका।

3. मध्य एशिया

मध्य एशिया से तात्पर्य उस भूखंड से है जो आमूदरिया के दोनों ओर

हिन्दूकुश तथा पामीरों के उत्तर-पूर्व की ओर गोबी के रेगिस्तान तक फैला हुआ है और जिसके पूर्वी भाग में गोबी-तकलामकान के उत्तरी और दक्षिणी तटों पर कालान्तर में भारतीय बस्तियां बसीं, जहां विशेष कर बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ और भारतीय जीवन जिया गया। यह भूखण्ड सपाट मैदान है, अधिकतर जान-लेवा रेगिस्तान जिसे उत्तर में तियेनशन की पर्वत माला और पश्चिम में पामीरों की हिमखंडित श्रृंखला घेरती है। दक्षिण में उसके अल्लाई और तिब्बत के कुएन-लुन पर्वत हैं और पूर्व में चीन का महादेश प्रशान्त महासागर तक फैलता चला गया है। ऐसी मरुभूमि में जीवन जी पाना जातियों के लिए कठिन था, पर रेगिस्तान की सीमाओं पर जो कुछ नखलिस्तान (हरियाली भूमि) थे उन्होंने और तारीम जैसी कुछ जलधाराओं ने वहां के बसने वालों में प्राण फूंके।

तकलामकान के रेगिस्तान के दोनों ओर, उत्तर और दक्षिण, पूर्व से पश्चिम को दो व्यापार-मार्ग प्राचीन काल में चले गए थे। दोनों मार्ग काशगर में मिलते थे। वहीं, पामीरों के पूर्व में, प्तोलेमी के अनुसार, पश्चिम और पूर्व के सौदागर अपनी वस्तुएं बेचते और बदलते थे। उस स्थान को उस ग्रीक भौगोलिक ने 'लिथिनोस पुरगोस' (पाषाण-स्तंभ) कहा है। इन्हीं मार्गों के सहारे और किनारे भारत और चीन के बीच, जगह-जगह हरियाली की श्रृंखला की कड़ियों की भांति, भारतीय बौद्ध राज्य कायम हुए।

प्रायः तभी जब बैथेलहेम में जन्मा नज़रथ का सन्त ईसा रोम के पलातीनी महलों के सम्राटों से लोहा ले रहा था, जब उसके अनुयायी 'अरेना' और 'कोलोसियम्' में भूखे शेरों के शिकार हो रहे थे, मध्य एशिया की खूनी जातियों में तभी शान्त और सहनशील भारतीय बौद्ध भिक्षु बुद्ध के प्रेम और बन्धुत्व के सन्देश सुना रहे थे। कैसे यह संभव हो सका कि खून और लूट के नाम पर दौड़ पड़ने वाली जातियों को निहत्थे अधनंगे कमज़ोर भिक्षु अपने विचारों के कायल कर सके, यह संसार के सांस्कृतिक इतिहास की असाधारण घटना है। उसकी कहानी निःसंदेह हैरत अंगेज़ कहानी है।

यह भूमि, इसके उत्तर और पूर्व की भूमि, प्राचीन समय में भयंकर जातियों की पनाहगाह थी। अधिकतर वे सारे संक्रमण, जिन्होंने अपने पैरों तले रौंद कर एशिया और यूरोप के साम्राज्यों को धूल कर दिया था, इसी भूखण्ड के आस-पास से चले थे। हूणों ने कुषाणों, शकों को उखाड़ रोमन और गुप्त साम्राज्यों की कमर तोड़ दी थी और मंगोलों ने सारे एशिया और आधे यूरोप पर अधिकार कर लिया था। तुर्कों का साम्राज्य समरकंद से उठ भूमध्य सागर तक जा पहुंचा था और 1453 में उसने पूर्वी रोमन साम्राज्य का अन्त कर उसकी राजधानी कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार कर लिया था। इसी भूखण्ड को अधिकतर भारतीय संदर्भ में मध्य एशिया कहते हैं जिसकी हिन्दू बौद्ध बस्तियों का हम अब विवरण

देंगे। इस भूखण्ड का स्पष्ट निरूपण इस प्रकार है :

भारत से चीन या चीनी तुर्किस्तान···तारीम के कांठे को आमतौर से सिक्यांग या 'चीनी तुर्किस्तान' कहते हैं···जाने के लिए, तक्षशिला से चलकर सिन्धुनद पार कर काबुल नदी के तीर पहुंचते थे। फिर पेशावर (पुरुषपुर) होते काबुल की धारा के साथ-साथ पहले जलालाबाद (हड्डा, नगरहार) फिर बामियान पहुंचते थे। हिन्दूकुश की पर्वत श्रेणी पार करते ही बल्ख (बाख्त्री, बैक्ट्रिया) का इलाका शुरू हो जाता है। वहां से तारीम की घाटी में चीनी तुर्किस्तान पहुंचने के लिए तीन रास्ते थे। इनमें से पहला, जिससे कारवां जाया करते थे, सुर्ख-आब के तीर-तीर पामीर होता अलाई की घाटी में उतरता और काशगर पहुंचता था। दूसरे मार्ग को पहले आमू और सीर दोनों दरियाओं को पार करना पड़ता था। वह उत्तरवर्ती मार्ग था जो ताशकंद होकर गया था। ताशकंद से वह मार्ग तिएनशान का पर्वत उसके दर्रों से लांघ उच्च तुर्फान या अक्स होता तारीम के उत्तर-पश्चिम पहुंचता था। तीसरा मार्ग सबसे दक्षिण का था जो बल्ख से धुर पूरब की ओर चला गया था। इस मार्ग से जाने वाले लोग बदख्शां और वखां की राह जाकर पामीर की निचली श्रेणी लांघ ताश फुर्गान पहुंचते थे और तारीन की धारा के पश्चिम काशगर और यारकंद में पड़ाव करते थे। एक सीधी राह कश्मीर से गिल्गित और यासीन पार बरोगिल के दर्रे से निकल वखां की घाटी में भी जाती थी जो काशगर जाने वाली राह से मिल जाती थी। तकलामकान का यह रेगिस्तान प्रायः 900 मील लम्बा और 330 मील चौड़ा है। इसी के दोनों ओर, उत्तर और दक्षिण, बस्तियां बसीं।

उत्तरी मार्ग पर भरुक (प्रो-लु-किया, उच्च-तुर्फान के समीप), कुची (जो अब कुचा कहलाती है), येन-की (अग्निदेश, आधुनिक कड़ा शहर), और तुर्फान पड़ते थे। ये नाम तो केवल प्रसिद्ध स्थलों के हैं। बस्तियों की संख्या निःसन्देह बड़ी थी। दक्षिणी मार्ग पर बसने वाली बस्तियां शूले (शैल देश, काशगर), चोक्कुक (यारकन्द), खोतम्ना (खोतान) आदि थे। इसी मार्ग पर दोमोको, नीय, दन्दा, उइलिक, एन्देरे, लाउलान, रावक और मीरान की बस्तियां भी स्थित थीं।

इस भूभाग के लिए प्रथम शती ईस्वी में भारतीय कुषाण सम्राट् कनिष्क और चीनी हान सम्राट् में कशमकश भी हुई थी। कनिष्क के अधिकार में कश्मीर और बल्ख आदि तो थे ही, उसने अपना साम्राज्य खुत्तन (खोतान तक बढ़ा लिया था। इस कशमकश के परिणाम में काशगर, खुत्तन और यारकन्द कनिष्क के हाथ लगे। उसने चीनी सम्राट् की देखादेखी अपना विरुद 'देवपुत्र' भी धारण कर लिया। पता चलता है कि चीन के एक करदायी राज्य को जीत उसने वहां से नेकचलनी के ज़ामिन रूप में कुछ राजकुमार लिए जिन्हें उसने

कपिशा और चीनमुक्ति में ऋतुओं के अनुसार रखा। कहते हैं कि इन्हीं चीनियों ने भारत में पहले पहल नाशपाती और आड़ू के पेड़ लगाए। स्वाभाविक ही चीनी तुर्किस्तान के उस भाग से कनिष्क की मृत्यु के बाद भारत का अधिकार हट गया। फिर तो वहां के कुछ राज्य स्वतंत्र हो गए, कुछ चीनी साम्राज्य के अन्तराल में समा गए। फिर भी वहां के नगरों का अस्तित्व बना रहा जहां बौद्ध धर्म का साका चलता रहा और बौद्ध श्रमण उपदेश देते रहे।

नवीं सदी ईस्वी के लगभग जब तुर्क मध्य एशिया में प्रबल हुए और अपनी विजयों से अपने साम्राज्य बनाने लगे तभी ये मध्य एशिया की भारतीय बस्तियां बुतशिकनी चोट से विनष्ट हो गईं। और इस प्रकार वे सदियों वसुमती की कोख में पड़ी रहीं। बीसवीं सदी के आरंभ में पुराविदों के फावड़ों ने इतिहास और संस्कृति के कीर्तिमान इन भूगर्भीय नगरों को खोद निकाला। अल्बर्ड फान ल काक के नेतृत्व में अनेक जर्मन खुदाइयां वहां हुईं और किज़िल तथा तुर्फान के भित्तिचित्र प्रकाश में आए। इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अभियान इस दिशा में सर आरेल स्टाइन के हुए जिसने अपने जीवन की चौथाई सदी से अधिक आयु इसी खोज और उत्खनन में लगाई। अन्य देशों की ओर से भी सभ्यता के इस निरावरण में सहायतार्थ एक जापानी उत्तखनन-अभियान काउन्ट ओतानी के नेतृत्व में और एक रूसी अभियान बैरन ओल्डेनबर्ग के नेतृत्व में हुआ जिनके परिणामस्वरूप इतिहास की जानकारी संसार में ऋद्ध हुई। सर आरेल स्टाइन के अध्यवसाय से प्राप्त पुरा सामग्री, भित्तिचित्र, मूर्तियां आदि भारत लाए गए जो नई दिल्ली के सेन्ट्रल एशियन ऐन्टिक्विटीज़ म्यूज़ियम में प्रदर्शित हैं। वहां से प्राप्त सामग्री पर सबसे महत्त्व के काम ग्रूनवेडेल ल काक और स्टाइन ने किए हैं। आरेल स्टाइन के तीन अभियानों में एक 1907 का अभियान अद्भुत फल-प्रद रहा। उसने अपने खोदे स्थानों से 29 पेटियों में भर-भरकर विविध वस्तुएं प्राप्त कीं। इनमें 20,000 हस्तलिपियां थीं जिनमें 500 पूरे बौद्ध धर्म ग्रंथ थे। उपलब्ध चित्रणों की संख्या 554 थी। यह विशाल सामग्री उपलब्धि का अंश-मात्र है। इससे अनुपलब्ध का तो अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता।

खुदाइयों के परिणामस्वरूप अनंत सामग्री जो उन नगरों में प्राप्त हुई है वह धार्मिक और धर्मेतर दोनों प्रकार की है। राजकीय और धार्मिक अभिलेख संस्कृत, प्राकृत और स्थानीय भाषाओं में भारतीय लिपियों—ब्राह्मी और खरोष्ठी—में प्रर्याप्त संख्या में मिले हैं। कलाक्षेत्र में विविध सामग्री की उपलब्धि में तो जैसे बाढ़ आ गई है। स्तूप, विहार, मंदिर, मूर्तियां, भित्तिचित्र और अन्य प्रकार के चित्रण विभिन्न अवशेषों के रूप में प्राप्त हुए हैं। हम यहां पहले ब्राह्मी और खरोष्ठी में लिखे धर्मेतर-राजकीय और धार्मिक अभिलेखों का ज़िक्र करेंगे।

लेख पत्थर, काष्ठ-पट्टिकाओं, चमड़े, कागज़, रेशम जैसी वस्तुओं पर

उकेरे या लिखे मिले हैं। जो अभिलेख स्थानीय भाषाओं में लिखे हैं वे भी भारतीय लिपियों में ही हैं। लेख राजकीय, अर्धराजकीय, निजी, व्यावसायिक, प्रार्थना संबंधी, सभी प्रकार के हैं। कुछ शासकीय अथवा अर्धशासकीय पत्र 'शासन' अथवा हुक्मनामे हैं जो राजा की ओर से अधिकारियों या पत्र रूप में एक अधिकारी द्वारा दूसरे अधिकारी को लिखे गए हैं। कुछ विधिक (कानूनी) वाद-प्रतिवाद, मुकदमों, शासकीय नियुक्तियों, प्रहरियों, उनके परिवर्तन, अस्त्र-शस्त्रों के हस्तान्तरण आदि से संबंधित हैं और कुछ वस्तुओं की सूची, पत्रों आदि से। एक में 'महानुभाव महाराय' (महानुभाव महाराज) की ओर से अधिकारियों को लिखे पत्र का अंश सुरक्षित है। रेशम के पट्टे पर लिखे पत्र या आदेश का एक अंश भी मिला है। इसी प्रकार के एक-दूसरे रेशमी पट्टे पर लिखे पुरुष विशेष और उसके परिवार कुशलता संबंधी नौ-अभिलेख प्राकृत में उपलब्ध हैं। ब्राह्मी लिपि में लिखे लेखों का काल ईसा की पहली चार सदियों का है। यह लिपि या तो कुषाण लिपि है या उससे मिलती उसी से निकली अगली सदियों की लिपि खरोष्ठी का उपयोग तो कुषाणों के प्रायः शीघ्र ही बाद समाप्त हो गया था।

अब हम वहां उपलब्ध वस्तुओं—पहले वहां मिले अभिलेखों—पर विचार करेंगे। लेख, विशेषकर पत्रादि, सर आरेल स्टाइन के अनुसार, कश्मीरी लेख विधान 'लेखप्रकाश' द्वारा बताई शैली में लिखे हैं। कश्मीर का इन मध्य एशियाई वस्तुओं से सीधा संबंध था। कश्मीर से अनेक भिक्षु, ब्राह्मण-श्रमण, उधर गए भी थे। क्या आश्चर्य जो वहां उन्होंने आलेखन में कश्मीरी पद्धति चला दी हो! पत्रों पर अधिकतर, भेजने और पाने वाले दोनों व्यक्तियों के नाम लिखे हैं। पाने वाले का नाम ऊपर की पट्टिका, पिधान या ढक्कन पर खुदा या लिखा मिलता है। कुछ भेजने और पाने वालों के नाम प्रायः सर्वथा भारतीय हैं, जैसे नन्दसेन, बंगुसेन, शीतक, भीम, शमसेन, उपजीव, कुषण सेन। अधिकारियों में से भी कुछ के नाम 'चर', अथवा 'द्रुत' हैं, जो प्रमाणतः स्पष्ट रूप से भारतीय व्यवस्था के दूत परिवार के हैं।

खुत्तन का राजपरिवार बौद्ध परम्परा के अनुसार मौर्यों से संबंधित बताया जाता है। कहते हैं कि अशोक के पुत्र और तक्षशिला को उपराजा कुणाल अपनी विमाता तिष्यरक्षिता के कुचक्रों से खिन्न हो भारत छोड़ खुत्तन चला गया था और वहां उसने अपने राजपरिवार को प्रतिष्ठित किया था। यद्यपि इस परम्परा को सिद्ध करने अथवा इसके सत्य को प्रमाणित करने वाला कोई अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं, कुणाल का भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश का शासक होना, उसका पाटलिपुत्र से विरत हो जाना और खत्तन में तथा तक्षशिला से जाकर बसने वाले ऐतिह्य इस परम्परा को अप्रमाणित भी नहीं करते। यह

सही है कि अशोक के अभिलेखों अथवा उस सम्राट से संबंधित इतिहास में मध्य एशिया अथवा चीन भेजे जाने वाले भिक्षुप्रचारकों का उल्लेख नहीं हुआ है और न पांचों विदेशी 'योन' (ग्रीक) राजाओं की ही भांति मध्य एशिया में बसे किसी राजा का ही ज़िक्र है, इसके विरोध में कोई प्रमाण नहीं है कि वहां भारतीयों की बस्तियां मौर्य काल से ही बसने लगी हों। कारण यह है कि जब अपनी बौद्ध-संगीति के अधिवेशन तथा धर्म-संबंधी नवचेतना द्वारा अशोक ने लोगों में प्रचार का उत्साह जाग्रत कर दिया था तो उसका फल अनेक दिशाओं में नहीं ही हुआ होगा। यह आवश्यक नहीं कि बौद्ध धर्म के प्रचार संबंधी सारे उपक्रम राजादेश अथवा राजकीय धरातल पर ही हुए हों। अपनी प्रेरणा से भी भिक्षु उत्तर पूर्व की उस मध्य एशियाई दिशा में धर्म प्रचारार्थ जा सके होंगे। और कुणाल की परम्परा का तो, उसके अपने पिता के पश्चात् होने के कारण, अशोक की क्रियाशीलता में, सिवा परम्पराओं के, कहीं उल्लेख होना संभव भी नहीं।

तिब्बती परम्परा का यह निश्चित मत है कि खुत्तन को भारतीयों ने बसाया और उसपर भारतीय राजकुलों ने दीर्घकाल तक शासन किया। तिब्बती साहित्य ने वहां राज करने वाले राजाओं की एक तालिका भी सुरक्षित रखी है जिसका गहन अध्ययन कर स्टेन कोनो निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुंचे हैं—

1. कुस्तन नाम के अशोक के पुत्र ने (खुत्तन बसा कर उसे अपना नाम दिया और) वहां अपना राजकुल प्रतिष्ठित किया। कुत्तन का पुत्र ये-उ-ला बताया जाता है जिसकी पहचान चीनी साहित्य के ये-लिन से की जाती है जिसने, उस साहित्य के अनुसार, पहली सदी ईस्वी के मध्य खोत्तान पर शासन किया था। इस प्रकार तिब्बती और चीनी साहित्यों की परम्पराएं प्रायः समान तथ्य वक्तव्य करती हैं यद्यपि यह संभव है कि उनमें से एक परम्परा ने दूसरी को प्रभावित किया हो।

2. तिब्बती साहित्य के अनुसार, ये-उ-ला का पुत्र विजित संभव था जिसे पिता का उत्तराधिकार मिला और जिसने उसके बाद खुत्तन में राज किया। यह महत्त्व की बात है कि इस राजा के नाम के साथ जो भारतीय शब्द 'विजित' जुड़ा हुआ है उसी से कुल के राजाओं के नाम आरंभ होते हैं और ऐसे राजाओं की शृंखला लंबी है। इस प्रसंग में भी चीनी और तिब्बती परम्पराओं का पर्याप्त साम्य है।

3. खोतान में बौद्ध धर्म का प्रवेश राजा विजित संभव के शासन के पांचवें वर्ष हुआ। विजित संभव के बाद वहां ग्यारह राजाओं ने राज किया जिन के अन्त में शक्तिशाली नरेश विजित धर्म सिंहासनासीन हुआ। पहले उसने

अनेक युद्ध किए पर पीछे उसका मन रक्तपात से विरत हो बौद्ध धर्म की ओर झुका और धर्म का अनुयायी बनकर वह काशगर चला गया। इससे पहले काशगर स्वयं शक्तिमान हो चुका था परन्तु उसकी शक्ति धीरे-धीरे नष्ट हो गई थी और 220 ई० और 264 के बीच प्रायः आधी सदी खोतान के प्रभाव में आकर संभव उसका करदाता राज्य हो गया था। संभवतः यह कालान्तराल विजितधर्म का शासनकाल था। विजितधर्म के बाद खुत्तान का शासन उसका पुत्र विजित सिंह और पौत्र विजितकीर्ति ने संभाला। उस परम्परा के अनुसार विजितकीर्ति की विजयों में भारत के भी कुछ भाग आ जाते हैं। कनिक (राजा) और गुजन (कृषण) राजा का पराभव कर कहा जाता है कि उसने साकेत पर अधिकार कर लिया था; स्वाभाविक ही इस कथन पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

महत्त्व की बात है कि एक खरोष्ठी अभिलेख में विजितसिंह का उल्लेख 'महाराजा राजाधिराज देव विजितसिंह' के रूप में हुआ है। वहां ऐसे चालीस सिक्के भी मिले हैं जिन पर सामने तो चीनी में अक्षर उत्कीर्ण हैं और पीछे खरोष्ठी प्राकृत में।

खोतान का गोमती-विहार उस काल के मध्य एशियाई जगत् में विख्यात था। वहां अनेक भारतीय आचार्य समय-समय पर पहुंचे और वहां उन्होंने पठन-पाठन और धर्म का प्रचार किया। अनेक भारत आने वाले चीनी भिक्षु उसी विश्व विश्रुत ज्ञानपीठ में रुक गए और वहीं उन्होंने अपने ज्ञान की जिज्ञासा पूर्ण की। वहां के बौद्धाचार्यों की अनेक रचनाएं बुद्धवाणी की भांति समादृत हुईं। वहां से प्राप्त कला की वस्तुओं का विवरण हम यथास्थान देंगे।

खोतान के अतिरिक्त इस दक्षिणी मार्ग पर अन्य भारतीय उपनिवेश, राज्य और नगर कायम थे। इन्हीं में काशगर (शैलदेश), यारकन्द (चोक्कुक) थे। काशगर में ही रिकोल और यांगी-हिस्सार, क्रमशः किये-पान-तो और तूशा सम्मिलित थे।

उत्तरी मार्ग पर भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा और प्रसिद्ध केन्द्र कुची (आधुनिक कूचा) था। कुची में बौद्ध धर्म का प्रचार वहां के दूसरे स्थानों से विशेष पहले हुआ। उस दिशा में संस्कृत के अध्ययन का यह विशिष्ट स्थल था। वहां अनेक ऐसी वस्तुएं मिली हैं जिनसे वहां की अध्ययन-अध्यापन की प्रणाली पर प्रकाश पड़ता है। वहां अनेक ऐसी पट्टिकाएं मिली हैं जिन पर सिखाने और सीखने वाले दोनों की लिखी वर्णमालाएं अंकित हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी का अध्ययन वहां किस मात्रा में होता था इसका प्रमाण तो विशेष नहीं मिलता पर इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृत के व्याकरण का अध्यापन वहां की तन्त्र प्रणाली से होता था। व्याकरण का बोध कराकर संस्कृत से कुची की स्थानीय भाषा में अनुवाद करना सिखाया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ

कि अनेक बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद इस पद्धति से अनायास हो गया। अनेक ज्योतिष और चिकित्सा-सम्बन्धी ग्रन्थ कुची में प्राप्त हुए। बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध 'उदान वर्ग' की प्रति वहीं प्राप्त हुई थी। कुची का सारा उपलब्ध साहित्य अपने मूल में संस्कृत है, अर्थात संस्कृत से ही अनूदित हुआ है।

कुची के पास ही मिग-ओई में ब्राह्मी में लिखा संस्कृत का एक ग्रंथांश है। यह लिपि के रूप से दूसरी सदी ईस्वी का माना जाता है। पत्थर से भिन्न भूर्ज-पत्र पर लिखी हस्तलिपि संभवतः दूसरी कहीं नहीं। इसके अतिरिक्त महत्त्व की असाधारण कृति चिकित्सा संबंधी वह उपलब्धि हैं जिसे 'बावर मैनस्कृप्ट' कहते हैं जिसका वित्ररण हम अन्यत्र देंगे। कुची की समूची आबादी तो बौद्ध थी ही, चीन को जाने और वहां बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले बौद्ध श्रमण वहीं के थे। प्रसिद्ध भिक्षु पंडित कुमारजीव, जिसका सद्धर्य का चीन में प्रचार में इतना योग रहा था, कुची का ही था जिसे चीनियों ने कुची की विजय करने के बाद बन्दी बना लिया था और जिसे वे चीन ले गए थे। वहां कुमारजीव ने दीर्घकाल तक संस्कृत धर्म ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया था। कुमारजीव का पिता कुमारायण कश्मीर के मंत्री का पुत्र था जो कुची जाकर वहां के राजा का संभवतः पुरोहित हो गया था और कालान्तर में उसी की राजकुमारी जीवा को ब्याहा था। सहज ही पितामाता दोनों के संयुक्त नाम से इस महान भिक्षु का नाम 'कुमारजीव' पड़ा था। पिता ने पुत्र को अध्ययन के लिए तब के ज्ञान के महान् केन्द्र कश्मीर भेजा था जहां से बौद्ध धर्म के ग्रंथों में निष्णात होकर कुमारजीव वापस कुची आया था। कुची के प्राचीन राजाओं के नाम सर्वथा भारतीय थे—जैसे सुवर्णपुष्प, हरिपुष्प, हरदेव, सुवर्णदेव। कुची का नगर उस काल की उस मंडल की महानगरियों में से था जहां से अनन्त पुरा सामग्री की उपलब्धि हुई है। वह विशाल भवनों का नगर था जहां के विहारों और अन्य विशाल भवनों के खंडहर पुराविदों ने खोद निकाले हैं।

उसी उत्तर के मार्ग पर दूसरा विशिष्ट नगर अग्निदेश अवस्थित था। आज अग्निदेश को कड़ा शहर कहते हैं। अग्निदेश भी बौद्ध धर्म का विशिष्ट केन्द्र था जहां से चीन आदि देशों में बौद्धधर्म के प्रचार कार्य के लिए अनेक भिक्षु गए थे। वहां केराजाओं के नाम भी कुची राजाओं की ही भांति इन्द्रार्जुन, चन्द्रार्जुन आदि थे जिससे प्रमाणित है कि वहां भी भारतीय राजकुल प्रतिष्ठित हुआ था। इसी प्रकार बजार्लक का नगर भी अपने अवशेषों की विपुल संख्या के कारण प्रसिद्ध हो गया है। वहां भी स्तूपों और विहारों तथा भित्तिचित्रों के सैकड़ों खंडहर और अवशेष मिले हैं। वहां के चित्रों में तो भारतीय अन्य भिक्षुओं को विशेष प्रकार से अन्य भिक्षुओं से स्पष्ट कर दिया गया है। भारतीय भिक्षुओं के चीवर पीले वर्ण के हैं और उनके नीचे भारतीय नाम ब्राह्मी में लिख दिए गए हैं।

इसके विपरीत चीनी और तिब्बती भिक्षुओं को बैंजनी परिधान दिए गए हैं और उनके नाम राष्ट्रीयता की दृष्टि से चीनी या तिब्बती में लिखे हैं।

ऊपर चीनी तुर्किस्तान में मिली हस्तलिपियों की संख्या हज़ारों में दी गई है। उनमें से कुछ का हवाला यहां देना अनुचित न होगा। खोतान से लगभग 13 मील की दूरी पर खरोष्ठी लिपि में लिखी प्राय: दूसरी सदी ईस्वी की धम्मपद की एक हस्तलिपि मिली। उसका लेखन काल पहली सदी भी हो सकता है। इसमें पालि में 'धम्मपद' के कुछ पद्य प्राकृत में लिखे हैं जिसका उपयोग अन्य किसी बौद्ध ग्रंथ के लेखन में नहीं हुआ है। बूहलर का तो मत था कि हस्तलिपि तैयार भारत में ही हुई थी जिसे कोई बौद्ध भिक्षु वहां ले गया था। स्टेन कोनो का कहना है कि रचा यह भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग की किसी प्राकृत में गया था पर लिखा खोतान पहुंचने पर गया था। इसकी भाषा की अपनी विशेषता है जो भारत की अन्य प्राकृतों से भिन्न है। बहुत संभव है कि खोतान की स्थानीय भाषा ने उसे प्रभावित किया हो।

महत्त्व की बात तो यह है कि चीनी तुर्किस्तान में कुछ ऐसे संस्कृत ग्रंथ भी मिले हैं जो भारत से लुप्त हो गए हैं। ये केवल बौद्ध ग्रंथ अथवा धार्मिक ग्रंथ ही नहीं हैं बल्कि इनमें से कुछ साहित्य और काव्य संबंधी भी हैं। बौद्ध धर्म के ग्रंथों में एक तो 'उदानवर्ग' है, सर्वास्तिवाद का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'धम्मपद' का जो स्थान शेरवाद में है, सर्वास्तिवाद में प्राय: वही स्थान 'उदानवर्ग' का है। मध्य एशिया, चीन और तिब्बत में यह ग्रंथ अत्यंत लोकप्रिय हो गया था जिससे इन सबकी भाषाओं में इसके अनुवाद हुए। इसका मूल लुप्त हो गया था जिससे इसका ज्ञान इन अनुवादों से ही होता था परन्तु मध्य एशिया के ही अनेक भागों में इसके अनेक खंड मिल गए। इनमें सबसे प्राचीन कुषाणकालीन है जो तुन-हुआंग से मिला था। अश्वघोष को पहले भारत केवल दार्शनिक और 'बुद्ध चरित' तथा 'सौन्दरानन्द' के रचयिता रूप में ही जानता था पर अब उनके नाटक 'सारिपुत्र-प्रकरण' के एक खंड की उपलब्धि से विद्वानों को ज्ञात हुआ कि वे नाटककार भी थे। 'सारिपुत्रप्रकरण' के अतिरिक्त भी दो अन्य नाटकों के अंश भी मिले हैं, जो कुछ पंडितों की राय में, संभवत:अश्वघोष के ही हैं। पर जब तक कि इसका स्पष्ट और स्वतंत्र प्रमाण न मिले यह निष्कर्ष संदेहरहित होगा। ये सारे नाटकांश तुर्फान में मिली ताड़ पत्रों की एक हस्तलिपि में संग्रहीत मिले। इनका लेखन काल इनके रचयिता अश्वघोष के जीवन काल के शीघ्र ही बाद का अनुमानित किया गया है। भास, सौमिल्ल और कविपुत्र जैसे नाटककारों के नाम तो कालिदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में दिए हैं पर उनकी किसी नाट्यकृति की उपलब्धि, सिवा भास की कृतियों के, आज तक न हो सकी। अश्वघोष के नाटकांश भारतीय नाटक और उसके रंगमंच को आसानी से पहली सदी ईस्वी तक खींच ले जाते

हैं। भरत के 'लक्ष्मी स्वयंवर' का तो मात्र उल्लेख ही मिलता है, उसके होने का केवल अनुमान ही किया जाता है पर अश्वघोष के नाटक तो निःसंदेह संस्कृत के जाने हुए नाटकों में प्राचीनतम हैं। इनके अतिरिक्त भी दो नाटकों के अंश मध्य एशिया में कुची की भाषा में भी लिखे मिले हैं। प्रकट है कि भारतीय नाट्यविद्या ने वहां की नाट्यकृतियों और रंगमंच को भी प्रभावित किया था। कुछ आश्चर्य नहीं कि नई खोज़ों से वहां नई सामग्री भी उपलब्ध हो जिससे भारतीय विलुप्त साहित्य पर प्रकाश पड़े।

मध्य एशिया के कला संबंधी प्रसंग पर लिखने से पहले चीनी और तिब्बती साहित्यों में प्राप्त वहां की कुछ जानकारी का उल्लेख कर देना यहां उचित होगा। चीनी सामग्री का अधिकांश फाह्यान और हुएन्त्सांग जैसे चीनी यात्रियों के यात्रा-विवरणों से ही उपलब्ध हो जाता है। फाह्यान और हुएन्त्सांग दोनों ही इसी चीनी तुर्किस्तान की थल की राह भारत आए थे। फाह्यान तो अनेक साथियों के साथ इस राह से भारत की ओर चला था पर उसके कुछ साथी रेगिस्तान में मनुष्यों की हड्डियां देख डर कर घर लौट गए, कुछ राह में ही मर गए। राह की कठिनाइयों का वर्णन अन्यत्र करेंगे, यहां केवल इन स्थानों के संबंध में उसके दिए विवरण से ही संतोष कर लेना उचित होगा, यद्यपि यह विवरण भी वहां की वस्तुस्थिति पर प्रभूत प्रकाश डालता है।

फाह्यान चीन की पश्चिमी सीमा पार कर पहले लोपनोर की ओर चला। लोपनोर के पास ही, वस्तुतः मध्य एशिया अथवा चीनी तुर्किस्तान का पहला राज्य जो उसे मिला उसका नाम उसने शेन-शेन दिया है। फाह्यान लिखता है कि शेन-शेन का राजा बौद्ध था जिसके राज्य में 4,000 से अधिक भिक्षु थे। वह लिखता है कि यहां और अन्य राज्यों के साधारणजन और श्रमण सभी भारतीय आचार-व्यवहार का उपयोग करते हैं। श्रमण इस संबंध में अधिक सतर्क हैं क्योंकि वे उन्हें विशेष आग्रह से करते हैं और जनसाधारण कुछ ढीलेपन से। इसलिए राह में जिन-जिन राज्यों अथवा भूखंडों से यात्री गुज़रता है सर्वत्र वह स्थान-स्थान की अपनी-अपनी बर्बर भाषा बोलने वालों को पाता है। पर इतना ज़रूर है कि सभी श्रमण भारतीय ग्रंथों और भारतीय भाषाओं के अभ्यस्त विद्यार्थी हैं। 'पुरा सामग्री फाह्यान के लिखे इस तथ्य को प्रमाणित कर देती है। फाह्यान भारत पहुंचने के पहले दो राज्यों से गुज़रा था, दोनों की हकीकत वही थी जो उसने लिखा है।

खोतान का विवरण देता हुआ फाह्यान लिखता है कि वहां लगभग दस हज़ार भिक्षुओं का निवास था जो अत्यंत विनयपूर्वक बौद्ध धर्म द्वारा विहित आचार का पालन करते हुए शालीन जीवन बिताते हैं। राजकुल के लोग और प्रजा सब बौद्ध हैं और प्रत्येक घर के सामने एक स्तूप है, इनमें सबसे छोटा 20 हाग (लग-

भग 30 फुट ऊंचा है। नगर में चार विशाल विहार हैं जिनमें सबसे शालीन गोमती विहार है। उसमें 3,000 भिक्षु रहते हैं। जब वहां प्रतिवर्ष रथयात्रा होती है और मूर्तियों का जुलूस निकलता है तब गोमती विहार के भिक्षु ही उसमें सबसे आगे चलते हैं। फाह्यान ने संभवत: स्वयं ऊंचे रथों वाला वह जुलूस देखा था क्योंकि उसने उसका विशद वर्णन किया। ये जुलूस चौदह दिन के पूरे पखवारे में निकलते थे, प्रत्येक दिन एक विहार अपने रथ सजा कर जुलूस निकालता था। राजा और रानी भी नित्य इन जुलूसों के साथ नियमपूर्वक चलते थे।

एक दूसरे विहार का वर्णन करता हुआ फाह्यान लिखता है कि 'कि राजा का वह नव विहार अस्सी साल—तीन पीढ़ियों—तक बनता रहा था। ऊंचाई उसकी प्राय: 250 हाथ (375 फुट) है। इसमें उत्खचनों का काम खूब ही हुआ है। जुड़ाऊ काम भी इसमें भरपूर हुआ है। सारी भूमि सोने और चांदी से भर दी गई है। बुद्ध का चैत्य अत्यंत शालीन और सुन्दर है। उसकी धन्नियों, स्तंभों, खिड़कियों और द्वार के कपाटों, सभी को, स्वर्ण पत्रों से ढक दिया गया है। भिक्षुओं के निवास के लिए जो कक्ष बने हैं वे इतने सुन्दर हैं, इतने प्रभावशाली और शालीन हैं कि शब्दों द्वारा उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। पूर्वी तुर्किस्तान के छ: राजाओं ने अपने काम भर के लिए बहुमूल्य वस्तुएं अपने पास रखकर शेष सब इस विहार को भेंट चढ़ा दिया है।'

यह स्थिति इन नगरों-विहारों की तीसरी सदी ईस्वी के अन्त की है जब फाह्यान ने भारत की यात्रा की थी। दो सौ साल बाद उसी मार्ग से हुएन्त्सांग ने भारत की यात्रा की थी और उसने भी खोतान का ऐसा ही प्रभावोत्पादक वर्णन किया है। उसने खोतान के अतिरिक्त काशगर, भरुक (अक्स), कुची और अग्नि (कड़ाशहरों) सभी का विशद विवरण दिया है। वह भी लिखता है कि इन सभी नगरों में बौद्ध धर्म जाग्रत और सर्वोपरि है और वहां भारतीय लिपियों और उनमें लिखे ग्रंथों का ही उपयोग होता है। चीन से लगे तुर्फान में सविस्तार फैले बौद्ध धर्म का वह बखान करता है। वह लिखता है कि केवल काशगर में कई सौ विहार हैं। उसने भी खोतान के पवित्र स्थानों, विहारों और वहां प्रयुक्त होने वाली परम्पराओं का ज़िक्र किया है। उनका जिक्र करते उसकी लेखनी थकती नहीं।

कुची का विवरण देते हुए हुएन्त्सांग सातवीं सदी के आरंभ में ही लिखता है कि वहां के निवासी संगीत में—विशेषत: बांसुरी और तुरही बजाने में—बेजोड़ हैं। चीनी तुर्किस्तान की बस्तियों के संगीत-प्रेम का विवरण तो अन्य चीनी साहित्य में मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कुची आदि का संगीत मूल भारतीय संगीत का ही विस्तार था। जब भारतीय वहां बसने गए तब वे वहां अपनी भाषा और लिपियों के साथ अपना संगीत—गायन, वादन भी लेते गए थे। वहां बसने वालों के अतिरिक्त भी भारत का कुची आदि नगरों से

अविरल संबंध बना था और समय-समय पर संगीतज्ञ मूल देश से वहां जाते रहते थे। चीनी साहित्य में कुची में जाकर बसने वाले ब्राह्मण 'त्साओ' (झा, अवज्झा, उपाध्याय) परिवार का ज़िक्र हुआ है जो परम्परागत और पेशेवर संगीतज्ञ था। 550 और 577 के बीच इस परिवार के एक व्यक्ति ने चीन की सांस्कृतिक यात्रा की थी। कुची से ही प्रायः तभी एक और संगीतज्ञ, संजीव नाम का, चीन गया था। इन कुची निवासी संगीतज्ञों की तद्विषयक प्रवीणता के विषय में लिखा है कि केवल एक बार ही धुन या लय सुनकर उसे गा-बजा सकते थे। यह भारतीय संगीत चीन में दीर्घकाल तक लोकप्रिय बना रहा था। चीनी राज दरबार में भी उसका बहुत आदर था।

फाह्यान की ही भांति हुएन्त्सांग भी बड़े चाव से कुची के जीवन और उसके ऐश्वर्य का वर्णन करता है। वह लिखता है कि नगरों में सौ विहार हैं जिनमें 5,000 से भी अधिक भिक्षुओं का निवास है। वह भी फाह्यान की ही भांति लिखता है कि वहां के भिक्षु भारतीय विनयाचारों और सिद्धान्त-विधानों का बड़ी श्रद्धा से पालन करते हैं और बौद्ध ग्रंथों का पाठ बड़ी निष्ठा से करते हैं। उसने नगर के बाहर स्थित दो बुद्ध मूर्तियों का उल्लेख किया जिनकी ऊंचाई वह 90 फुट बताता है। वह लिखता है कि हर पांचवें साल दस दिनों तक उनके सामने धर्म संगीति होती है जिसमें साधारण जनता के अतिरिक्त राजा भी भाग लेता है। ये दस दिन वहां छुट्टी के दिन होते हैं और तब वहां भी खोतान की ही भांति मूर्तियों सहित रथों पर धार्मिक जुलूस निकाले जाते हैं।

कुची में बोली जाने वाली जिन भाषाओं को पंडितों ने 'तुखारी', 'अर्सी', 'कुचियाई' आदि कहा है वे आर्य वर्ग की हैं। चीनी स्रोतों से पता चलता है कि चौथी ईस्वी के आरंभ में कुची के राज्य में करीब दस हज़ार स्तूप और मंदिर थे। इस ओर अगली सदी के कुची के बौद्ध धर्म के प्रसार का विवरण प्रथम त्सिन राजकुल की ऐतिहासिक रचनाएं देती हैं। उनके विवरण से भी पता चलता है कि वहां न केवल अनेक भिक्षु विहार थे बल्कि भिक्षुणियों के लिए भी पृथक वास-स्थान अथवा विहार निर्मित थे। इस प्रकार के चार भिक्षुओं और तीन भिक्षुणियों के विहार कुमारजीव के गुरु बुद्ध-स्वामी की संरक्षा में बताए गए हैं। इन भिक्षुणिविहारों में विशेषतः राजाओं और राजकुमारों की प्रव्रजित भार्याएं अथवा बहिनें और कन्याएं रहती थीं। परन्तु राजपरिवारों से संयुक्त होने से उनके लिए विशेष सुविधाएं नहीं थीं और इन्हें भी साधारण भिक्षुणियों की ही भांति धर्मविहित आचारों का पालन करना अनिवार्य था।

हुएन्त्सांग के भ्रमण काल अर्थात् सातवीं सदी के प्रथम चरण में आमू और सीर दरियाओं (ट्रान्साक्सियाना) के बीच की भूमि से बौद्ध धर्म का दबदबा धीरे-धीरे उठ गया। इसी द्वाब से होकर वह यात्री भारत गया था। झील

इस्सिक कोल और वंक्षुनद (आमूदरिया) की घाटी के बीच के विस्तृत भूखण्ड के धर्म के विषय की यात्री कोई चर्चा नहीं करता। वहां की जनता पर ईरानी अग्निपूजकों का धर्म प्रभावशाली हो गया था और बौद्ध धर्म का वहां से लोप हो गया था, यद्यपि सर्वथा उसका अभाव भी नहीं था, कारण कि यात्री लिखता है कि इस्सिक कोल के पश्चिम के इलाके के तुर्कों का खान स्वयं बौद्ध धर्म के प्रति आग्रहशील था और उसने हुएन्तसांग का सभी प्रकार से आतिथ्य-सत्कार किया था और उससे सद्धर्म की विवेचना सादर सुनी थी। यात्री लिखता है कि उसकी व्याख्या सुनकर खान ने हाथ ऊपर उठाए, उसकी वन्दना की और उपदेशों को स्वीकार किया। वह चाहता था कि यात्री उसके पास ही स्थाई निवास करे पर बुद्ध के आदि देश की यात्रा के लिए अभिमुख उस यात्री को गवारा कैसे हो सकता था कि वह अपना वास्तविक अभिप्राय भूल जाए और राह में ही बगैर मंज़िल तक पहुंचे विरम जाए ? जब खान उसे उसके मार्ग से विरत न कर सका तब उसने अफगानिस्तान तक राह दिखाने के लिए अपने आदमी साथ कर दिए। हुएन्तसांग के प्रति खान के इस सद्भाव का एक विशेष कारण भी था। नालन्दा का प्रसिद्ध भारतीय भिक्षु प्रभाकर मित्र कुछ काल तक यात्री के पहुंचने के पहले खान के साथ रहा और उसने बुद्ध के धर्म का वहां उपदेश किया था।

इस प्रकार, इस्लाम के विपरीत प्रचार के बावजूद, तुर्कों में बौद्ध धर्म के प्रति कुछ आदर बना रहा था। यद्यपि उसी विरोध के कारण उस धर्म का अस्तित्व बाद में सर्वथा मिट भी गया। उल्लेख मिलता है कि आठवीं सदी से पूर्व कभी एक तुर्क सुलतान ने अपनी रानी और पुत्र के साथ भारत की यात्रा की थी और गंधार तथा कश्मीर में दो मंदिर बनवाए थे। बौद्ध धर्म का प्रसार समरकन्द तक पहले ही गया था, जिसका वृत्तान्त अन्यत्र देंगे, जहां प्रमाणतः कुछ सद्धर्मावलम्बी भी रहने लगे थे। समरकंद निवासी संघवर्मन् ने बौद्ध धर्म की दीक्षा लेकर भिक्षु के त्रिचीवर धारण किए थे और बोध गया जाकर उसने महाबोधि मंदिर के दर्शन किए थे।

चीनी यात्री ईत्सिंग ने भी अपने भ्रमण के कुछ वृत्तान्त छोड़े हैं जिनमें उसने चीनी तुर्किस्तान में प्रचलित बौद्ध धर्म और उस भूखण्ड और भारत के परस्पर सम्बन्ध पर कुछ प्रकाश डाला है। उसने भारत के ऐसे मंदिर का ज़िक्र किया है जिसे तोखारियों (तुर्कों) ने अपने देशवासियों के लिए वहां बनवाया था। ईत्सिंग लिखता है कि 'मंदिर ऋद्ध और सम्पन्न है और अपने धन-धान्य, चढ़ावों की आढ्यता और व्यवस्था में अन्य मन्दिरों को मात कर गया है।…जब उत्तरी देशों से भिक्षु भारत आते हैं तो उसी मन्दिर में निवास करते हैं और 'विहारस्वामी' कहलाते हैं। विहारस्वामियों के मठ और विहार की सारी संपत्ति उनकी एकजाई मानी जाती थी।'

इसमें सन्देह नहीं कि पहली से छठी-सातवीं सदियों तक बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति का तारीम के कांठे और सिन्धुनद की घाटी के बीच के विस्तृत भूखण्ड पर बोलबाला था। फाह्यान और हुएन्त्सांग दोनों ने अपने वृत्तान्तों में इसका उल्लेख किया है। दोनों के बीच के दो सौ साल के काल में भी वहां की सांस्कृतिक स्थिति में विशेष भेद नहीं हुआ था। वंक्षुनद और हिन्दूकुश के बीच के समूचे भूप्रसार पर हुएन्त्सांग ने बौद्ध धर्म के प्रसार के प्रमाण पाए थे। वंक्षुनद के दक्षिण में बलख (प्राचीन वह्लीक, बाख्त्री, बौट्रिया) बौद्ध धर्म का बड़ा केन्द्र था। इसकी राजधानी का नाम भी भारतीय 'राजगृह' था। इस नगर के सौ विहारों में तीन हज़ार भिक्षु रहते थे। वहां का 'नवसंघाराम' विश्व-विश्रुत था।

इसी 'नवसंघाराम' का नाम अरबी पुस्तकों में 'नौबहार' लिखा है। इसके व्यवस्थापकों का परिवार पीछे मुसलमान हो गया और अपने ज्ञान तथा बुद्धि के बल पर बगदाद के खलीफाओं की वज़ारत हासिल कर ली थी। खालिद खलीफा अल्मंसूर का मंत्री था और उसका पुत्र याहिया खलीफा हारूं-अल्-रशीद का प्रधानमंत्री। 705 में ही अरबी विजेताओं ने बलख में खालिद की माता को पकड़ लिया था और खालिद ने इस्लाम धर्म कबूल कर लिया था। खालिद इब्न बरमक और उसके पुत्रों-पौत्रों ने 786 से 803 ई० तक अब्बासी अरब साम्राज्य का शासन किया जिसका यह परिणाम हुआ कि भारतीय पंडित अमित मात्रा में बगदाद पहुंचे और उन्होंने बयतुल हिकमा में भारतीय गणित, ज्योतिष, चिकित्सा सम्बन्धी विज्ञानों के ग्रंथों के अरबी अनुवाद से सहायता की। इसका वृत्तान्त अन्यत्र सविस्तार दिया जा चुका है।

हुएन्त्सांग ने अपनी यात्रा के प्रसंग में अन्य अनेक स्थानों का भी ज़िक्र किया है जिनका उल्लेख पहले अफगानिस्तान के प्रसंग में फाह्यान के वृत्तान्त के साथ-साथ किया जा चुका है। काबुल तक की उसकी यात्रा की समाप्ति के दौरान जिन स्थानों का उसने ज़िक्र किया है उनमें प्रधान, काशगर और बदख्शां के बीच की बौद्ध मंज़िलों के अतिरिक्त, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, गज़नी (त्साउ कुता) और कुन्दुज (ह्वोह) हैं। इन सब स्थानों से दो के राजकुलों को वह कपिलवस्तु के शाक्यों से संबंधित बताया है। उसने लिखा है कि बौद्ध धर्म के अतिरिक्त इनमें से कुछ स्थानों में ब्राह्मण धर्म का भी प्रचार था। इनमें विशेष महत्त्व का अन्दराब (अत्-त-लो-पो) था।

नीचे हम मध्य एशिया के भारत-प्रभाव अथवा वहां भारतीय कला के प्रसार का विवरण देंगे।

पहले खोतान। खोतान के भारतीय राजकुल का विवरण पहले दिया जा चुका है। विजयकीर्ति के दस-ग्यारह पीढ़ियों बाद तक का वृतान्त नहीं मिलता।

पर यह लिखा मिलता है कि तब खोतान विदेशी आक्रमणों और अत्याचारों का शिकार हुआ। काल का यह अन्तराल लगभग 445 और 631 ई० के बीच का है। इस काल के बाद संभवत: 631 ई० में विजित संग्राम ने कुछ काल तक के लिए देश को आज़ाद कर लिया। 632 ई० में चीनी सम्राट के पास अपना राजदूत उपहारों सहित भेजा और 635 में स्वयं उसका पुत्र वहां गया। विजित संग्राम के बाद खोतान की गद्दी पर बैठने वाला राजा विजितसिंह हुआ जिसने 648 ई० में पहले अपने पुत्र को चीन भेजा फिर वह स्वयं वहां गया। जब हुएन्त्सांग उधर से होकर भारत से चीन वापस लौट रहा था तब संभवत: विजितसिंह का ही वहां शासन था। इसके बाद भी प्राय: सौ साल तक वहां इस राजकुल का शासन बना रहा था। तिब्बती विवरण में खोतान के इस काल के बाद राजाओं के नाम इस प्रकार मिले हैं—विजितकीर्ति, विजितसंग्राम, विजितविक्रम, विजितधर्म, विजितसंभव और विजितबोहन। इनमें अन्तिम ने संभवत: आठवीं सदी के उत्तरार्द्ध में राज किया जिसका एकीकरण उस विश्ववाह्म से किया गया है जिसके नाम मध्य एशिया में मिले दो लेखों में लिखे मिले हैं। दोनों की भाषा ईरानी है पर लिपि भारतीय है। खोतान की कला की ओर संकेत ऊपर किया जा चुका है।

खोतान से परे मिरान और एन्देरे में पर्वतों में कटे अथवा ईंट-पत्थर से बनाए स्तूप और विहारों-मठों के भग्नावशेष सुरक्षित हैं। उनसे परे उत्तर में कुचा और तुर्फान के इलाके पड़ते हैं जहां से विभिन्न प्रकार की कलाकृतियों का वहां की खुदाइयों के दौरान निरावरण हुआ है। मिरान में मिले दो भग्नावशेष विशेष महत्त्व के हैं। दोनों में ही भित्तिचित्र सुरक्षित मिले हैं। उनमें से एक, जिसे उत्खनकों ने 'एम० 5' कहा है, वर्तुलाकार और गुंबजधारी मंदिर है जो एक ठोस स्तूप पर स्थापित है। सर आरेल स्टाइन का कहना है कि ईसाई वर्तुल प्रकार के भवनों (रोटंडा) के निर्माण में इस प्रकार के वर्तुलाकार मंदिरों का प्रभाव पड़ा होगा। उसी मंदिर की भीतरी दीवार भित्तिचित्रों की दो कतारों से सज्जित है। इनमें से एक में वेस्सन्तर-जातक की कथा भरहुत और गंधार शैली में निरूपित है, और दूसरी में स्रजवाही 'कूपिद' चित्रित हैं। वहां एक अभिलेख भी खुदा है जो इस प्रकार है—'यह भित्तिचित्रण उस 'तिल' की कृति है जिसने इसके लिए (पारिश्रमिक रूप में) 3000 भामक पाए हैं।' तित नाम रोमन 'तितस्' का प्राकृत अपभ्रंश हो सकता है। चूंकि मध्य एशिया का यह भाग ग्रीक, ईरानी, भारतीय और चीनी संस्कृतियों का संगम रहा था। कुछ आश्चर्य नहीं जो रोमनों, ग्रीकों या यूरेशियाई संकर कलावंतों ने वहां नौकरी ढूंढ़ी और पाई हो।

किज़िल और तुर्फान क बीच खोतान और कड़ाशहर से आरेल स्टाइन को

जो मूर्तियां और चित्रादि मिले उनका निर्माण और अंकन-काल कुछ बाद का है, संभवतः सातवीं सदी का। इनकी शैली भी गांधार-बामियान की-सी भारतीय है। यह वह इलाका था जहां से रेशम के कीड़ों का उत्पादन-व्यवसाय 552 ई० में बिज़ान्तियन (कुस्तुन्तुनिया) पहुंचाया गया था। 1904 में स्टाइन ने खोतान में राजक विहार की खुदाई कराई। चूने और प्लास्तर में बनी सुन्दर चित्रावली मूर्ति खचनों में दीवारों पर उतारी मिली। इन दीवारों पर बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियां ऊंची उभारी हुई हैं। उनको देखकर अफगानिस्तान के हड्डा और तक्षशिला के मूर्वनों की याद आ जाती है। इसी शैली का उपयोग कड़ाशहर के उत्खचनों में भी हुआ है। मूर्तियों का परिधान, उनका नखशिख, नाक-नक्श गांधार और बामियान की ही भांति उभारे गए हैं। ये सातवीं सदी से पूर्व ही सम्पन्न हुए हैं। बुद्ध की विशाल आकृति के साथ-साथ ही अनेक बुद्धों की छोटी-छोटी आकृतियां उभार दी गई हैं।

दन्दा-उइलिक खोतान में ही है जहां सर्वथा दूसरे प्रकार के भित्तिचित्र मिले थे। इनमें से कुछ तो लकड़ी के बोर्डों पर हैं। निश्चय वहां के चित्रों पर ईरानी और चीनी प्रभाव है पर उनका समूचा भावतत्व और कलासंज्ञा भारतीय है। एक खाने में त्रिशिरा महेश अथवा सदाशिव का चित्रण हुआ है जो दो नन्दियों पर आसीन हैं। निःसंदेह शिव का यह रूप कहीं उपलब्ध नहीं, स्पष्टतः भारतीय देवता का वहां स्थानीय निरूपण हुआ है। संभव है यह वहीं विकसित किसी बौद्ध-भावना की अभिव्यक्ति हो। उस खाने की पिछली ओर बैठी हुई एक चतुर्भुजी आकृति चित्रित है। वह श्मश्रुल (दाढ़ीयुक्त) है और मध्य एशियाई शैली का सटा हुआ कोट और ऊंचे बूट पहने हुए है। जैसा परिधान कनिष्क और कनिष्ककालीन सूर्य आदि का भारत में उकेरा गया है, उसीके अनुरूप एक दूसरे खाने में दो सवार राजसी आकृतियां हैं, प्रभामंडलों से सजीं हाथ में चषक धारे। वहां गणेश की भी चतुर्भुजी आकृति लिखी हुई मिली है।

वहां की सबसे सुन्दर और शालीन कृति वहां के भित्तिचित्रों में अपूर्व रेखावलियों में संपन्न वस्त्रविहीना नारी की है, यक्षरूपिणी अप्सरा की। वह मात्र करधनी पहने हुए है, कई लड़ियों वाली, गले में सुरुचिपूर्ण ग्रेवेयक, भुजाओं में अंगद, कलाइयों में वलय और कानों में कर्णफूल। सामने योनि पत्र द्वारा ढकी है। संग में अप्सरा जल में खड़ी, जल से ही निःसृत, अपना नाम सार्थक कर रही है। जल में खड़े होने से पैरों के निचले भाग दिख नहीं पाते। वह कमलों से भरे सरोवर में खड़ी है जिसके पास ही एक नंगा बालक खड़ा है जो उसकी ओर अपनी भुजाएं उठाए हुए है। आकृति बहुत कुछ मथुरा की स्तंभ यक्षियों से मिलती है। रेखाओं में ही चितेरे ने उसकी अभिराम मांसलता जैसे खोद दी है। भारतीय शैली में लिखा यह चित्र अभिनन्दनीय है।

चीनी तुर्किस्तान की भारतीय बस्तियों में पुरासामग्री में सबसे समृद्ध कुची का इलाका रहा है। सातवीं सदी में चीनियों द्वारा पराजित हो जाने से पूर्व कुची अपनी अप्सरारूपिणी वारांगनाओं और विहारों के बौद्ध पांडित्य के लिए विख्यात था। हुएन्त्सांग ने उस नगर का बखान किया है। फान ल काक ने किज़िल में अत्यंत सुन्दर भित्तिचित्र खोद निकाले थे। वहां भी बामियान की ही भांति पर्वतों की चट्टानी दीवारों में गुहमंदिर और विहार खोदकर निर्मित हुए हैं। मिंग ओई की गुहाओं में अनेकानेक चित्र अंकित मिले हैं जिनकी भारतीयता उनके निरूपण में स्पष्ट लक्षित है। मिंग ओइ का अर्थ ही 'हज़ार गुफाएंहै' जिसकी सार्थकता उन गुहाओं की कतार को देखते ही प्रमाणित हो जाती है। इनकी दीवारों पर एकड़ों भूमि मनहर आकृतियों से भर दी गई हैं। लगता है जैसे वहां के संरक्षक और कलावंत अजन्ता के कलावंतों की मनोदशा से संयुक्त हो गए हैं। किज़िल की यह चित्र परंपरा बेजोड़ है। 'चित्रकार की गुहा' नामक कन्दरा के अभिलेखों से प्रकट है कि इनमें से प्राचीनतम छठी सदी ईस्वी के आरम्भ के हैं। रंगों की प्रचुरता चाहे इनमें अजन्ता के चित्रों की न हो पर इनके दमखम, आकृतिक शालीनता, रूपगत आकर्षण अपने जवाब आप हैं।

कुचा की कृतियों में अनेक हिन्दू देवताओं के भी चित्र हैं। ब्रह्मा, इन्द्र और पार्वती-नन्दी संयुक्त चतुर्भुजी शिव के अंकन भी वहां हैं जिनसे प्रमाणित है कि वहां की जनता सर्वथा बौद्ध ही न थी, उनमें हिन्दू अथवा ब्राह्मण धर्म के मानने वालों का भी एक जागरूक और महत्त्वपूर्ण अंश था। छत के एक चित्रण की छटा अत्यन्त आकर्षक है—सर्पिल विद्युत रेखाओं के प्रकाश से यत्र-तत्र प्रकाशित धूमायित घनों से गिरती बूंदें चातक लपक-लपक कर पी रहे हैं। भारतीय अलंकार-ग्रंथों और काव्यों में इस स्थिति का बार-बार वर्णन हुआ है, पीछे राजपूत चित्रणों (विशेषतः बीकानेर के पुराने महल) में उसका अंकन भी हुआ है पर इतने प्राचीन काल में इस चातक प्रसंग का चित्रण—कालिदास ने जिसका अंकन 'मेघदूत' में किया है—तो भारत में भी नहीं मिलता।

इसके बाद तुर्फान के पर पूरब, चीन के पश्चिमोत्तर भाग तुन-हुआंग का इलाका है जिसके सैकड़ों गुहामन्दिरों के भित्तिचित्र भारतीय परम्परा से प्रभावित हैं, पर उनका विवरण चीन के प्रसंग में ही देना समीचीन होगा। यहां तुर्फान की कलाकारिता पर एक नजर डाल लेना मुनासिब होगा। तुर्किस्तान के उत्तर-पूर्वी भाग में तुर्फान का नखलिस्तान है जहां, बेज़ेलिक में, आठवीं-दसवीं सदियों के चित्रण हैं। उनकी कथाभावना भारतीय है यद्यपि शैली उनकी प्रायः सर्वथा चीनी है। इन सदियों में यह भूखण्ड उइगर तुर्कों के अधिकार में रहा था। इसका परिणाम यह हुआ कि इन चित्रों की परिधान आदि अनेक सांस्कृतिक विधाएं पश्चिम और ईरानी मानों से प्रभावित हो गईं। पर इन

चित्रणों में जो अभिलेख लिखे हैं वे चीनी और भारतीय दोनों लिपियों में संपन्न हुए हैं। बेज़ेक्लिक के चित्र वहां की भित्तियों से उखाड़ कर खनकों द्वारा बांट लिए गए थे। जहां-जहां—पश्चिम या पूरब में—खुदाइयां हुई हैं वहां-वहां से जिसने खुदाइयां कराईं वही उपलब्ध सामग्री ले गया। चीनी तुर्किस्तान में भी, जर्मनों, फ्रांसीसियों, रूसियों, जापानियों, अंग्रेज़ों द्वारा खुदाइयां हुईं और सामग्री बांट ली गई। परिणाम यह हुआ कि बर्लिन, पेरिस, लेनिनग्राद, तोकियो, भारत आदि के संग्रहालयों में उपलब्धियां सजा दी गईं। भोजपत्र और कागज़ पर लिखी हस्तलिपियों पर भी सुन्दर चित्रण हुए हैं। स्वाभाविक ही उन पर ईरानी और अधिकतर चीनी प्रभाव है। किज़िल के विहारों का अन्त आठवीं सदी के आक्रमणों द्वारा हुआ और कला की परम्परा वहां समाप्त हो गई।

कुचा की उपलब्धियों का बयान बगैर एक विशिष्ट ग्रंथसंग्रह के वर्णन के खत्म नहीं किया जा सकता। कुचा के पास कुमतुरा में 1890 में भोजपत्र पर लिखी एक हस्तलिपि दो तुर्कों को मिली जिन्होंने उसे एक ब्रिटिश सैनिक अफसर करनल बावर को बेच दी। उसी अफसर के नाम से यह हस्तलिपि 'बावर-हस्तलिपि' प्रसिद्ध हुई। भारतीय चिकित्साशास्त्र कितना प्राचीन है यह इस हस्तलिपि द्वारा प्रमाणित हो जाता है। हस्तलिपि चौथी सदी की ब्राह्मी लिपि में लिखी है और गुप्तकालीन है। इस लिपि में लिखे स्वयं भारत में ग्रंथ कभी नहीं प्राप्त हुए और चिकित्सा के क्षेत्र में मिली यह प्राचीनतम हस्तलिपि है। यह ग्रंथों का संग्रह है जिसमें कई चिकित्सा संबंधी ग्रंथ हैं। इनमें से सात में से पहला लहसुन के गुणों पर प्रकाश डालता है, दूसरे में हज़ार वर्ष जीने के लिए एक नुस्खा दिया है। इसी में नेत्रों की चिकित्सा भी बताई गई है। 'नवनीतक' वाले भाग में पहले के अध्यायों का निचोड़ प्रस्तुत है। तीसरे भाग में ऊपर से लगाने के लेपों और मुंह से लेने की औषधियों का उल्लेख है। नवनीतक सोलह स्कंधों में विभक्त है जिनमें चूर्णों, तेलों, शक्तिवर्धक औषधियों, नपुंसकता की दवाएं और अन्य नुस्खे दिए हुए हैं। इसी में बच्चों की बीमारियों और शिशुचिकित्सा के सिद्धान्त निरूपित हैं और 'कौमारभृत्य' संबंधी अध्याय हैं। ये अध्याय श्लोकपद्धति से लिखे गए हैं। इस 'बावर-हस्तलिपि' की भाषा बौद्ध संस्कृत है, साधारण संस्कृत जिसमें प्राकृतों का पुट है। संभवतः यह उन लोगों द्वारा संस्कृत में लिखी गई थी जिन्हें संस्कृत लिखने का अभ्यास न था और वे साधारणतः प्राकृत लिखने के अभ्यस्त थे। इसी प्रकार की संस्कृत में लिखी एक अन्य चिकित्सा संबंधी हस्तलिपि है जिसके साथ उसका ईरानी अनुवाद भी संलग्न था जिसका विवरण हेन्ले ने दिया है।[1] याद रखने की बात है कि आयुर्विज्ञान, ज्योतिष, गणित आदि के लेखक

1. इनण्डारकर कामेमोरेशन वाल्यूम, पृ० 416 और बाद।

अक्सर संस्कृत के पंडित नहीं होते थे, इससे उनकी कृतियां भी पद्य में होती हुई भी, अधिकतर साधारण आशुधार्य शैली में लिखी हुई हैं। बावर-हस्तलिपि में आयुर्विज्ञान के कुछ प्राचीन आचार्यों के नाम भी दिए गए हैं। ये हैं···आत्रेय, क्षारपाणि, जातुकर्ण, पराशर, भेड़ और हारीत। ये सारे पुनर्वसु आत्रेय के पुत्र माने जाते हैं। इस संग्रह में सुश्रुत का नाम तो आया है, पर चरक का नहीं है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि चरक अथवा चरकसंहिता का ज्ञान लोगों को न था। चूंकि उनके गुरु का नाम उसमें दिया मिलता है जिससे शिष्य का पृथक नाम देने की विशेष आवश्यकता भी न थी। वस्तुतः परम्परा तो यह है कि चरक पहली सदी ईस्वी में कुषाणराज कनिष्क के राजवैद्य थे और एक सम्मेलन में वे बल्ख भी गए थे। इस प्रकार चरक का नाम उत्तरापथ के उस क्षेत्र में अनजाना न था।

इस प्रकार भारत के गंधार से स्रग्ध (सोग्दियाना, समरकंद) तक और तुनहुआंग से पूर्व ईरान-पार्थिया तक का समूचा लाखों वर्गमील का भूखण्ड बौद्ध सांस्कृतिक साम्राज्य के अन्तर्गत था। इन सीमाओं के बीच, उद्यान, बामियान, बल्ख, बदख्शां, बखां, स्रग्ध (समरकंद), तुखारिस्तान (ट्रान्साक्सियाना), तारीम और तुर्फान, तुनहुआंग और पार्थिया सभी इस साम्राज्य में सम्मिलित थे। यह प्रायः सारा ही भूखण्ड, अफगानिस्तान और उससे पूर्व की भूमि को छोड़, मध्य एशिया की परिधि के भीतर था और उसपर बौद्ध धर्म हावी था। समरकंद का यह नाम तो तुर्कों के शासन काल में पड़ा, पर नगर वह अत्यंत प्राचीन था। फिरदौसी के 'शाहनामा' के अनुसार उसे ईरानी वीर अफ्रासियाब ने बसाया था, पर ग्रीकों का भी वह नगर स्रग्ध नाम से जाना हुआ था और उसे वे 'सोग्दियाना कहते थे। वह नगर भी एक समय बौद्ध धर्म का केन्द्र बन गया था और चीनी' परम्परा के अनुसार वहीं के एक भिक्षु ने भारत और जलमार्ग से दक्षिणी चीन पहुंच वहां बौद्ध धर्म का प्रचार किया था और पहला विहार नानकिंग में स्थापित किया था।

उइगर तुर्क विद्वानों की राय में हूणों की ही एक जाति थी जो तातार भी कहलाती थी। सहज ही मंगोलों से भी उनका रक्त संबंध था। इस्लाम धर्म स्वीकार करने के पहले उइगर तुर्क प्रायः सभी बौद्ध हो गए थे और उस धर्म के प्रति उनकी गहरी आस्था सदियों रही थी। दीर्घकाल तक जब वे चीनी तुर्किस्तान और तोखारिस्तान के स्वामी बन गए तब वे बौद्ध धर्म के ही अनुयायी थे और स्वयं उन्होंने अपने नगरों और बस्तियों में भारतीय धर्म का विस्तार किया था। कुतैबा के पूर्वाभिमुख अभियान तक इस जाति ने बौद्ध धर्म को अपनी निष्ठा और शक्ति दी, उसके बाद स्वयं वे और उनकी सांस्कृतिक भूमि इस्लाम के बढ़ते परिवेश में समा गए। लोगों का तो विश्वास है कि जिस बुखारा में तुर्कों

का इतना दबदबा था उसका यह नाम पहले 'विहार' ही था जो उच्चारण-दोष के कारण बुखारा कहलाने लगा था। सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि यदि बुखारा विहार का ही अपभ्रंश है तो वहां विहारों की संख्या अपरिमित रही होगी और वह बौद्ध धर्म का प्रबल केन्द्र रहा होगा। वैसे पिछले काल में भी समरकंद और बुखारा की सभी प्रकार से सहधर्मिता थी।

खण्ड-2

अध्याय-15

भारत और उत्तर-पूर्वी देश

भारत और चीन

भारत और चीन का संबंध अति प्राचीन है। साधारण और सीधा संबंध ईस्वी सदी के आरंभ से माना जाता है, परन्तु नि:सन्देह जलमार्ग से दोनों के बीच आना-जाना सदियों पहले से था। भारतीय निर्भीक नाविक अत्यंत प्राचीन काल से पूर्व के सागरों को लांघ चीन के दक्षिण-पूर्वी तट पर पहुंचते थे और संभवत: चीनी मांझियों का भी उन दिनों भारत के पूर्वी तट पर पहुंचना स्वीकार करना होगा। और यदि चीनी शब्द हुआंग-चे से कांची का ही बोध होता है, जैसा अनेक विद्वानों ने माना है, तब तो इस संभावना के लिए विशेष प्रमाण की भी आवश्यकता न होगी। चीनी साहित्य में इसका उल्लेख मिलता है कि 1 और 6 ईस्वी के बीच कभी चीनी सम्राट ने हुआंग-चे के राजा के पास बहुमूल्य उपहार भेजे और उससे भी राजदूत भेजने के लिए संदेश भिजवाया। चीनी सम्राट की ओर से आनेवाले लोग विदेशी जहाज़ों पर चढ़कर हुआंग-चे आए थे, इसका उल्लेख मिलता है। इससे प्रमाणित है कि भारत और चीन का जलमार्ग से परस्पर संबंध कम से कम दूसरी-पहली सदी ईस्वी पूर्व में ही स्थापित हो गया होगा। पर प्रमाण तो तब का है जब साहित्य में इस संबंध की चर्चा होने लगी। संबंध तो वास्तव में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, और पहले, वस्तुत: बहुत पहले, स्थापित हो गया होगा। कारण कि व्यापार और उसे चलानेवाले सौदागरों को राजकीय साधनों की अपेक्षा विविध देशों को जाने के लिए नहीं हुआ करती, यद्यपि उस माध्यम से उन्हें संरक्षा मिलने लगती है। पर वह स्थिति वस्तुत: व्यापार चल निकलने के बाद की हुआ करती है। भारत और चीन के बीच दूसरी सदी ई० पू० में ही, यदि इससे पर्याप्त पूर्व नहीं, व्यावसायिक संबंध स्थापित हो गया था जो मैसूर में मिले एक चीनी सिक्के से सिद्ध है। यह सिक्का 138 ई०पू० का बताया जाता है।[1] सम्राट वू (140-86 ई०पू०) के समय दोनों देशों के बीच संभवत: परस्पर उपहार भेजने का व्यवहार स्थापित हो गया था।

1. दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० 646

भारतीय साहित्य में भी चीन का उल्लेख बहुशः मिलता है। उसका उल्लेख 'महाभारत', 'मनुस्मृति' और 'अर्थशास्त्र' तीनों में मिलता है। महाभारत का रचना काल 500 ई० पू० और 200 ई० पू० के बीच माना जाता है, यद्यपि उसके 'शतसाहस्री संहिता' (एक लाख श्लोकों का काव्य) होने का पहला उल्लेख संभवतः गुप्तकालीन अभिलेख में हुआ है जो पांचवीं सदी ईस्वी का है। पहले उसकी संज्ञा 'जय' थी जो प्रमाणतः केवल युद्ध संबंधी भागों का ही संग्रह था और जिसमें केवल 24,000 श्लोक थे। वह भाग 'महाभारत' का प्राचीनतम अंश माना जाता है जो, आश्चर्य नहीं, 500 ई० पू० के लगभग ही रचा जा चुका होगा। पर उसमें चीन का उल्लेख नहीं हुआ, उसके बाद के अंश, अथवा 'भारत' में हुआ है, राजसूय के प्रसंग में जब युधिष्ठिर के उपहार लानेवाले विजितों में चीनी भी बताए गए हैं। यद्यपि इस तिथि के संबंध में भी सन्देह किया गया है, महाभारत के इस भाग के 200 ई० पू० के आसपास संपन्न हो जाने में सन्देह नहीं होना चाहिए। 'मनुस्मृति' का निर्माण' काल साधारणतः शुंगकाल (पुष्यमित्र का शासन काल) द्वितीय शती ई०पू० माना जाता है कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का समय काफी विवादास्पद रहा है। विद्वान् ई० पू० चौथी सदी (चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन काल, जो 321 ई०पू० में आरंभ हुआ) से तीसरी सदी ईस्वी के बीच इसके समय के लिए प्रमाण देते रहे हैं, पर अब अधिकतर पंडित इसे मौर्यकालीन अथवा उससे शीघ्र ही बाद का रचा मानने लगे हैं। इन उल्लेखों से चीन देश के भारतीय साहित्य में आए संदर्भ दूसरी सदी ई० पू० के माने जा सकते हैं। यह स्थिति स्वीकार कर लेने से सम्राट वू संबंधी उपहारों और दूतमंडलों के दोनों देशों के बीच आवागमन की बात भी प्रमाणित हो जाती है, जिसमें सन्देह के लिए स्थान नहीं रह जाता।

इनके अतिरिक्त कुछ स्वतंत्र प्रमाण भी हैं जिनसे इस तिथि की पुष्टि होती है। विख्यात है कि चीनी सम्राट् द्वारा भेजा एक दूत लगभग 127 ई० पू० बाख्त्री (बैक्ट्रिया, वह्लीक, बलख) पहुंचा था और उसने चीनी वस्त्र और बांस बाज़ार में बिकते देखे थे। पूछताछ करने पर मालूम हुआ था कि वे दोनों वस्तुएं चीन से आई थीं, पर अफगानिस्तान, भारत और बर्मा होकर। तब चीन से राह युन्नन (युनान) और बर्मा होकर आसाम आया करती थी।

साधारणतया यह समझा जाता है कि बहुत प्राचीन में चीन कहलाने वाला यह महाभूखण्ड चीन नहीं कहलाता था। उसका यह नाम पहले त्सिन नाम के राजकुल (221-279 ई० पू०) के नाम पर पड़ा, ऐसा विश्वास है, जिससे निष्कर्ष यह निकाला जाता है कि 'चीन' वह 220 ई० पू० के बाद से ही कहलाने लगा होगा। इस निष्कर्ष की प्रामाणिकता पर सन्देह भी किया गया है, क्योंकि इस नाम का छोटा-सा राज्य, जो चीन के उत्तर-पश्चिमी भाग में चनसी प्रदेश

में पड़ता था, और जो चौथी सदी ई० पू० में भी विद्यमान था, इतने विशाल महादेश को नाम देने में समर्थ न हो सका होगा। नि:संदेह इस तर्क में शक्ति नहीं है, क्योंकि यदि भारत के पश्चिमोत्तरीय लघुप्रदेश 'सिंध' से इतने विस्तृत महादेश का नाम 'इण्डिया' पड़ सकता है तो क्या अब कि चीन का नामकरण भी इसके इस छोटे 'त्सिन' राज्य पर पड़ा हो !

चीनी रेशम की प्राचीन भारत में काफी मांग थी और साहित्य में 'चीनांशुक', 'चीनपट्ट' आदि नाम भरे पड़े हैं जो इस वस्त्र को प्रकट करते हैं। अधिकतर यहां रेशम काफी बारीक होती थी, जिससे इसका उपयोग अन्य कार्यों के अतिरिक्त ध्वजाओं के लिए किया जाता था। 'की-चोक' चीनी शब्द से बना बांस के लिए संस्कृत शब्द 'कीचक' का इस देश में प्रयोग होता रहा है, जैसे चीनी मूल शब्द 'त्सिन-तुंग' से बना संस्कृत शब्द 'सिन्दूर' भी। भारतीय विवाह-संस्कार में अनिवार्यत: प्रयुक्त होने वाले सिन्दूर के लिए यह शब्द कब संस्कृत में आया, यह बता सकना कठिन है। इतना निश्चित है कि इस शब्द का उपयोग समूचे वैदिक साहित्य में कहीं नहीं हुआ है। सूर्या के विवाह-प्रसंग में, जिसके मंत्र आज भी हिन्दू विवाह-संस्कार में उच्चरित हैं, कहीं इसका ज़िक्र नहीं आता। नि:सन्देह फिर इस सिन्दूर-दान की प्रथा का प्रारंभ भारत और चीन के परस्पर संबंध स्थापित हो जाने के बाद ही हुआ होगा। इसी प्रकार चीनी शब्द 'ली-ची' अथवा इसके किसी रूप का उपयोग भारतीय फल लीची के लिए कालान्तर में होने लगा था। कनिष्क ने जिन चीनी साम्राज्य के अधीनस्थ राज्य के राजकुमारों को पंजाब और गंधार में ज़मानत के रूप में पहली सदी ईस्वी में रखा था उन्होंने ही, लिखित परम्परा के अनुसार उन भागों में नाशपाती और आड़ू के पेड़ पहले-पहल लगाए।

भारत और चीन का संबंध व्यापारिक और राजनीतिक संदर्भ में पृथक् और दृढ़तर, भारतीय बौद्ध धर्म के चीन में प्रवेश द्वारा हुआ। इस संबंध का परिणाम यह हुआ कि दोनों देशों का परस्पर संबंध प्राय: दो हज़ार साल बना रहा और उनके बीच निरंन्तर भावों, कलाओं, राजनीतिक और धार्मिक दौत्यों का आदान-प्रदान होता रहा। पर बौद्ध धर्म का आगमन चीन में पहली बार कब हुआ यह कह सकना कठिन है, यद्यपि कुछ अनुमान परम्पराओं के आधार पर किए गए हैं जिनके प्रत्येक अंश पर अकारण संदेह करना उचित न होगा। अशोक द्वारा बुलाई तृतीय बौद्ध संगीति के परिणामस्वरूप जो उसने विविध देशों को सद्धर्म के प्रचारार्थ भिक्षु भेजे और जिनका उल्लेख अपने अभिलेख में किया, उनमें चीन का नाम नहीं मिलता। और न उन्हीं देशों में मिलता है जहां उसने पशुओं और मानवों की चिकित्सा के लिए भारत से औषधियां भेज कर (पौध) लगवाई थीं। चीन के दूर होने का इस प्रसंग में तर्क नहीं दिया जा सकता,

क्योंकि जिन देशों में धर्म-प्रचार, विशेष चिकित्सा की सुविधा देने के लिए उसने अपने जन भेजे थे उनमें से कुछ सुदूर मिस्र, पश्चिम एशिया और पूर्वी यूरोप में थे।

चीनी लिखित और अलिखित परंपरा में इसका संकेत मिलता है कि कब पहली बार भारत और चीन के बीच धर्म-संबंध हुआ। चीनी साहित्य के एक उल्लेख के अनुसार तो वहां भारतीय भिक्षु 217 ई० पू० अथवा अशोक की मृत्यु के शीघ्र ही बाद जा पहुंचे, पर इस संदर्भ को प्रमाणित करने के लिए कोई अन्य युक्ति का कहीं सहारा नहीं मिलता। इसीसे इस तिथि की ऐतिहासिकता में सन्देह किया गया है। एक दूसरे चीनी वृतान्त में एक मनोरंजक कथा लिखी मिलती है। उसके अनुसार 121 ई० पू० में एक चीनी जनरल विजयाभियान के लिए मध्य एशिया गया और वहां से लौटते समय बुद्ध की एक स्वर्णमूर्ति साथ लाया। इसपर भी विश्वास करना असंभव है, क्योंकि अभी तक तो भारत में बुद्ध की मूर्ति भी नहीं बनी थी और भरहुत, सांची आदि की वेष्टनी (रेलिंग) के मूर्तनों में बुद्ध से संबंधित प्रतीकों—छत्र, उष्णीष, भिक्षापात्र, बोधिवृक्ष आदि —का ही उपयोग होता था।

ईसाई सदी के प्रारम्भ से शीघ्र ही पूर्व 2 ई० पू० के एक प्रमाण से वस्तुत: सिद्ध हो जाता है कि उसी साल बौद्ध धर्म का प्रवेश चीन में हुआ। तब तक युह्-ची जाति का अधिकार वंक्षु (आमू दरिया) की घाटी पर हो गया था, जहां से उसने शकों को उखाड फेंका था। वहां से एक बौद्ध धर्मग्रंथ का आविर्भाव चीन में हुआ। कहते हैं कि तब पहली बार युह्-ची राजा के दूत ने चीनी राज-दरबार में मौखिक रूप से बौद्ध ग्रंथ का पाठ किया। यह काल चीन पर हान-वंश के शासन का था। यह प्रसंग वेई राजकुल के इतिहास 'वेई-लुएह' में लिखा है जो, 280 ई० में लिखा गया था।[1] इन प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अयुक्तियुक्त न होगा कि पहली सदी ई० तक चीन में बौद्ध धर्म का भली-भांति और कुछ काल पूर्व ही प्रवेश हो चुका था। कम से कम उस भारतीय धर्म के उदय की बात चीनी चिंतकों ने भली प्रकार सुन ली थी। ईसा की पहली सदी में संभवत: चीन की राजधानी में कुछ बौद्ध धर्म के अनुयायी-कुल रहने लगे थे। 'पाश्चात्कालीन हान-वृत्तान्त' में उल्लेख है कि सम्राट मिंग के वैमात्र (भ्राता) और चू (प्रदेश) राजा लिउयांग सम्राट की अनुमति से बौद्ध धर्म का आचरण करने लगा था। हुआंग-ती और लाओत्ज़ू के साथ-साथ वह बुद्ध की पूजा करता था। उसने बौद्धों को दान भी दिए थे।'[2] यह याद रखने की बात है कि अब तक मध्य एशिया में बौद्ध धर्म को माननेवाली भारतीय बस्तियां बस

1 डी० पी० सिंघल, 'इण्डिया एण्ड वर्ल्ड सिविलाइज़ेशन', भाग-1 पृ० 304

2 वही

चुकी थीं और चीन से सटे पश्चिमी भूभागों में बौद्ध धर्म का प्रचार और प्रसार बड़ी लगन से होने लगा था।

चीनी आधिकारिक राजकीय प्रमाणों के अनुसार बौद्ध धर्म का चीन में प्रवेश 65 ई० में हुआ। इस संबंध में कथा कही गई है कि हान सम्राट मिंग-ती ने उस साल स्वप्न में स्वर्ण के बने एक मानव को देखा। उसने बड़े कुतूहल से उस स्वप्न का रहस्य अगले दिन अपने दरबार में मनीषियों से पूछा। उन्होंने निश्चित स्वर से कहा कि वह पुरुष निःसंदेह बुद्ध था। यह सुनकर सम्राट ने अपने दूत पश्चिम के उन देशों की ओर भेजे जहां चीनी तुर्किस्तान में बौद्ध बस्तियां बसी थीं। सम्राट के दूत अपने साथ वहां से धर्मरत्न और काश्यप मातंग (दूसरी परम्परा के अनुसार धर्मरक्ष) नाम के दो भारतीय भिक्षु लेकर वापस लौटे। ये भिक्षु अनेक ग्रंथ और मूर्तियां (धातु, 'रेलिक') श्वेत अश्व पर लादकर चीन पहुंचे। इसी से उनके निवास के लिए राजाज्ञा से राजधानी में जो विहार बना उसका नाम ही 'श्वेत-अश्व-विहार' पड़ गया। दोनों भिक्षु फिर स्वदेश नहीं लौटे, चीन में ही बसकर यावज्जीवन वहीं बौद्ध ग्रंथों के चीनी भाषा में अनुवाद करते रहे और सद्धर्म पर उपदेश देते रहे। चीन में संभवतः वे पहले भारतीय आधिकारिक प्रचारक थे, यद्यपि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि भारत से चीन जाने का स्थल मार्ग अब तक काफी चालू हो गया था और कुछ अजब नहीं जो भारतीय भिक्षु भारतीय सौदागरों के ही साथ इस काल से कुछ पूर्व ही दक्षिण चीन पहुंच गए हों और बौद्ध धर्म का प्रचार वहां शुरू कर दिया हो।

मध्य एशिया अथवा चीनी तुर्किस्तान और चीन की सांस्कृतिक स्थिति में असाधारण अन्तर बताकर ही बौद्ध संस्कृति के चीन में प्रसार के प्रसंग पर प्रकाश डालना मुनासिब होगा। चीन और इन देशों के सांस्कृतिक वातावरण में सर्वथा विपरीत अन्तर था हिन्दूकुश और तुन-हुआंग के बीच का भूखण्ड सर्वथा बर्बर और धर्म-संस्कृति-विहीन सदियों रहा था। यही कारण था कि वहां भारतीय विचारों और धर्मों की बेलें आसानी से और शीघ्र लग गईं। जातियां उधर की निश्चय अत्यंत दुर्धर्ष, क्रूर और शक्तिमती थीं। जब वे विचलित होकर संक्रमण करती थीं तब उनकी राह के साम्राज्यों के प्रदेश छिन्न-भिन्न हो जाते थे, उजड़े-जले गांव-नगर उनके मार्ग की पहचान कराने लगते थे। पर जहां ये जातियां तलवार की धनी थीं; हृदय की कठोर थीं, विश्वास से नितान्त सरल भी थीं। उनकी विशेष आचार-पद्धति न थी, जीवन दिशा न थी, दर्शन न था। इसके विपरीत जब भारतीय जीवनाचार, धर्म और दर्शन ने इनके सामने सृष्टि आदि के रहस्य अपनी विधि से खोलने आरंभ किए, जीवन-मरण और जन्म-मृत्यु के पूर्व और परे के भेद बताने लगे तो पहले कुतूहल, फिर भय और पीछे

आश्चर्यमय संतोष से उन्हें सुना और उनके वशीभूत हो गए। महायान के कारुणिक बुद्ध इन्हें बहुत भाए और ये जातियां बौद्ध धर्म की उपासक हो गईं। उन्होंने कभी शांति और संयम जाना न था, इनके उपदेश से उन्हें परमतुष्टि मिली और उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। उन्हें लगा कि वे अब नये संस्कारों से संयुक्त हो गई हैं, नये संयम से समर्थ हो गई हैं, उन्हें अब मृत्यु से डरने का कोई कारण नहीं। उनके भावबोध ने हिंसा से भिन्न एक नई दिशा ली।

चीन की मानसिक, धार्मिक और सांस्कृतिक स्थिति मध्य एशिया से सर्वथा भिन्न थी। उसका इतिहास पुरातन था, वहां चिंतकों की कमी न थी, अपना जीवन-दर्शन रहा था, अपनी संस्कृति रही थी, अपने धर्म, अपने आचार रहे थे, अपना साहित्य, अपनी कला रही थी, और यदि चीन भारतीय अहिंसक शांत दर्शन प्रेमपरक धर्म से आकृष्ट न हुआ होता तो ऐसा कुछ न था जिसकी कमी चीन को महसूस होती। वह अपने प्राचीन ऋषियों और चिन्तकों की बताई राह, अपने दर्शन-आचारों की राह चलता चला गया होता और उसकी महानता, शालीनता और संस्कृति तथा कला के क्षेत्र में विशेष कमी नहीं आती। वह फिर सभी प्रकार से अपनी दिशा में गतिमान व समृद्ध बना रहता।

चीन में अनेक चिंतक, अनेक दार्शनिक, अनेक धर्मचेता, अनेक जननेता हो गए थे। और छठी सदी ई० पू० में तो बुद्ध और महावीर के भारत की भांति, चीन में भी दर्शन और धर्म की लगन वाले जिज्ञासु पुराने विचारों को कसौटी पर कस रहे थे, उनसे विद्रोह कर रहे थे, नये विचारों को साध रहे थे। लाओ त्ज़ू (जन्म 604 ई० पू०) और कनफ्यूशस (कुंग-त्ज़ू, 551-479 ई० पू०) अपने दर्शन अथवा आचार-विधियों— क्रमशः ताओ-चिया और जू-चिया—का प्रचार कर चुके थे और उनके शिष्य सदियों उनका प्रचार चीन में करते रहे थे और चीनी जनता उन्हें मानकर जिए जा रही थी। इस प्रकार साधारणतः कहा जा सकता है कि चीनी जनता धर्म अथवा दर्शन की भूखी न थी। उसकी अमित मात्रा उन्हें अपने देश में ही उपलब्ध थी।

पर जहां दर्शन होता है, धर्म-चेतना होती है, आचार-नियम होते हैं, संस्कृति होती है वहां उनकी मांग भी हुआ करती है। जानने पर और जानने के लिए जाना हुआ ज्ञान ईंधन का काम करता है और जिज्ञासा की आग कभी शान्त नहीं होती। ज्ञान-पिपासा के स्वभाव की यही प्रक्रिया है। इसीसे जब प्रकाश की नई किरण भारत की दिशा से आती चीन को नज़र आई उसने अपने घर की खिड़कियां खोल दीं, अपने मन-मानस और ग्यारहों प्राणों से भारतीय ज्ञान को पीने लगा, और भारत भी अपनी अक्षय ज्ञान राशि से उसे सराबोर करने लगा। दोनों अघा गए, एक देकर दूसरा पाकर।

अब हम उस देने और लेने के इतिहास पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

ऊपर लिखे संदर्भों से प्रकट हो जाएगा कि पहली सदी ईस्वी तक चीन के विभिन्न प्रदेशों में बौद्ध धर्म का प्रवेश हो चुका था और वहां उसके अनेक विहार बन चुके थे, जहां बौद्ध पंडित संयम और क्षमा, दया और प्रेमपूर्वक रहने और अपने सद्धर्म का उपदेश करने लगे थे। जिस निष्ठा और उत्साह के साथ चीन के राजकीय व्यक्तियों, आभिजात्यों और साधारण जनता ने भारतीय भिक्षुओं को भेंटा और उन्हें सम्मान दिया, उससे आकृष्ट भारतीय भिक्षु भारत और मध्य एशिया की विस्तृत भारतीय बस्तियों से वहां निरंतर जाने लगे। चीनी धार्मिक इतिहास के उल्लेखों से पता चलता है कि भारत से चीन जाने वाले बौद्ध भिक्षुओं की संख्या इतनी नहीं जितनी वहां मध्य एशिया के विहारों से जानेवालों की थी। और चूंकि वहां की बस्तियों में नाना राष्ट्रों के बौद्ध विहार थे, उन विहारों से नाना राष्ट्रों के भिक्षु भी चीन जाने लगे थे। पार्थियन (ईरानी), सुग्धी, (समरकन्दी), युह्-ची (कृष्णा), कुचियाई, खुत्तनी सभी राष्ट्रों के, बौद्ध भिक्षुओं से शीघ्र ही चीन के नवनिर्मित विहार भर गए। इनके अतिरिक्त इनकी संख्या और ज्ञान में भारतीय भिक्षुओं ने अपनी संख्या और ज्ञान जोड़ चीन को और अधिक समृद्ध किया।

एक बात यहां याद रखने की यह है कि जिस बौद्ध धर्म का प्रवेश चीन में इस पहली सदी ईस्वी के आसपास हुआ वह उस धर्म से अपने रूप, आकर्षण और प्रभाव में भिन्न था जिसका प्रचार बुद्ध ने भारत में करीब पांच सौ साल पहले किया था। वह धर्म कठोर था, प्रेम के सन्देश के बावजूद नीरस, दया और जीवों के प्रति सहानुभूति के बावजूद निःसक्त, दु.ख के भय से आक्रान्त और जीवन के सुखों से उदासीन था। वह 'हीनयान' था। पर चीन में बौद्ध धर्म के जिस रूप का प्रवेश हुआ वह उससे सर्वथा भिन्न था—'महायान'। महायान भी तपशील था, पर उसमें जीवन का उल्लास था, बुद्ध रूप वैयक्तिक देवता के प्रति आत्मसमर्पण की भावना थी, अनेकानेक देवों, बोधिसत्वों का वैभव था, स्वर्ग की संभावनाओं की प्रतिज्ञा थी। कनिष्क के समय नागार्जुन इस देवपरक, प्रेमानन्द के रस से सिक्त-सराबोर जीवन को समृद्ध करने लगे थे। स्वर्ग पर शासन करने वाले अमिताभ जीवन में स्फूर्ति और लालसा भरने लगे। वे जातक आदि कथाएं सार्थक हुईं जिनमें मानव बोधिसत्व ने पशुओं तक के रूप धारण कर स्नेह और परोपकार के लिए बलि हो जाने का आदर्श प्रस्तुत किया था। देव और देवियां मानवों के वातावरण में फिरने लगीं, बुद्ध के मूल अट्ठारह शिष्य विविध रूप से विविध देवी-देवताओं की मूर्तियों के साथ चीनी देवसमूह में मूर्त होने लगे। जीवन अर्हतवाद के सूखे निःसत्व दर्शन से विरत हो बुद्ध और बोधिसत्वों के उल्लासमय संदर्भों की ओर झुका।

अर्हतवाद को महायानियों ने 'हीनयान' की संज्ञा दी। वह उसके प्रति हेय

भाव था। उनका कहना था कि अर्हतवाद का समर्थन करने वाला भिक्षु स्वार्थी होता है, क्योंकि अर्हत केवल एक व्यक्ति के निर्वाण की, मात्र अपने मोक्ष की साधना करता है। उसका यान इतना लघु, इतना 'हीन' है कि एक व्यक्ति भर भार उठा सकता है, एक से अधिक का भार लेते ही वह डूबने लगता है। उधर महायान के महासत्त्व बोधिसत्त्व ने—ईसा के सारे मानवों का पाप अपने सिर लेने की भांति —घोषणा की थी कि जब तक धरा पर एक जीव भी अनिर्वण्ण रह जाएगा तब तक मैं निर्वाण में प्रवेश नहीं करूंगा। इससे उनकी संज्ञा महाकारुणिक की हुई। उनका यान 'हीन' नहीं 'महान' और विस्तृत था कि केवल एक का ही नहीं सारे प्राणियों का भार उठा सकता था, यान बन सकता था इसी से उसकी संज्ञा भी 'महायान' हुई। जीवों को, महायानवादियों को अब किसी प्रकार का दु:ख न था, भय न था। उनका बुद्ध बोधिसत्त्व अपनी मूर्ताकृतियों में मधुर और कल्याण-कर और शोभन की सत्ता बिखेरते, होंठों पर मृदु मुस्कान लिए हाथ उठाए भयान्वित प्राणियों को अभयमुद्रा द्वारा अभय प्रदान करने लगे। उनके 'महायान' में सबको भवसागर पार करा देने की क्षमता आई। पहली बार इतिहास में नर नेता ने 'बहुजनहिताय'-'बहुजनहिताय' की महिमा का ऐलान किया। उसी महायान का प्रवेश चीन में तब हुआ जब हान राजकुल के पतन के बाद चीन अराजकता का शिकार हो क्षत-विक्षत होने लगा, प्रान्त-प्रान्त से टूटकर बिखरने लगा। अरक्षा और युद्धों की हिंसक शंकाओं से डरा चीन उसी प्रकार महायान बौद्ध धर्म की ओर झुका, जैसे रोम अपने पतन के बाद ईसाई धर्म की ओर झुक पड़ा था। और बौद्ध धर्म ने चीनी जनता को बिखरने से बचा लिया, उसे आशा और व्यवस्थित जीवन की संभावना से संयुक्त किया। ताओवादी चीनी धर्म ने बौद्ध धर्म को खुली भुजाओं में भरा और दोनों ने एक अद्भुत-मधुर मिश्रण से चीनियों के सूने अन्तर को भरा। अनेक बार चीनी सम्राटों ने नये बौद्ध धर्म का विरोध किया, उस तथाकथित विदेशी धर्म के अनुयायियों पर अमानुषिक अत्याचार किए। चीन के दार्शनिकों ने उसे अंधविश्वासों का जाल कहा, राजनीतिज्ञों ने ऐलान किया कि राष्ट्र का एक बड़ा भाग जो समाज की शक्ति हो सकता था, सर्वथा निष्क्रिय होकर, वीर्यहीन मानवों की भांति जीवन से उदासीन हो विहारों को भरे जा रहा है, उनकी चहारदीवारी के भीतर लोग क्लीबों की तरह पड़े हैं। पर शीघ्र ही सम्राटों ने देख लिया कि धर्म और विश्वास की सत्ता राज्य की सत्ता से शक्ति-मती है, अतः उन्होंने नये धर्म के नये देवताओं से सन्धि कर ली, बौद्ध भिक्षुओं को दान लेने, मन्दिर और विहार बनवाने की अनुमति दी और कन्फ्यूशस का सिद्धान्त राज्याधिकारियों और विद्वानों तक ही सीमित होकर अभिजात हो गया। जनता ने ताओवाद की ही भांति बुद्ध धर्म को प्रसन्न मुद्रा से स्वीकार किया, उसमें दीक्षित हुई। नये धर्म ने पुराने मठों-मंदिरों तक पर अधिकार कर लिया और ताइ-

शान के पवित्र पर्वत पर अपना आधिपत्य जमाया। नये धर्म ने नये विश्वासों, नई आशाओं, नये तीर्थों को जन्म दिया । सारी कलाओं—चित्रण, मूर्तन, वास्तु, साहित्य, मुद्रण —को इसने उत्तेजित कर उनमें नये प्राण फूंके और उनके आकलन के क्षेत्र में सहसा बाढ़ आ गई। चीनी आत्मा को नई सुखद परस मिली, उसमें नई मानवीयता, अनोखी मृदुता का उदय और विकास हुआ। महायान जनता के हृदय में बैठा। कारण कि बौद्ध धर्म की सबसे बड़ी व्याख्या युद्धों से विरक्ति और उनका विरोध थी, शान्ति की सभी अर्थों में रक्षा। साधारण चीनी जनता वस्तुत: चीन के प्राचीन तर्कवादी दर्शनों से, उनके द्वारा विन्यस्त धर्मों से विरक्त हो गई थी, यद्यपि उन सबके लिए उसके मानस में आदर था। साधारण विश्वासी जनों की ही भांति चीनी जनता के मन में भी किसी का निरादर न था और हृदय उसका श्रद्धा से भरा होने से उसने एक साथ ताओ-वाद, कन्फ्यूशसवाद और महायान को समादृत किया। वे उन सभी साधुओं को दान देते जो उनके भविष्य के निर्माण के लिए, उनके कल्याण के लिए अपने भगवान से प्रार्थना कर सकें ।

चीन जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले भिक्षुओं की परंपरा, उनकी संख्या बड़ी है। यहां उनके प्रयत्नों का सांगोपांग विवरण तो इस कृति में दे पाना कठिन है, पर कुछ का उल्लेख कर देना स्वाभाविक ही अनिवार्य है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, चीन आनेवाले भिक्षुओं में अनेक जातियों के व्यक्ति थे। प्रारंभ के भिक्षुओं में एक प्रवीण और प्रधान भिक्षु पूर्वी ईरान (पार्थिया) का था, जिसका नाम लोकोत्तम था और जिसका उल्लेख चीनी भाषा में 'शे-काओ, नाम से हुआ है। वह लोयांग में 148 ई० में पहुंचा। उससे पूर्व अथवा उसके चीन आगमन के प्राय: साथ ही साथ वह घटना घटी थी जिसका ज़िक्र ऊपर किया जा चुका है कि किस प्रकार चूके राजा ने सम्राट् की अनुमति से अपने राज-प्रासाद में ही बुद्ध की मूर्ति की पूजा शुरू कर दी थी। शे-काओ के लोयांग पहुंचने के प्राय: अट्ठारह वर्ष बाद एक बड़ी चमत्कारी घटना घटी। शान्तुंग प्रान्त से सियांग-चिएह ने राजधानी में आकर सम्राट् को एक पत्र दिया, जिसमें उसको अपने अत्याचारों से विरत हो जाने और बुद्ध की शिक्षाओं को अमल में लाने की सलाह दी गई थी।

लोकोत्तम (शे-काओ) सन्यस्त हो गया था और उसने अपना पैतृक सिंहा-सन तरुणाई में ही तज दिया था। प्रव्रज्या धारण कर बौद्ध संघ में दीक्षित हो उसने धर्म और उसमें निहित दर्शन का गहन अध्ययन किया। अध्ययन ने उसे औरों को भी अपने ज्ञान का आस्वादन कराने की प्रेरणा दी और वह चीन जा पहुंचा। वहां पहुंच कर उसने श्वेताश्व-विहार में डेरा डाला और वहां अद्भुत क्षमता से उसने सद्धर्म की पुस्तकों के चीनी में अनुवाद का कठिन कार्य आरंभ

किया। विहार विशाल था, भिक्षुओं की संख्या अपार थी और सद्धर्म के अध्ययन, व्याख्या और चिन्तन करने वाले मनीषी भिक्षुओं की वहां कमी न थी। लोकोत्तम ने उनका एक दल तैयार किया और अनुवाद का कार्य प्रारंभ किया और अनेक सुग्ध और पार्थिया से आए भिक्षुओं ने उसकी सहायता की। जिस अनुवाद कार्य का उसने समारंभ किया वह चीन में सदियों चलता रहा।

लोकोत्तम के सहकारियों में आठ भिक्षु, विशेष सक्रिय थे। इनमें तीन युह्-ची थे, दो सुग्धी और तीन भारतीय। इसी दल में युह्-ची लोकक्षेम था जिसने महायान के ग्रंथों के अनुवाद किए, स्वयं लोकोत्तम ने हीनयानी साहित्य को संभाला। उस काल दस आचार्यों ने पचास से ऊपर ग्रंथों के चीनी अनुवाद प्रस्तुत किए। इन्हीं लोकोत्तम के सहकारियों में सुग्ध से आया संघभद्र (शेंग-हुइ) था। तीसरी सदी के प्रथम चरण में भारतीय-सुग्धी परिवार में उसका जन्म हुआ था। यह सुग्धी परिवार अनेक पीढ़ियों से भारत में बसा हुआ था और बौद्ध धर्म से वह प्रभावित हुआ था। शेंग-हुइ का पिता सौदागर था और चीन आदि के पूर्वी देशों से व्यापार करता था। उसी व्यापार के सिलसिले में वह तोंकिन गया और वहीं बस गया। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र शेंग-हुइ प्रव्रज्या लेकर बौद्ध भिक्षु संघभद्र बन गया और दक्षिणी चीन में सद्धर्म का प्रचार करने लगा। उल्लेख मिलता है कि संघभद्र ने ही चीनी सम्राट वू को बौद्धधर्म में दीक्षित किया और उसकी राजधानी नानकिंग में उसने 247 ई० में एक विशाल विहार का निर्माण किया, जहां बौद्ध धर्म के शिक्षण का कार्य सम्पन्न होने लगा। उसने अनेक मंदिर भी सम्राट की सहायता से बनवाए, जहां बुद्ध की मूर्तियां पूजी जाने लगीं।

युह्-ची देश से चीन जाने वाले बौद्ध भिक्षुओं में सबसे अधिक विख्यात फा-हू (धर्मरक्षक) हुआ। वह चीन के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त कान्सू के समीप तुन-हुआंग में जन्मा था और बौद्ध धर्म का गहन अध्ययन उसने भारतीयों के आचार्यों के तत्वावधान में किया था। पहले तो वह उन्हीं आचार्यों के साथ मध्य एशिया के विविध बौद्ध विहारों में घूमता रहा, फिर भारतीय सीमा तक जा पहुंचा। तीसरी सदी के मध्य वह चीनी राजधानी नानकिंग में जा बसा। वहीं वह आमरण बौद्ध धर्म का प्रचार करता रहा। वह महान् पंडित था और संस्कृत और चीनी के अतिरिक्त चौंतीस और भाषाएं जानता था। उसने अनेक संस्कृत ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया। उसके प्रयास से सद्धर्म के उपासकों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई।

भारत और मध्य एशिया से चीन जानेवाले बौद्ध पंडितों की एक महती संख्या का उल्लेख साहित्य में मिलता है। पहली तीन ईस्वी सदियों के दौरान इन बौद्ध मनीषियों ने बौद्ध धर्म के अनेक ग्रंथों के चीनी अनुवाद सम्पन्न कर दिए

और इनके अनवरत अध्यवसाय और चरित्र का पवित्रता से आकृष्ट संख्यातीत चीनियों ने सद्धर्म में दीक्षा ली। इसका परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म और उससे संबंधित कलाएं पार्थिया (पूर्वी ईरान) से चीन तक फैल गईं। तारीम की घाटी में मिलने वाले उत्तरी और दक्षिणी दोनों मार्गों की सन्धि पर चीन के पश्मिोत्तर में बसा तुन हुआंग बौद्ध धर्म का विपुल केन्द्र बन गया। वहीं पश्चिम से आने वाली विविध जातियों का संगम होता था और वहीं अनेक भारतीय परिवार जा बसे। तुन-हुआंग की कला विशेषत: अजन्ता की शैली से प्रभावित है तथा उसके भित्तिचित्र विश्वविश्रुत हैं। पर उनका सविस्तार उल्लेख हम पीछे करेंगे।

चीनी अभिजात वर्ग तो अब भी नए धर्म में दीक्षित होने से परहेज करता था। उसे विदेशी मान कर भी उसकी ओर से उदासीन था। अनेक बार तो यह उदासीनता सक्रिय विरोध और अत्याचार में परिणत हो जाती थी। इसी विरोध का परिणाम था कि पहले चीनी सम्राट भी उसके विरोधी हो गए थे। उनमें से एक के लिए सावधान हो जाने के पत्र का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पर दूसरी सदी ईस्वी में ही, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, साधारण चीनी जनता पर बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव पड़ने लगा था। धीरे-धीरे चीनी विद्वानों में भी इस भारतीय धर्म के प्रति अनुराग बढ़ा। उल्लेख मिलता है कि दूसरी सदी ईस्वी के एक प्रकाण्ड चीनी पंडित माउ-त्सेउ ने बौद्ध धर्म की प्रशंसा और उसके शत्रुओं के आक्षेपों के प्रतिवाद में काफी कुछ लिखा और उस धर्म के सिद्धान्तों को कन्फ्यू-शस के सिद्धान्तों से भी महत्तर बताया। महान् चीन के छोटे-छोटे राज्यों के अधिपति अब बौद्धधर्म को स्वीकार करने लगे और उनकी संरक्षा में सद्धर्म का परिवार बढ़ चला। पश्चिम के जिस त्सिन राजकुल ने विभाजित चीन को संयुक्त किया वह बौद्ध धर्म का प्रबल हिमायती और संरक्षक था और उस राजकुल के प्रयत्न से चीन के जन-जीवन में नये धर्म का बोलबाला हो गया। सम्राट वू (265-_90 ई०) के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की बात ऊपर कही जा चुकी है। उसके और सम्राट मिन (313-316 ई०) की संरक्षा में सद्धर्म का चीन में इतना प्रसार हुआ कि प्राय: समस्त उत्तरी चीन बुद्ध का उपासक बन गया। उनके साम्राज्य में असंख्य बौद्ध विहारों और मंदिरों का निर्माण हुआ। केवल नानकिंग और चांग-ङ्गान के दो नगरों के विहारों की संख्या 180 और भिक्षुओं की 3700 चीनी साहित्य में लिखी मिलती है।

इस प्रकार चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार हो जाने के बाद चीनी पंडितों की भी इच्छा, स्वाभाविक ही, अपने धर्म के प्रवर्तक बुद्धदेव का जन्मस्थान और वह पवित्र देश देखने की हुई जहां उन्होंने अपने प्राप्त ज्ञान के उपदेश किए थे और जहां दर्शन का अध्ययन-अध्यापन पंडितों में सहज कर्म हो गया था। उस मूल देश का दर्शन, वहां जाकर अध्ययन करने और वहां से बौद्ध ग्रंथों को उप-

लब्ध कर उन्हें स्वदेश लाने की लालसा चीनी भिक्षुओं में प्रबल हो उठी। अनेकों ने भारत जाने की तैयारी की, अनेक चल भी पड़े, पर उनका स्पष्ट परिचय हमें उपलब्ध नहीं, यद्यपि चीनी यात्री इत्सिंग का कहना है कि उससे लगभग पांच सौ साल पहले बीस चीनी भिक्षुओं ने दक्षिणी चीन से स्थलमार्ग द्वारा बर्मा होकर भारत की यात्रा की थी। भारत आने का पहला स्पष्ट ऐतिहासिक उपक्रम, जो जाना हुआ है, संभवत: चू शे-हिंग ने किया। वह चीन से भारत के लिए 260 ई० में चला, पर भारत पहुंच न सका। उसका ध्येय भारत जाकर वहां के बौद्ध आचार्यों से अध्ययन करना था, पर वह कार्य उसका मार्ग में ही सम्पन्न हो गया। वह मध्य एशिया की राह भारत के लिए चला था और खोतान तक पहुंच भी गया था, पर वहां जो बौद्ध ग्रंथों के अनेक महान् पंडित उसे मिल गए तो उसने भारत जाने का विचार छोड़ दिया और वहीं के विहारों में अध्ययन करने लगा। खोतान में वह आमरण रहा और उसने वहां से अनेक सद्धर्म के ग्रंथ चीन भेजे।

पर चू शे-हिंग ही उस दिशा में प्रयत्न करनेवाला अकेला चीनी भिक्षु नहीं था। अनेकों ने यात्रा की और भारत पहुंचे और वहां रहकर उन्होंने बौद्ध तीर्थ-स्थलों की यात्रा की और धर्म के महान आचार्यों से ज्ञान पाया। इस प्रकार के जिन बीस भिक्षुओं के भारत आने का उल्लेख ईत्सिंग ने किया है उनके लिए तत्कालीन गुप्तराज श्री गुप्त ने (गुप्त राजाओं में से प्रथम, जिसने तीसरी सदी ईस्वी में पाटलिपुत्र में राज किया था) बंगाल में एक मन्दिर बनवा दिया था और उनके पवित्र आचरण से प्रभावित होकर उसने उस मन्दिर-विहार के व्यय के लिए भूमि भी पर्याप्त दान कर दी थी और चौबीस गांवों की लगान उसके नाम लगा दी थी। ईत्सिंग के समय तक वह मन्दिर वर्तमान था, यद्यपि वह तब तक जीर्ण हो चुका था। समसामयिक राजा ने ईत्सिंग को विश्वास दिलाया था कि यदि वह अथवा अन्य चीनी भिक्षु वहां रहना चाहें तो वह मन्दिर संबंधी भूमि और गांव फिर दान कर देने के लिए तैयार है। ईत्सिंग के इस कथन का आधार यद्यपि केवल पुराने लोगों द्वारा बताई परम्परा थी, पर इस संबंध में संदेह के लिए स्थान इस कारण नहीं है कि चीनी यात्री ने स्वयं वह मन्दिर देखा था—यह स्पष्ट नहीं कि मन्दिर वह बंगाल में था या मगध में—और राजा ने उसके पुनरुद्धार का वचन दिया था। फिर उस मन्दिर का जीर्णोद्धार हुआ या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। इससे इतना प्रमाणित हो जाता है कि तभी चीन से भी लोग भारत की यात्रा करने लगे थे।

यह धार्मिक अभियान और भारत-चीन के परस्पर धर्म-संबंधी आवागमन के अध्ययन को यथास्थान छोड़ दोनों के राजनीतिक संबंधों पर भी यहां विचार कर लेना उचित होगा। भारत के संबंध में तब चीन में पर्याप्त जिज्ञासा होने

लगी थी और कुतूहलवश लोग उस संबंध में जानने के लिए प्रयत्न करने लगे थे। उन्हें थोड़ी-बहुत, गलत-सही सूचना भारत के संबंध में मिलने भी लगी थी। इस प्रकार की एक सूचना 'हान राजकुल का इतिहास' (25-220 ई० की कालावधि) में इस तरह दी भी हुई है : 'वह देश (भारत) गज, गैंडे, कूर्म-खाल, स्वर्ण, रजत, ताम्र, लोहा, रांगा और बंग (टिन) उत्पन्न करता है। अपने पश्चिमी सागर तट से वह त-त्सिन (सीरिया का रोमन प्रान्त) से व्यापार करता है, जहां से उसके पास आई बहुमूल्य वस्तुओं का बाहुल्य है। वहां (भारत) की मलमल बहुत बारीक होती है, ऊनी गलीचे बहुत उत्तम होते हैं और सभी प्रकार के गन्धद्रव्य वहां उपलब्ध हैं। गुड़, चीनी, काली मिर्च, अदरख और काला नमक सभी वहां से प्राप्त होते हैं।[1]

भारत और चीन का वास्तविक और प्रामाणिक राजनीतिक संबंध पहली सदी ईस्वी में कुषाणराज कनिष्क के शासन काल में आरम्भ हुआ। यह संबंध सद्भाव का परिणाम न था, बल्कि साम्राज्यलिप्सा के अभियान का परिणाम था। चीन के ही उत्तर-पश्चिम की ओर से आनेवाली युह्-ची जाति लड़ती-भिड़ती वंक्षुनद की खाटी में आ बसी थी। उसके प्रधान भाग कुषाणों ने अपने राज्य का विस्तार किया और उनके नेता कुजुल-कदफिसेज़ ने पार्थिया (पूर्वी ईरान) और अफगानिस्तान जीतकर गंधार पर भी प्रायः अधिकार कर लिया। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी वीम-कदफिसेज़ ने पिता के साम्राज्य का विस्तार दक्षिण-पूर्व में किया और पूरे पंजाब तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश को जीत लिया। वह स्वयं शैव हो गया था और उसके बाद के कुषाण राजा कनिष्क ने बौद्ध धर्म स्वीकार ही नहीं कर लिया बल्कि अशोक की ही भांति वह उसके प्रसार में पराक्रम करने लगा। उसने कश्मीर में धर्म की चौथी संगीति बुलाई और उसका साम्राज्य बनारस से चीन की पश्चिमी सीमा तक फैल गया। वह चीन का निकटतम पश्चिमी पड़ोसी था और बौद्ध धर्म के अनुयायी होने के कारण दोनों देशों में होना तो मित्रभाव चाहिए था पर वह हुआ नहीं। उसके बदले दोनों में राजनीतिक संघर्ष होने लगा, क्योंकि कनिष्क की प्रसार नीति प्रखर थी।

कनिष्क ने पार्थिया पर ईरानी सम्राट के आक्रमण को व्यर्थ कर भारत में अपना साका (शक संवत्) 78 ई० में चलाया और पश्चिमी सरहद सुरक्षित कर वह पूरब की ओर बढ़ा। कश्मीर पर उसका अधिकार था ही, अब उससे लगे पूरबी प्रदेशों की ओर वह झुका जिन पर चीन का प्रभाव दीर्घकाल से चला आ रहा था। 23 ई० में प्रथम हान-राजकुल का अन्त हुआ जिससे चीनियों का दबदबा मध्य एशिया से उठ गया। परन्तु आधी सदी बाद उस धीर

1 के० ए० एन० शास्त्री, 'फारेन नोटिसेज़ आफ साउथ इण्डिया', पृ० 11

जाति ने फिर एक बार पश्चिम की ओर रुख किया। उनका वीर सेनापति पान-चाऊ आंधी की भांति चीन की सीमा से निकलकर आसपास के राज्यों पर टूट पड़ा और उसे उनको सरकाते देर न लगी। कश्मीर भी अब पान-चाऊ के खतरे के भीतर आ गया। कुछ सहमकर, कुछ पान-चाऊ की विजयों को धृष्टता समझ कनिष्क ने उससे शक्ति तोलने की ठानी। समीप के राज्यों में उसकी तूती बोलती थी, आतंक छाया हुआ था। पहले तो उसने सोचा कि शायद धमकी से ही काम चल जाए। सो उसने चीनी सम्राट से बराबरी स्थापित करने के लिए उस देश के सम्राटों का प्रिय विरुद 'देवपुत्र' धारण किया और विवाह के लिए चीन से राजकुमारी मांगी। उसका दूत जब पान-चाऊ के पास पहुंचा तब वह चीनी सेनापति अगली विजयों के सपने देख रहा था, उनके लिए अभियान की योजनाएं बना रहा था। कनिष्क के आचरण से उसे पश्चिम की ओर बढ़ने का बहाना मिल गया। उसकी मांग को धृष्टता ऐलान कर उसने कनिष्क के दूत को कैद कर लिया। कनिष्क को जब यह मालूम हुआ तो वह बड़ी सेना ले, पामीर लांघ, पान-चाऊ से लोहा लेने पूरब की ओर बढ़ा। पर चीन न तो उससे शौर्य में घट कर था और न उसके पास सेना की ही कमी थी। जो युद्ध हुआ उसमें पान-चाऊ ने सिद्ध कर दिया कि सैन्य-संचालन में वह कनिष्क से बढ़कर है। कनिष्क फलतः बुरी तरह पराजित हुआ और चीनी सम्राट को कर देने पर बाध्य हुआ। संधि महंगी पड़ी और उसे बहुत अखरी। अपमान के कारण वह नींद भर सो न सका। कुछ वर्ष बाद एक बड़ी सेना लेकर वह फिर पामीर लांघ पूरब जा पहुंचा। पान-चाऊ अब तक मर चुका था। उसका पुत्र पान-यांग अब चीनी सेना का नायक था, युवा और असंयत। कनिष्क ने उसे परास्त कर पुराने अपमान का बदला ले लिया। पास ही चीन का एक करदायी राज्य था। कनिष्क ने उसे चीन की नेकचलनी का जामिन बनाया और ज़मानत में राजा को अपने राजपुत्र देने पर बाध्य किया। कहा तो यहां तक जाता है कि जामिनों में स्वयं चीनी सम्राट का भी एक पुत्र था, पर इसपर विश्वास कर सकना कठिन है। इसके विपरीत ज़मानत में आए कुमारों की कनिष्क ने बड़ी आवभगत की और उनके सुखपूर्वक निवास के लिए ऋतूचित प्रबंध किए। प्रत्येक ऋतु में सुविधा-जनक विश्राम के लिए कपिशा (काफिरिस्तान) में शे-लो-क विहार (गंधार में) और पूर्वी पंजाब में चिनभुक्ति नामक स्थान चुन लिए गए। हुएन्त्सांग जब सातवीं सदी के प्रारम्भ में शे-लो-क विहार में ठहरा तब उसने भी उन कुमारों के संबंध में अनुश्रुतियां सुनीं, जिनमें से एक यह थी कि उन्होंने ही भारत में चीन से लाकर नाशपाती और आड़ू के पेड़ लगाए। हुएन्त्सांग का चरित-कार हुइ-ली लिखता है कि विहार और उसके चैत्य के खर्च के लिए उन्होंने प्रचुर धन दान किया। वह धन 'वैश्रवण' (कुबेर) की प्रतिमा के चरणों के पास

गाड़ दिया गया। एक राजा ने उस धन को एक बार निकालना चाहा, पर दैवी उपद्रवों के कारण घबड़ाकर उसे हाथ खींच लेना पड़ा। चीनी साहित्य ने कनिष्क का और भी वृत्तान्त दिया है कि उसने साकेत और मगध तक धावे मारे और अश्वघोष को अपनी संगीति के लिए पाटलिपुत्र से बलपूर्वक उठा ले गया।[1]

सम्राट हो (89-105 ई०) की कालावधि में अनेक राजदूत उपहारों के साथ भेजे गए। बाद में पश्चिमी प्रदेशों के विद्रोह कर देने के बाद ये संबंध टूट गए। फिर 159 और 161 ई० जे-नान के परे से वे फिर आए।' लगता है 105 ई० के शीघ्र ही बाद मध्य एशिया के मार्ग से चीन आने-जाने का संबंध टूट गया और यात्राएं या तो जलमार्ग से या बर्मा के स्थल मार्ग से अब की जाने लगीं। इसी स्थल मार्ग से 120 ई० में संगीतज्ञ और नट ता-त्सिन (सीरिया) से चीन पहुंचे। चीनी इतिहास में 147 और 167 ई० के बीच दक्षिण सागर की राह भारतीय दूतों के चीन आने की बात लिखी है।

पहले लिखा जा चुका है कि कैसे चीनी बौद्धों में भारत जाने की प्रबल प्रवृत्ति जागी और कैसे तीसरी सदी ई० में ही, भारतीय गुप्त राजकुल के उदय के समय, ईत्सिंग के अनुसार अनेक चीनियों ने भारत की यात्रा की। इस प्रवृत्ति को चौथी सदी ईस्वी के उत्तरार्ध में हुए चीनी पंडित ताओ-ङ्गान ने और भी जगाया। वह स्वयं चीनी ज्ञान से समृद्ध परिवार में जन्मा था, जिसकी कनफ्यूशस के दर्शन में गहरी निष्ठा थी। ताओ-ङ्गान को भारतीय बौद्ध पंडितों के व्याख्यानों से एक नई दिशा का ज्ञान हुआ और उसके अध्ययन से शीघ्र ही उसका बौद्ध धर्म की पुस्तकों के प्रति आकर्षण हुआ। उनकी सहायता से उसने गहन अध्ययन का व्रत लिया। ऐसे परिवार में जन्म लेने से, जिसकी धर्म-जिज्ञासा विख्यात थी, उसके संस्कारों ने पुनर्जन्म लिया और नवदर्शन ने उसे सन्यस्त होने को बाध्य किया। उसने शीघ्र ही प्रव्रज्या ली। उसने भारतीय पंडितों द्वारा प्रस्तुत चीनी अनुवाद देखे, उन्हें शुद्ध किया और बौद्ध-सिद्धान्त और दर्शन को स्पष्ट करने के लिए अनेक व्याख्याएं लिखीं। वह शीघ्र ही नये चीनी बौद्धों का आदर्श और आकर्षण का केन्द्र बन गया और तरुण उससे दीक्षा और ज्ञान ग्रहण करने लगे। उसने उन्हें धर्म में पारंगत कर सद्धर्म के प्रचार के लिए चीन के विविध प्रान्तों में भेजा और समूचे देश में अमित मात्रा में प्रचार होने लगा।

इसी बीच उसे लगा कि जब तक चीनी भिक्षु भारत नहीं जाएंगे तब तक उनके मन में हजार तरह की दुविधाएं बनी रहेंगी, इससे उनका भारत-भ्रमण और वहां जाकर धर्म का अध्ययन आवश्यक है। इस प्रकार की प्रवृत्ति पहले से ही, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, देश में प्रवाहित हो रही थी और कुछ चीनी

1. उपाध्याय, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 217

भिक्षु तीसरी सदी में ही भारत पहुंच भी गए थे। अब ताओ-ङ्गान ने इस विषय में एक पुस्तक ही लिख डाली, जिसके माध्यम से चीनी भिक्षुओं के भारत जाने का महत्त्व उसने प्रमाणित किया। फिर क्या था ? एक बड़ी संख्या में चीनी भिक्षु भारत जाने के लिए कटिबद्ध हो गए और उन्होंने वहां की कठिन यात्रा करने, वहां जाकर सद्धर्म के ग्रंथों का भारतीय आचार्यों से अध्ययन करने और असंदिग्ध पाठों से संयुक्त ग्रंथों को स्वदेश लाने का व्रत लिया। उन्हें विशेषकर स्थलमार्ग से मध्य एशिया होकर भारत जाने की कठिनाइयों का पता था, पर व्रत और दृढ़ता से क्या सर नहीं हो जाता ? इस खेवे में भारत जाने वाले चीनी बौद्धों में फाह्यान अग्रणी था जिसने भारत की यात्रा करने के लिए अपना दल साधा और तकलामकान और पामीर लांघने की तैयारी की।

399 ई० में फाह्यान अपने साथियों के साथ भारत की तीर्थयात्रा के लिए चांग-आन से चल पड़ा। सीमा पर पांच चीनी भिक्षुओं का एक और दल उसके साथ हो लिया। तुन-हुआंग के ज़िलाधीश ने उन्हें यात्रा सम्पन्न करने के साधनों की व्यवस्था कर दी और फाह्यान दक्षिणी राह से खोत्तान, काशगर की ओर अपने साथियों के साथ चल पड़ा। रास्ते की कठिनाइयां बड़ी थीं। वह इन कठिनाइयों का ज़िक्र करता हुआ अपने भ्रमण-वृत्तान्त में लिखता है: 'जो यात्री उन खतरों के चंगुल में आ जाते हैं वे सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। एक आदमी बच नहीं पाता। ऊपर हवा में एक पंछी पर नहीं मारता, न नीचे ज़मीन पर कोई जानवर ही कहीं दीखता है। पार करने के लिए चाहे जिधर देखो, जितनी दूर तक नज़र फेंको, पर कहीं राह नहीं दिखाई पड़ती। अगर कहीं कुछ दिखता है तो बस कुछ हड्डियां, मरे हुए उन मानवों की जिन्होंने उधर से जाने की जुर्रत की है और हड्डियों द्वारा अपना मरण चिह्न छोड़ गए हैं।' उसका कहना है कि उस मार्ग में जलधाराएं लांघने या मरुभूमि में यात्रा करने से जिन विपत्तियों का साम ना करना पड़ा वे मानव अनुभूतियों से परे हैं।

फाह्यान में अद्‌भुत धैर्य, सहनशीलता और साहस था। राह की भयानक कठिनाइयों को उसने अपने निरन्तर छोड़ते जाते साथियों के साथ सर कर लिया और आखिर भारत पहुंच ही गया। भारत वह स्वात और गंधार की राह पहुंचा और समूचे उत्तर भारत का उसने भ्रमण किया। भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग का सूर्य तप रहा था। गुप्तों का उदार शासन उत्तरी और मध्य भारत पर कायम था। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य पाटलिपुत्र और उज्जैन के सिंहासनों पर विराजमान था और कालिदास अपनी अमर कृतियों के सृजन में व्यस्त था। मूर्तन और चित्रण कलाएं अपने विकास की चोटी छू रही थीं और सारनाथ, मथुरा की क्रमशः धर्मचक्रप्रवर्त्तन मुद्रा में बैठी और अभयमुद्रा में खड़ी बुद्धमूर्तियां कलापारखियों को चकित कर रही थीं, तभी फाह्यान का आगमन

हुआ और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के मृत्युकाल तक भारत में रहा। उसने समूचे उत्तर भारत का गंधार से मध्य देश तक भ्रमण किया।

उसका भ्रमण केवल अपने आराध्य के संपर्क से पवित्र तीर्थों के दर्शन के लिए ही नहीं था, वह तो भारत अध्ययन, आचार्यों से संपर्क और बौद्ध ग्रंथों के संग्रह व उनकी नकलें अपने साथ चीन ले जाने के लिए आया था। साथ ही उसने भारत का आंखों देखा वृत्तान्त लिखा। तीन वर्ष तो वह पाटलिपुत्र में संस्कृत का अध्ययन करता रहा, ग्रंथों का पारायण और प्रतिलिपियां तैयार करता रहा। भिक्षुओं के आचार-आचरण के विषय में जो कुछ 'विनय' में लिखा है उसको उसने चीन के भिक्षुओं के जीवन में उतारने के लिए लिख डाला। इसी प्रकार दो वर्ष वह ताम्रलिप्ति (बंगाल के सागरतीर का बंदर, आज का ताम्लुक) में रहा, जहां उसने बौद्ध 'सुत्तों' (सूत्रों) की नकलें तैयार कीं। चित्रण-कला से भी वह अनभिज्ञ न था, जिससे ताम्रलिप्ति में उसने अनेक भारतीय भिक्षुओं, विशेषतः बुद्ध और बोधिसत्त्वों की मूर्तियों के रेखाचित्र बना डाले।

जिस प्रकार भारतीय भिक्षुओं के चीन में रहने के दौरान के कृतित्व का विवरण पहले दिया जा चुका है या पीछे दिया जाएगा, यहां फाह्यान ने क्या किया और यहां के संबंध में क्या लिखा, यह लिख देना अनुचित न होगा। पाटलिपुत्र के संबंध में वह लिखता है कि वहां एक हीनयान व दूसरा महायान का विहार था। दोनों में प्रायः छह-सात सौ भिक्षु निवास करते थे। बौद्ध दर्शन में ये भिक्षु इतने निष्णात थे कि भारत के प्रत्येक भाग से लोग अपनी धर्म-जिज्ञासा शान्त करने वहां जाया करते थे। रैवत और मंजुश्री नाम के बौद्ध पंडित अपने आचार-विचार, ज्ञान और जिज्ञासा के लिए देशविश्रुत हो चुके थे। उनके दर्शन के लिए लोगों की भीड़ लगी रहती थी। उनके ज्ञानामृत से तृप्त होकर लोग लौटते थे।

अशोक का राजप्रासाद देख फाह्यान चकित रह गया था। वह लिखता है कि वह विशाल राजप्रासाद अमानुषी देवशक्तियों द्वारा निर्मित हुआ था। भारी पाषाणखण्डों से वह बना था और उसमें अनेक स्तंभ लगे थे। उसने वहां के उन स्तंभों का भी वर्णन किया है जिन पर अभिलेख खुदे थे और जो सिंहमंडित थे। वहां अशोक द्वारा निर्मित उसे एक स्तूप के भी दर्शन हुए थे।

मगध के निवासियों के संबंध में फाह्यान लिखता है कि वहां के निवासी सम्पन्न और समृद्ध थे और धर्म तथा दान कृत्यों में वे एक-दूसरे से स्पर्धा करते थे। प्रत्येक वर्ष दूसरे मास की अष्टमी को वे बुद्ध और बोधिसत्त्वों की अलंकृत मूर्तियों का जुलूस निकालते थे। मूर्तियां विविध प्रकार से विभूषित और चित्रित प्रायः बीस रथों पर रखी जाती थीं। पाटलिपुत्र के समृद्ध नागरिकों द्वारा एक चिकित्सालय चलाया जाता था, जिसमें निर्धन रोगियों को भोजन और औषधि

मुफ्त बांटी जाती थी। इसके अतिरिक्त सम्पन्न वैश्यों के अनेक कुल स्वतंत्र रूप से औषधियों और दान का वितरण करते थे। फाह्यान का तात्पर्य इनसे संभवतः सत्रों से था। बड़े-बड़े नगरों में, वह लिखता है, और राजमार्गों पर यात्रियों के विश्राम के लिए धर्मशालाएं बनी थीं।[1]

पाटलिपुत्र पहुंचने के पहले वह गया, कुशीनगर, कपिलवस्तु, श्रावस्ती आदि की यात्रा कर चुका था। वह लिखता है, कि ये नगर अब श्रीहीन हो गए हैं। उनके निवासियों की संख्या नितान्त क्षीण हो गई है, निर्जन विहारों में भिक्षुओं का नितान्त अभाव है। धर्म के प्राचीन पीठों को इस प्रकार दरिद्र और जर्जर अवस्था में देख स्वाभाविक ही उस श्रद्धालु भ्रमक को ग्लानि हुई।[2]

कान्यकुब्ज और साकेत होता वह श्रावस्ती पहुंचा था। 'उसने यहां के निवासियों की दान-परायणता तथा अतिथि सत्कार की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। इस नगर में दानगृह बने हुए थे, जहां यात्रियों एवं साधु-संन्यासियों को निःशुल्क भोजन एवं वस्त्र मिलता था। उसने यहां पर बौद्धेत्तर धर्मानुयायियों के भी वर्तमान होने का उल्लेख किया है। फाह्यान के आगमन के समय यह नगर अधिक उजड़ चुका था। इसकी नीरवता को देखकर उसे बहुत कष्ट हुआ। इसमें अब भी कुछ मठ तथा स्तूप विद्यमान थे। उसने इस नगर के जेतवन का उल्लेख किया है। इसे सुदत्त ने जितनी स्वर्ण-मुद्राएं इस उपवन में बिछाई जा सकती थीं, उतने मूल्य में खरीदा था। इसी कारण फाह्यान ने इसे 'सुवर्ण उपवन' कहा है। इसमें सुदत्त के द्वारा बनवाया हुआ विहार उस समय वर्तमान था। उसने इस नगर के उन सभी स्थानों का उल्लेख किया है, जो देवदत्त तथा काश्यप, क्रकुच्छद एवं कनक मुनि आदि पूर्व बुद्धों के जीवन से संबंधित थे।[3]

फाह्यान ने भारतवर्ष का पर्यटन चौदह साल तक किया। उसके भ्रमणमार्ग के नगरों में विशेष महत्त्व के तक्षशिला, पेशावर, मथुरा, संकाश्य, कान्यकुब्ज, कपिलवस्तु, कुशीनारा, श्रावस्ती, सारनाथ, बोधगया, नालन्दा, राजगृह, पाटलिपुत्र आदि थे। नालन्दा की ख्याति अभी नहीं हुई थी। वह मात्र सारिपुत्र का जन्म और मृत्यु स्थान समझा जाता था। फाह्यान का भ्रमण-वृत्तांत 'फो-क्वो-की' नाम से प्रसिद्ध है। उससे तत्कालीन भारतीय समाज आदि पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है।

इस वृत्तांत से पता चलता है कि मध्य देश की जनता प्रायः निरामिष थी और अहिंसा के नियमों का पालन करती थी। मध्यप्रदेश से फाह्यान का तात्पर्य संभवतः वर्तमान उत्तर प्रदेश, बिहार आदि—गंगा की घाटी—से था। वह

1. फो-क्वो-की, बील का अनुवाद, 27, पृ० 56-57
2. उपाध्याय, प्राचीन भारत का इतिहास
3. उदयनारायण राय, गुप्त सम्राट और उनका काल

लिखता है कि बाज़ारों में मांस-मदिरा की दुकानें नहीं हैं। लोग सूअर अथवा मुर्गियां नहीं पालते, प्याज़ और लहसुन तक नहीं खाते, शराब नहीं पीते। केवल चाण्डाल, जो समाज से बहिष्कृत हैं, वन्य पशुओं का आखेट और मांस का विक्रय करते हैं। उन्हें नगर में रहने का अधिकार नहीं है और वे उसके बाहर निवास करते हैं। जब कभी वे नगर के बाज़ारों अथवा उसके अन्दर के अन्य मुहल्लों में जाना चाहते हैं तब उन्हें लकड़ियां बजाकर सूचित करना पड़ता है जिससे नागरिक (सवर्ण हिन्दू) सावधान हो जाएं और उनके स्पर्श से अपावन न हो जाएं। चाण्डाल प्रमाणत: तब भी अस्पृश्य माने जाते थे, जो स्मृतियों की परम्परा में है।[1]

फाह्यान, जैसा पहले कहा जा चुका है, भारत में तीर्थाटन और धार्मिक ग्रंथों की खोज में आया था। उसका उद्देश्य धर्मपरक होने के कारण उसने अपने वृत्तान्त में धार्मिक प्रसंगों को स्वाभाविक ही अधिक गुरुता दी है। बौद्ध धर्म कहां सबल था, कहां निर्बल, इस संबंध में उसने सविस्तार सामग्री प्रस्तुत की है। उसका कहना है कि पंजाब और बंगाल में बौद्ध धर्म का बोलबाला था। मथुरा में भी उसकी काफी महिमा थी। वहां उसने बीस विहार देखे थे। परन्तु मध्यदेश में उसका ह्रास हो रहा था। वहां के नगरों में एक-एक, दो-दो से अधिक विहार न थे। कहीं-कहीं तो उनका सर्वथा अभाव था। हिन्दू धर्म का प्रचार वहां अधिक था। स्वयं राजा वैष्णव था, पर बौद्धों या अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति वह सहिष्णु था। उसकी उदारता और सहिष्णुता के कारण कहीं सांप्रदायिक झगड़े नहीं होते थे। वह कभी सामाजिक व्यवहार में वैष्णव हिन्दुओं और अन्य धर्मावलंबियों में भेदभाव नहीं करता था। हिन्दू और बौद्ध धर्मावलंबी मिलजुल कर रहते थे।[2]

मध्यदेश की राजनीतिक परिस्थिति और शासन-पद्धति के संबंध में भी फाह्यान ने कुछ वृत्तांत लिखे हैं। उसका कहना है कि शासन उदार-नरम (हल्का) था। व्यक्तिगत करों का अभाव था। अतिशासन कहीं देखने में नहीं आया। गृहस्थों को अपने घरों और कुलों की रजिस्ट्री नहीं करानी पड़ती थी, न उनको मजिस्ट्रेटों के सामने हाज़िर होना या विशेष नियमों का पालन ही करना होता था। प्रजा के आने-जाने पर राजा किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाता था। जहां चाहते, लोग जा सकते थे, जहां चाहते वहां रुक सकते थे। चीनी कानूनों के बनिस्बत भारतीय फौजदारी के कानून सरल और उदार थे। अपराधियों के साथ नरमी का बर्ताव किया जाता था। अपराधों की गुरुता के अनुसार ही उन पर भारी या हल्के जुरमाने किए जाते थे। प्राणदण्ड उठा दिया गया था और राजद्रोह

1. उपाध्याय, 'प्राचीन भारत', पृ० 253
2. उपाध्याय, 'प्राचीन भारत', पृ० 253

के अपराधी तक को केवल दाहिना हाथ काट लेने का दण्ड दिया जाता था। शारीरिक यातनाएं कतई नहीं दी जाती थीं। बाज़ारों में कौड़ियां चलती थीं। देश सुखी था, चोरी-बटमारी का कहीं नाम न था।[1]

फाह्यान भारत आया थलमार्ग से और लौटा जलमार्ग से था। पाटलिपुत्र से चलकर वह ताम्रलिप्ति (ताम्लुक, ज़िला मिदनापुर, बंगाल) पहुंचा और वहां जहाज़ पर चढ़ा और सिंहल (लंका) तथा जावा होता हुआ चीन पहुंचा। मार्ग में अनेक उपद्रव हुए। भारत आते समय मध्य एशिया में तो फाह्यान ने अपने साथियों के साथ कष्ट झेले ही थे, लौटते समय भी जान खतरे में पड़ गई। एक बार इतने जोर का तूफान आया कि जान पड़ा जहाज़ डूब जाएगा। वास्तव में उसको ही पापी समझकर ब्राह्मण धर्मावलंबियों ने उसे, तूफान शान्त करने के लिए, सागर में फेंक देने की भी ठानी, परन्तु सौभाग्यवश आंधी थम गई और उसकी जान बची। इस यात्रा में भारत से लंका तक उसे कुल चौदह दिन लगे। वह प्रायः चौदह साल तक भारत में रहकर 414 ई० में स्वदेश लौटा था। स्वदेश लौटकर भारतीय भिक्षु बुद्धभद्र के साथ मिलकर उसने भारत से लाए अनेक ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। वह 88 वर्ष की आयु में मरा।

फाह्यान के साथ आए चीनी यात्रियों में चार हुइ-चिंग, हुइ-वेई, हुइ-यिंग, और वाओ-चेंग थे। जो भिक्षुदल भारत आते समय चीनी सीमा पर फाह्यान से आ मिला था उसमें प्रधान थे पाओ-युन, सेंग-चिंग, सांग-शाओ आदि। फाह्यान से लगभग पांच वर्ष बाद 404 ई० में चे-मोंग अपने चौदह साथियों के साथ भारत की यात्रा को निकला। मार्ग दुर्गम था, जिसे तय करने के लिए पत्थर का हृदय करना पड़ता था, सबसे सर हो जाने वाला न था। नतीजा यह हुआ कि जितनी बीती थी उतनी ही झेलकर नौ तो पामीरों से ही चीन लौट गए, एक मार्ग में ही मर गया। यह भारतीय भिक्षु था जो राह दिखाने का कार्य कर रहा था। तीन लौटती राह मरे। बीस बरस बाद सहीसलामत 424 ई० में बस चे-मोंग एक साथी के साथ स्वदेश लौटा। पर उसने भी राह में ही ठहरकर मध्य एशिया के विहारों में अनुवाद का कार्य किया।

424 ई० में फा-योंग 25 भिक्षुओं के साथ तकलामकान के उत्तरवर्ती भाग से भारत की ओर चला। वह कश्मीर की राह भारत आया और सागर की राह चीन लौटा। कश्मीर में उसने संस्कृत भाषा और बौद्ध ग्रंथों के अध्ययन और उपलब्धि में कुछ समय बिताया था। प्रायः सौ वर्ष बाद 518 में वेई राजकुल की साम्राज्ञी (राजमाता) ने एक बौद्ध भिक्षु के साथ अपना दूत सुंग-युन बौद्ध ग्रंथों

1 उपाध्याय, 'प्राचीन भारत' पृ० 253-54.

की प्राप्ति के लिए भारत भेजा।[1] सुंग-युन उद्यान-गंधार की राह भारत आया।

इस चीन-भारत बौद्धिक-धार्मिक संबंध का परिणाम यह हुआ कि चीनी राजवंशों में धर्म के प्रचार की होड़ लग गई। इस प्रसंग का कुछ हवाला ऊपर दिया जा चुका है, यहां कुछ विस्तार से इस संदर्भ पर प्रकाश डाल देना उचित होगा। पहले राजकुल की ही भांति त्सिन राजकुल ने भी इस दिशा में पर्याप्त प्रयत्न किए। उन्होंने 317 और 420 के बीच चार विहार बनवाए, जिनमें 17,068 भिक्षु निवास करते थे। वेई राजकुल के शासन काल (386-534) में इस धर्म प्रचार में और उन्नति हुई। राजा वू-ती ने 386-407 के बीच 15 चैत्य बनवाए, दो विहार और सोने की 1000 मूर्तियां बनवाईं। त्सी राजाओं में से एक ने, कहते हैं, सोने का चैत्य बनवाया, दूसरे ने 575 ई० में ग्रंथों के लिए दूतमंडल भारत भेजा। 550-77 में तुर्कों में भी बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ और कगान के तुर्क राजा ने अपनी प्रजा के साथ बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। दक्षिण चीन में सोंग (420-79), त्सी (479-502) और लियांग (502-57) राजवंशों ने इस धर्म की प्रगति में सहायता की। एक ने तो अशोक की ही भांति पशु-वध भी बन्द करा दिया। महायान दर्शन का अमिताभ संप्रदाय तभी चला, जो वहां 'श्वेत कमल' के नाम से विख्यात हुआ। इस संप्रदाय का प्रवर्तक लू-शान नाम का प्रख्यात चीनी भिक्षु था। इस संप्रदाय के उद्योग से समूचे चीन में धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में आमूल परिवर्तन हुए। इस प्रकार उस काल वहां अनेक संप्रदायों का आरंभ हुआ। चीनी सम्राटों के भेजे दूतों के उत्तर में भारतीय राजाओं ने भी अपने अनेक दूतमंडल चीन भेजे। तांग नृपतियों के शासन काल में यह सद्भाव और बढ़ा और हर्ष तथा चीनी सम्राट ने परस्पर सन्धि की और एक दूसरे के पास दूतमंडल भेजे। इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण अन्य घटना हुएन्त्सांग तथा ईत्सिंग और अनेक चीनी यात्रियों का भ्रमण है, पर उसका उल्लेख हम पीछे करेंगे। यहां हम पहले उन दो चीनी अनुसंधानों का जिक्र करेंगे जिन्होंने संसार के चिन्तन और ज्ञान-वितरण के क्षेत्र में क्रान्ति पैदा कर दी और जिसका प्रभाव संसारव्यापी हो गया।[2]

वे अनुसन्धान थे कागज़ और मुद्रण कला के। कागज़ का आविष्कार तो पहले ही हो चुका था, जिसने चमड़े और ताड़-भुर्ज पत्रों का स्थान प्रायः ले लिया था और जिसका व्यापक उपयोग चीन, मध्य एशिया और ईरान आदि में होने लगा था। मुद्रण कला के ज्ञान ने और भी अद्भुत कार्य किया। चीनी जनता

1. बागची, पी० सी०, इण्डिया एण्ड चाइना, पृ० 60 से आगे
2. उपाध्याय, गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 386

की बौद्ध ग्रंथों की मांग पूरी करने के लिए और भारत से आई ग्रंथसंपदा को जनता तक पहुंचाने के लिए चीन के शिल्पियों ने वह काम किया जो संसार का अनजाना था और जिसका लाभ नई खोजों के साथ संसार आज भी उठा रहा है। वह था मुद्रण यंत्र (छपाई कला) का आविष्कार। चीनियों ने लकड़ी को आधार बना 'ब्लाक-प्रिंटिंग' शुरू कर दी। कोरियाइयों ने उस दिशा में एक डग और भरा। उन्होंने देखा कि यह कार्य टाइपों से और सुकर हो जाएगा और उन्होंने धातु से टाइप ढाल लिए, जिन्हें जापानियों की मेधा ने सर्वथा पूर्ण कर दिया। इसी बीच इस्लाम का उदय अरब में हो चुका था और अरब अपने विद्यापीठों और शोधकेन्द्रों से भारत, चीन और ग्रीस के गौरव-ग्रंथ अनूदित कर पश्चिम में उनका प्रचार करने लगे थे। उन्होंने स्पेन पर अधिकार कर प्रेस और टाइप भी अलहम्रा और ग्रामादा पहुंचा दिए। शीघ्र ही यूरोप के देशों में पुनर्जागरण और धर्मसुधार के आन्दोलनों में बाइबिल का विविध यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद कर उसे जनता के हाथों में देना था कि वह स्वयं पढ़कर देखे कि ईसा और भगवान ने पोपों को कितना अधिकार दे रखा है, कितना वे अपने मन की करते हैं। फिर क्या था, जर्मनी-इटली और स्पेन में प्रेस खड़े हो गए और विशेषकर जर्मन प्रेसों ने यूरोप में क्रान्ति की ज्योति जगा दी। यूरोप में एक नये, वर्तमान युग का उदय हुआ। इस राज़ का पता कम लोगों को है कि यूरोप की इस स्थिति का दूर का परोक्षजनक और कारण भारत था।[1]

तांग शासन काल (618-907 ई०) में हुए अत्यंत घने भारत-चीन धार्मिक और राजनीतिक संबंध का विवरण देने से पहले पांचवीं-छठी सदियों के दोनों प्रकार के संबंधों पर कुछ विचार कर लेना समीचीन होगा। वेई राजमाता का ज़िक्र ऊपर किया जा चुका है। उसके अध्यवसाय से महायान संप्रदाय के सभी महत्त्व के ग्रंथ 170 की संख्या में चीन आ पहुंचे। त्सिन राजकुल के समय (317-420) में 263 बौद्ध संस्कृत ग्रंथों के चीनी में अनुवाद हुए। वेई राजकुल की बौद्ध धर्म की संरक्षा के पूर्व भी चीनी राजा उस धर्म के प्रति अनुरक्त हो गए थे। एक ने तो 335 में घोषणा ही करा दी थी कि 'चूंकि बुद्ध विदेशी देवता हैं इससे यह स्वाभाविक है कि मैं उनकी पूजा करूं। जब नया अनवद्य (निर्दोष) और पूर्ण महत्त्व का मिल जाता है तब पुराने राजकुलों के समय के आचारों से चिपटे रहना क्यों उचित माना जाए ? मेरी प्रजा को बर्बर कहा जाता है। मैं उसे अनुमति देता हूं कि वह चाहे तो बुद्ध की पूजा करे और बौद्ध धर्म को अंगीकार कर ले'। वेई सम्राटों ने स्वयं 47 विशाल विहार बनवाए और उसकी प्रजा ने लगभग 30,000 मंदिरों का निर्माण कराया। भिक्षुओं और भिक्षुणियों

1. उपाध्याय, गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 385-86

की संख्या तब वहां प्राय: बीस लाख थी। त्सिन राजाओं में से एक ने तो स्वयं बारह बौद्ध ग्रंथों की प्रतिलिपियां तैयार की थीं और 3,000 भिक्षु उसके दान से पालते थे। उसने एक एक चैत्य सोने का बनवाया। उसी राजकुल के एक दूसरे राजा ने 260 ग्रंथ पश्चिम से मंगवाए।

जब हुई-युवान ने 17 शिष्यों की सहायता से, जिनमें दो भारतीय भिक्षु बुद्धयशस् और बुद्धभद्र भी थे, अमिताभ संप्रदाय की नींव डाली तब वह संप्रदाय चीन पर छा गया। महायान संप्रदाय की ही एक और शाखा बौद्ध धर्म के शिष्य ची-काई ने स्थापित की जिसका नाम 'तियेन-ताई' पड़ा। उसने बौद्ध साहित्य और बुद्ध के उपदेशों के नये विभाजन किए, उन्हें वर्गों में बांटा। चीनियों में यह संप्रदाय बड़ा लोकप्रिय हुआ क्योंकि इसमें हीनयान और महायान के झगड़े न थे। दोनों का समान रूप से आदर होता था और जापान में तो इस मत के उपदेशों का बड़ा आदर हुआ और आज भी होता है।[1]

भारतीय बौद्ध आचार्यों के चीन जाकर वहां बौद्ध धर्म के प्रचार और संस्कृत ग्रंथों के चीनी भाषा में अनुवाद करने की बात पहले लिखी जा चुकी है। ईस्वी पहली तीन सदियों के इस धार्मिक अभियान और राजनीतिक दौत्य विनिमय से भारत का चीनी जनता और अभिजात कुलों तथा राजपरिवारों पर प्रभाव असाधारण पड़ा। आगे हम इन्हीं प्रसंगों को अगली सदियों के दौरान और 618 ईस्वी तांग राजकुल के प्रारम्भ होने से पहले के कालान्तराल के संबंध में आगे बढ़ाएंगे।

यह काल-प्रसार जिस महान भारतीय भिक्षु के अध्यवसाय से आरंभ होता है वह था कुमारजीव। कुमारजीव का कुछ वंशपरिचय पहले दिया जा चुका है। उसका पिता कुमारायण कश्मीर के वंशागत मंत्रिकुल में जन्म लेकर आराम का जीवन तज कुची चला गया था। जहां के राजा ने उसके ज्ञान और आचार से प्रभावित होकर उसे अपना राजगुरु बना लिया था। राजकन्या जीवा इस कश्मीरी पंडित द्वारा आकृष्ट उससे परिणीत हुई और कुमारजीव दोनों के प्रणय की प्रसूति हुआ। उसका प्रसव कर माता जीवा शीघ्र ही भिक्षुणी हो गई और अपने नौ वर्ष को लिए उसका अध्ययन संपन्न कराने के लिए कश्मीर जा पहुंची। कुमारजीव ने वहां बन्धुदत्त से बौद्ध साहित्य, धर्म और दर्शन पढ़े और शीघ्र ही अपनी मेधा से विख्यात होकर वह अपनी माता के साथ मध्य एशिया लौटा। इसी समय चीनियों ने कुची पर आक्रमण किया और कुमारजीव को भी अन्य जनों की ही भांति बन्दी कर चीन ले गए। आचार्य कुमारजीव 383 ई० में कान्सू पहुंचे और कुत्सांग के राजा के यहां प्राय: पन्द्रह साल रहे, फिर चीनी

1. दि क्लासिकल एज, पृ० 616

सम्राट के निमंत्रण पर 401 ई० में वे राजधानी पहुंचे जहां वे ग्यारह साल रहे। जीवन उनका तप:शील और आधारपूत बना रहा। वहां वे बौद्ध धर्म संबंधी उपदेश तो देते ही रहे, बौद्ध ग्रंथों के चीनी अनुवाद भी प्रस्तुत करते रहे। उनके चीनी अनुवादों की संख्या सौ से ऊपर है। इन अनुवादों और उपदेशों ने चीनियों को श्र.ावनत कर दिया और उनकी प्रसिद्धि देशव्यापी हो उठी। अनेक चीनी पंडित उनके शिष्य हुए और उनके माध्यम से चीन के धार्मिक इतिहास को एक नई दिशा मिली। जिन कश्मीरी भिक्षुओं ने चीन में बौद्ध धर्म के प्रसार और संस्कृत बौद्ध ग्रंथों के चीनी अनुवाद की दिशा में भगीरथ प्रयत्न किए थे, कुमारजीव उनमें पहले थे।[1]

चीन जाने वाले इस कालान्तर के कश्मीरी बौद्ध पंडितों में विशिष्ट निम्नलिखित थे—संघभूति (381-84), गौतम संघदेव (384-97), पुण्यत्रात (404), विमलाक्ष (406-13), बुद्धजीव (423), धर्ममित्र (424-42) और धर्मयश (400-24)। इनमें से कुछ के संबंध में यहां तनिक विस्तार से सूचना दे देना उचित होगा। इनमें से संघभूति कुमारजीव से भी दो वर्ष पहले चीन पहुंच गए थे और वहां पहुंचते ही अनुवाद के आवश्यक कार्य में व्यस्त हो गए थे। उनकी महत्त्व की रचना विनयपिटक की चीनी टीका मानी जाती है।

गौतम संघदेव अत्यन्त कर्मठ और व्युत्पन्न कश्मीरी बौद्ध पंडित था जो चीन 384 ई० में पहुंचा और शीघ्र ही अपने ज्ञान की महिमा से वहां के पंडितों में मान्य हो गया। उसकी गणना बौद्ध धर्म के प्रसार करने वाले महान् आचार्यों में होती है। उसका सारा जीवन वहां धर्म के प्रचार, बौद्ध भिक्षुओं के अध्यापन और अनुवाद कार्य में बीता। अपने उत्साह से प्रभावित वह उत्तर से दक्षिण पहुंचा और वहां अपना अभीष्ट सिद्ध कर राजधानी नानकिंग पहुंचा जहां उसी के लिए बने विहार में रहकर उसने आमरण धर्म का प्रचार किया। वह वहीं मरा। पुण्यत्रात भी कश्मीरी था और कुची से चीन गया था। धर्मं यशस उन आचार्यों में से था जो कश्मीर से चीन गए थे, राह के मध्य एशियाई विहारों में बौद्धाचार्यों से विचारों के आदान प्रदान किए थे, चीन पहुंचकर प्रायः चौथाई सदी तक अनुवाद कार्य किए थे और अन्त में कश्मीर लौट आए थे। विमलाक्ष भी कश्मीर से कुची पहुंचा था और वहां कुमारजीव का शिष्य हो गया था। वह भी कुमारजीव के साथ बंदी होकर चीन पहुंचा था और उस महाभिक्षु के सहकारियों में से था। प्रचार कार्य करता वह चीन में ही दिवंगत हुआ था। बुद्धजीव ने भी 423 में चीन पहुंचकर सद्धर्म का प्रचार और बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद

1. उपाध्याय गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 382

का कार्य आमरण किया। धर्ममित्र चीन 424 ई० में पहुंचा और वहीं 442 ई० में वह मरा। वह कश्मीर से चलकर कुची पहुंचा था और वहां उसने कुछ साल तक निवास किया था और सद्धर्म की सेवा की थी। कश्मीर से चीन जाने वाले पंडितों के लिए कुची पड़ाव का कार्य करता था। उसने तुन-हुआंग में एक विहार की स्थापना भी की थी।[1]

गुणवर्मा कश्मीर का राजकुमार था। राजा की मृत्यु के बाद सिंहासन पर बैठने के लिए वह मंत्रियों द्वारा आमंत्रित हुआ, पर उसने राजा होने से इंकार कर दिया और बीस वर्ष की आयु में ही उसने भिक्षु का त्रिचीवर धारण कर लिया। धार्मिक पर्यटन करता पहले वह लंका पहुंचा फिर जावा। जावा का राजपरिवार गुणवर्मा के उपदेशों से इतना प्रभावित हुआ कि राजा और राज-माता ने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया। उसी काल जावा पर शत्रुओं का आक्रमण हुआ। राजा ने अहिंसा का व्रत स्वीकार कर लेने के कारण गुरु गुणवर्मा की ओर देखा। गुणवर्मा ने उसे युद्धविरत जानकर भी आपत्काल मान देश की रक्षा में सन्नद्ध हो युद्ध करने की अनुमति दी। युद्ध में जावानरेश विजयी हुआ। इससे गुणवर्मा की देश-विदेश में ख्याति फैली। जावा में तो बड़ी संख्या में लोगों ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली ही, चीन की जनता भी उससे प्रभावित हुई और चीनी सम्राट ने गुणवर्मा को नानकिंग बुला भेजा। भारतीय पोतपति नन्दी के पोत पर आरूढ़ हो वह नानकिंग 431 में पहुंचा और 'जतवन' नामक विहार में उसने डेरा डाला। स्वयं सम्राट ने वहां पहुंचकर उसका स्वागत किया। पर गुणवर्मा दीर्घकाल तक चीन में जीवित न रह सका, एक वर्ष के बाद ही उसका वहीं देहान्त हो गया, यद्यपि इसी बीच उसने ग्यारह संस्कृत ग्रंथों के चीनी अनुवाद प्रस्तुत कर दिए थे।[2]

भारतीय बौद्ध भिक्षुओं का चीन के प्रति अभियान कश्मीरी पंडितों तक ही सीमित न था। अन्य भारतीय प्रदेशों के धर्माचार्य भी समय-समय पर चीन पहुंचे और वहां अपने-अपने सम्प्रदाय का प्रचार किया और बौद्ध संस्कृत साहित्य के चीनी अनुवाद में हाथ बंटाया। भारत के विविध प्रान्तों से चीन जानेवाले भिक्षुओं में प्रधान थे गंधार-बामियान के बुद्धभद्र, विमोक्षसेन और जिनगुप्त; मध्यप्रदेश के गुणभद्र (435-68), प्रज्ञारुचि (516-43) और धर्मक्षेम (433), बंगाल और आसाम के ज्ञानभद्र, जिनयशस् और यशोगुप्त (छठी सदी) और मालवा तथा लाट के उपशून्य, परमार्थ और धर्मगुप्त। नीचे इनके विषय में संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

बुद्धभद्र नगरहार (जलालाबाद) के रहनेवाले थे और फाह्यान के एक

1. उपाध्याय गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 382
2. उपाध्याय, पृ० 382-83

साथी के निमंत्रण पर चीन गए थे। उन्होंने कुमारजीव के साथ रहकर भी कार्य किया था। चीनी सम्राट से उनका वैमनस्य हो गया था। वे मृत्युपर्यन्त चीन में अनुवाद कार्य करते रहे थे। विमोक्षसेन उड्डीयान (उद्यान, स्वात घाटी) के रहनेवाले थे और दोनों कपिलवस्तु का शाक्य मानते थे। कश्मीर में 'अभिधम्म' का अध्ययन कर वे चीन पहुंचे और वहां उन्होंने अनुवाद कार्य किया। जिनगुप्त बामियान-गंधार के निवासी थे। इन तीनों को एक नया विहार बनवाकर वहां रखा गया, परन्तु राजनीतिक उथल-पुथल के कारण 572 में उन्हें स्वदेश लौटते राह में तुर्कों के राजा ने रोक लिया। जिनगुप्त फिर 585 में चीन लौटे और 600 में वहीं उनकी मृत्यु हुई। जिनगुप्त ज्ञानभद्र और जिनयशस् के शिष्य थे।

गुणभद्र पिता के अनुरोध के विपरीत प्रव्रज्या लेकर जलमार्ग से 435 ई० में कान्तोन पहुंचे और नानकिंग के जेतवन-विहार में आमरण रहकर वहां चीनी भाषा में बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद किए। धर्मक्षेम का अन्त खेद जनक हुआ। वह कुची की राह पश्चिमी चीन पहुंचा और 414 और 432 के बीच बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद करता रहा। बाद में उसने भारत लौटना चाहा, पर स्थानीय राजा ने उसे स्वदेश लौटने की अनुमति न दी। इसपर भी धर्मक्षेम चुपके से यात्रा पर चल पड़ा। इससे क्षुब्ध होकर राजा ने उसे बड़ी बर्बरता से 433 में मरवा डाला। प्रज्ञारुचि काशी का निवासी था और चीन पहुंचकर उसने प्राय: 25 वर्ष अनुवाद कार्य किया।

उज्जयिनी के भिक्षु-पंडित परमार्थ का नाम चीनी बौद्ध धर्म के इतिहास में विशेष विख्यात है। उज्जयिनी से प्रव्रज्या लेकर वह पहले पाटलिपुत्र पहुंचा। तब वहां एक चीनी दल आया हुआ था। उस दल को चीनी सम्राट वू ने मगध के राजा के पास एक बौद्ध आचार्य चीन भेजने के लिए भेजा था। तब संभवत: अन्तिम गुप्त सम्राट विष्णुगुप्त राज कर रहा था। उसने परमार्थ को भेजा। वह अनेक बौद्ध ग्रंथ लेकर 546 में चीन पहुंचा। वहां उसने प्राय: 23 साल रह-कर 70 ग्रंथों के चीनी में अनुवाद किए। 569 में वहीं पर वह परलोक सिधारा। उसका दूसरा नाम गुणरत्न भी बताया जाता है।

उपशून्य भी उज्जयिनी का ही भिक्षु था जो छठी सदी के उत्तरार्ध में चीन गया था और वहां उसने अनुवाद कार्य किए थे। उसी पश्चिमी भारत के दक्षिणी गुजरात अथवा लाट का रहनेवाला धर्मगुप्त था, चीन जानेवाले भारतीय भिक्षुओं में अत्यंत विख्यात। प्रव्रजित होकर वह बौद्ध पंडितों की तलाश में चला और महोदय (कनौज) पहुंचा जहां के कौमुदी संघाराम में सद्धर्म के प्रकाण्ड पण्डित रहते थे। उनसे उसने अमित ज्ञान का अर्जन किया। उसे चीन जाने की बड़ी साध थी और वह पश्चिमोत्तर दिशा में चीन की राह चला। पहले वह टक्का

पहुंचा और वहां के राजकीय देवविहार में कुछ काल रुका। फिर स्थल मार्ग से चीन के लिए रवाना हुआ। चीन के मार्ग में अनेक नगर थे, जहां बौद्ध विहारों की संख्या अगण्य थी। उनमें देश-देशान्तर में आए असंख्य पंडितों का निवास था। धर्मगुप्त राह के विहारों में ठहरता, पंडितों से विचार-विनिमय करता, चला। पहले कपिशा (काफिरिस्तान) पड़ी, फिर उड्डीयान और बामियान, पीछे बदख्शां और वखां। इस प्रकार वंक्षुनद (आमूदरिया) लांघ पामीरों की छाया से निकल ताशकुर्गान होता पहले काशगर पहुंचा और वहां के राजकीय विहार में कुछ दिनों ठहरा। फिर कुची पहुंचा। वहां के राजा ने उसे वहीं ठहर जाने के लिए प्रार्थना की, पर धर्मगुप्त को तो चीन जाने की लगन लगी थी, जहां पहुंचने का संकल्प कर वह कनौज से चला था। सो वह तकलामकान के उत्तरी मार्ग से चला। राह में, कुची देश से आगे अग्निदेश (कड़ाशहर), तुर्फान और हामी पड़ते थे। सभी विहारों के धनी थे, जहां बौद्ध भिक्षुओं के अनेक वर्ग सद्धर्म की साधना में रत थे। धर्मगुप्त के पांडित्य की प्रसिद्धि वहां पहले ही पहुंच चुकी थी। सो उसे कई वर्ष इन विहारों में पंडितों के साथ राह के विहारों में ही बिताने पड़े। अन्त में 590 ई० में चीन पहुंचने का उसका संकल्प पूरा हुआ, जब वह चांग-ङगान पहुंचा। वहां वह दीर्घकाल तक बौद्ध धर्म का प्रचार और बौद्ध धर्म के ग्रंथों के चीनी अनुवाद प्रस्तुत करता रहा। जब उसकी चीन में ही मृत्यु हुई तब तक चीन पर तांग-वंश का प्रसिद्ध उदार शासनकाल 618 ई० में आरंभ हो चुका था। धर्मगुप्त के चीनी पर्यटन की एक विशेषता थी। वह अकेला भारतीय भिक्षु था जिसने मात्र बौद्ध धर्म के प्रसार को ही अपना इष्ट नहीं बनाया, बल्कि चीनी यात्रियों की ही भांति उसने चीन और राह में पड़ने वाले देशों तथा नगरों का एक विस्तृत वित्ररण लिखा। उसने सभी स्थानों के राजनीतिक संगठन, अर्थनीति, सामाजिक रूप, रीतिरिवाज, वस्त्राभूषण, शिक्षा आदि पर आंखोंदेखा वर्णन प्रस्तुत किया। पर आज उसका वह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। वर्णित नगरों-राज्यों के विविध विषयों पर उससे प्रभूत प्रकाश पड़ता।

चीन जाने वाले जिन भारतीय भिक्षुओं ने वहां चिरकालिक ख्याति और यश अर्जित किए, बोधि धर्म उन्हीं में से था। वह राजपुत्र था, सम्भवतः कांची के पल्लव राजा का तृतीय पुत्र। वह छठी सदी के उत्तरार्ध में चीन पहुंचा और सम्राट् वू द्वारा समादृत हुआ। उल्लेखनीय है कि महायान के ध्यानवादी रूप का चीन में उसीने प्रचार किया। चीन में वह इतना लोकप्रिय हो गया था कि अनेक चमत्कारी घटनाएं उसके चरित के साथ जोड़ दी गई हैं। उसकी सत्ता बोधिसत्वों की भांति वहां स्थापित हो गई थी। दक्षिणी भारत से चीन पहुंचने वाला दूसरा ब्राह्मण बौद्ध भिक्षु विनीतरुचि था जो 582 ई० में चीन की राजधानी पहुंचा और बौद्ध धर्म के ग्रंथों के चीनी अनुवाद प्रस्तुत करने के अतिरिक्त उसने

वहां ध्यानवादी महायान के प्रसार में भी योग दिया। इन्हीं दिनों लंका से भी अनेक भिक्षु सद्धर्म के प्रचार के लिए चीन गए।[1]

चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार का यह अध्याय समाप्त करने और तांग वंश के समुन्नत शासन काल के भारत-चीन संबंध का विवरण प्रस्तुत करने से पूर्व यहां दोनों देशों के बीच हुए दौत्य संपर्क पर कुछ संक्षेप में लिख देना उचित होगा।

चौथी सदी के अन्त से पहले 386 ई० में वेई राजकुल का शासन चीन में शुरू हुआ और छठी सदी के प्रथम चरण के बाद 534 ई० तक वहां उसका आधिपत्य रहा। भारतीय संस्कृति का प्रसार चीन में तब बहुविध हुआ। वेई सम्राटों की संरक्षा सद्धर्म को मिली और उन्होंने सभी प्रकार से नये धर्म को लोकप्रिय बनाने में भारतीय भिक्षुओं की सहायता की। उनमें से अनेक स्वयं बौद्ध भी हो गए थे। बौद्ध राजकीय इतिहास में चीनी सम्राट् के दरबार में गंधार आदि से पहुंचने वाले आठ दूतमंडलों का उल्लेख हुआ है। इनमें से चार 451, 502, 508 और 557 ई० में केवल 'की-पिन' से गए थे। विद्वानों में इसकी पहचान में मतैक्य नहीं है। कुछ ने इसे कश्मीर माना है। इसमें सन्देह नहीं कि तब कश्मीर और मध्य एशिया के देशों ओर चीन से सीधा और घना संबंध था और वहां से अनेक बौद्ध पंडित, जिनका विवरण ऊपर दिया गया है, उन देशों को समय-समय पर गए थे। इसी प्रकार किया-पि-शा (कपिशा, काफिरिस्तान) से एक दूतमंडल 503 में चीन गया था। 511 ई० में भारत से तीन दूतमंडल चीन पहुंचे, एक पुरुषपुर (पेशावर) से, दूसरा गन्धार (कान्-ता, पहचान स्पष्ट नहीं) से, और तीसरा कश्मीर से। प्रकट है कि कश्मीर का स्पष्ट उल्लेख होने से किया-पि-शा की पहचान किसी और प्रदेश से करनी होगी। इसी प्रकार दक्षिण भारत के नरेशों ने भी अपने दूत चीन भेजे। एक राजदूत संभवत: 500 और 516 ई० के बीच कभी दक्षिण भारत से चीन गया था। गान्धार से निकट और सीधी राह होने के कारण अधिकतर राजनीतिक दूत भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों से ही गए।

---

1. दि क्लासिकल एज, पृ० 617; और देखें, शास्त्री, फारेन नोटिसेज़, पृ० 83

अध्याय-16

भारत और चीन-2

चीन में तांग-वंश के शासन काल (618-907 ई०) के प्राय: तीन सौ साल भारत और चीन के परस्पर संबंध का मध्याह्न काल सिद्ध हुआ। जैसे चीन में तब तांगों का शासन शुरू हुआ था, गुप्त सम्राटों के विलोप के बाद की अराजकता के बाद उत्तर भारत में भी हर्षवर्धन का साम्राज्य (6C6-648 ई० में) स्थापित हुआ था। तांग और हर्ष दोनों ही बौद्ध धर्म के संरक्षक थे। तांग नृपति यों तो अपने को लाओ-त्सू के वंशज मानते थे, जिससे उनका ताओवाद का समर्थक होना स्वाभाविक था, पर जितनी संरक्षा उन्होंने बौद्ध धर्म को दी उतनी किसी अन्य धर्म को न दी। स्वयं राजधानी चांग-आन में 91 बौद्ध विहार थे, जबकि ताओ विहार वहां केवल 16 थे और समूचे साम्राज्य में बौद्ध-विहारों की संख्या ताओवाद के मन्दिरों-मठों से प्राय: तिगुनी थी।[1] अनेक तांग सम्राट बौद्ध भी हो गए थे। इस प्रकार सातवीं सदी दोनों देशों के बीच धर्म-सम्बन्ध की अनुपम सदी सिद्ध हुई। इसका कारण यह भी था कि तब बौद्ध धर्मावलम्बी हर्षवर्धन का उत्तर भारत में आधिपत्य था और नालन्दा विश्वविद्यालय उस काल के संसार के महत्त्वपूर्ण विद्यापीठों में सबसे विशिष्ट था, जहां संसार के सभी भागों से बौद्ध संस्कारों में पले विद्यार्थी ज्ञानार्जन के लिए आते थे। स्वाभाविक ही वहां चीन से भी अनेक यात्री आए और वहां उन्होंने निवास कर वहां के आचार्यों से सद्धर्म के ज्ञान का अर्जन किया। इन भारत आने वाले चीनियों में विशेष प्रसिद्ध हुएन्त्सांग (ल० 600-664) और ईत्सिंग थे जिनके विस्तृत विवरण उनके भ्रमण ग्रंथों से उपलब्ध हैं। चीन और भारत के बीच का यह घना सम्बन्ध इस कारण भी स्थापित हुआ कि तांग नृपति धर्मों के प्रति अत्यन्त सहिष्णु थे। उनके राज्यकाल में चीन में बौद्ध धर्म के अतिरिक्त ईसाई, इस्लाम और मनीषी धर्मों का भी विस्तार हुआ, पर इन सबमें लोकप्रिय बौद्ध धर्म ही था, क्योंकि इसके आचार्यों का ज्ञान और सदाचार, तप: पूत जीवन और विसर्जन बुद्धि आदि अनुपम थी। राजनीतिक दृष्टि से भी समूचा चीन एकछत्र तांग सम्राटों के अधिकार में आ गया था और मध्य एशिया का भी एक बड़ा खंड उनकी संरक्षा में

1. सिंघल, इंडिया एण्ड वर्ल्ड सिविलाइजेशन, खंड 1, पृ० 321

था, जिससे वहां के विहारों के श्रद्धालु उनकी उदारता से उपकृत हुए।

हुएन्त्सांग 600 ई० के लगभग कनफ्यूशस् के दर्शन से प्रभावित परिवार में जन्मा था। उसका पिता स्वयं उस दर्शन का प्रख्यात पंडित था। वह धर्म-दर्शन इस तरुण की जिज्ञासा अधिकतर उसके राजनीतिक संदर्भ के कारण पूरी न कर सका। तब वह भारतीय बौद्धधर्म की ओर झुका, जिसके व्रतशील असंख्य पंडित तब चीन के विहारों में अपनी ज्ञान-प्रवीणता से विख्यात हो गए थे।

बीस साल की तरुणाई में ही हुएन्त्सांग प्रव्रजित हो गया और भारतीय आचार्यों के परिवेश में जा बसा। उनसे इसकी ज्ञान-पिपासा शान्त होने के बजाय और बढ़ गई। उसे लगा कि उपलब्ध चीनी अनुवाद भी संभवत: प्रामाणिक नहीं है, फिर उसने सोचा, क्यों न भारत भ्रमण कर वहीं संस्कृत का गहन अध्ययन कर इन अनुवादों की प्रामाणिकता पर विचार किया जाए और स्वयं अनुवाद की दिशा में सत्यशील परिवर्तन किया जाए? इसी बीच उसने नालन्दा के आचार्यों की महिमा सुनी। यह भी सुना कि न वहां संस्कृत भाषा, व्याकरण और बौद्ध धर्म और दर्शन के अनुपम ग्रंथों का अध्यापन अनुपम आचार्य करते हैं बल्कि वहां भारतीय ब्राह्मण दर्शन, गणित ज्योतिष, चिकित्सा आदि का भी सम्यक् रूप से पठन-पाठन होता है। फिर तो उसने भारत की यात्रा के लिए कमर कसी और 629 ई० में तकलामकान के उत्तरवर्ती भाग से भारत के लिए चल पड़ा।

कुची आदि नगरों से होता वर्ष भर बाद 630 में वह कपिशा (काफिरिस्तान गंधार) पहुंचा और अगले 14 वर्षों, 644 ई० तक वह भारत के प्रान्त-प्रान्त में भ्रमण करता और वहां के धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक विवरण अपनी पुस्तक में लिखता रहा, जो सौभाग्य से इतिहासकारों को आज भी उपलब्ध हैं। यह भ्रमण वृत्तान्त, 'सी-यू-की', हर्षकालीन भारतीय इतिहास पर अत्यन्त प्रामाणिक प्रकाश डालता है। इन तेरह-चौदह वर्षों में उसने ग्रंथों और मूर्तियों की एक बड़ी सम्पदा एकत्र की और 644 के प्राय: आरम्भ में ही चीन के लिए मध्य एशिया के दक्षिणी मार्ग से वह चीन लौटा और साल भर की यात्रा के बाद 645 ई० में वह सकुशल स्वदेश पहुंच गया।

हुएन्त्सांग दो वर्ष कश्मीर में रहा जहां उसने संस्कृत भाषा और बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन किया। इनका कुछ अभ्यास वह चीन में ही कर चुका था, पर भारतीय वातावरण में उनका अध्ययन नि:सन्देह और तरह का था। दो वर्ष वह नालन्दा के विश्वविद्यालय में रहा जहां का प्रधान आचार्य शीलभद्र विश्वविश्रुत था। उसीसे उसने योगाचार दर्शन का ज्ञान प्राप्त किया। कामरूप के नृपति भास्कर वर्मन और उसके मित्र हर्षवर्धन, दोनों, की हुएन्त्सांग पर विशेष कृपा रही। उल्लेख मिलता है कि जब हर्ष ने हुएन्त्सांग की ख्याति सुनी तब चीनी यात्री कामरूप (आसाम) के नृपति भास्कर वर्मन का अतिथि था। हर्ष ने उसे

भेज देने के लिए भास्कर वर्मन के पास दूत भेजे, पर कामरूप-नृपति चीनी यात्री के पांडित्य से इतना अभिभूत हो गया था कि उसने उसे अन्यत्र भेजना न चाहा और हर्ष को कहला भेजा कि हुएन्त्सांग को तो नहीं भेज सकता, चाहे उसके बदले मुझे मस्तक ही क्यों न भेजना पड़े। हर्ष ने तब कहलाया कि कामरूप नरेश तब अपना मस्तक ही भेज दें। और तब लाचार भास्कर वर्मन को चीनी यात्री को हर्ष को समर्पण कर देना पड़ा।

हुएन्त्सांग के भारत संबंधी विवरण प्रस्तुत करने के पहले उसके आगमन और लौटने का वृत्तान्त संक्षेप में दे देना उचित होगा। उसके आगमन के संबंध का तथ्य ऊपर दिया जा चुका है। भारत में अपने भ्रमण की अवधि में चीनी यात्री ने चीन ले जाने के लिए प्रचुर सामग्री, ग्रंथों और मूर्तियों के रूप में, इकट्ठी कर ली थी, जिसे सुरक्षित पहुंचा देना सुकर न था। इनको ले जाने के लिए सम्राट् हर्ष ने यात्री को एक गजराज दिया और मार्गव्यय के लिए 3,000 स्वर्ण और 10,000 रजत मुद्राएं दीं। फिर पश्चिमोत्तर भारत के एक मांडलिक राजा उदित को उसकी बहुमूल्य वस्तुओं के साथ बाहर तक पहुंचा देने का कार्य सौंपा। गजराज तो राह में ही, अपनी विशालता के बावजूद, नदी की धार में डूब गया, पर स्वयं हुएन्त्सांग अपने ग्रंथ और मूर्तियां लिए किसी प्रकार खोतान पहुंचा। अब तक वह प्रायः 20,000 मील की अत्यन्त कष्टसाध्य यात्राएं कर चुका था, पर अध्यवसाय की उपलब्धियों से वह सन्तुष्ट था, यद्यपि समूची सामग्री को चीन ले जा सकना खोतान की दूरी से भी आसान न था। सो उसने सम्राट् को इस सम्बन्ध का एक आवेदन भेजा और उसमें प्रसन्नतापूर्वक बौद्ध धर्म के प्रति अपनी घनी निष्ठा प्रकट करते हुए उसने लिखा—'मैंने ग्रिध्रकूट पर्वत के दर्शन किए, बोधिवृक्ष की पूजा की। मैंने स्थानों और (बुद्ध के स्पर्श से पुनीत) उन चिह्नों को देखा जो अब तक देखे नहीं गए थे, मैंने पुनीत वाणी सुनी जो पहले कभी नहीं सुनी गई थी; उन चमत्कारी आश्चर्यों को देखा जो प्रकृति के सारे आश्चर्यों से अधिक चकित कर देने वाले हैं।' तत्काल कुतूहल-भरे सम्राट् का उत्तर आया—"मेरी विनीत प्रार्थना है कि आप शीघ्र आएं, जिससे हम दोनों परस्पर मिल सकें। 'खोतान के राजकीय अधिकारियों को भी सम्राट् ने साथ ही आदेश भेजा कि वाहन आदि की सभी सुविधाएं हुएन्त्सांग को प्रदान की जाएं, किसी प्रकार की आवश्यकता उसकी अपूर्ण न रह पाए। हुएन्त्सांग के चीन की सीमा पर पहुंचने से पूर्व ही सम्राट् का आदेश उस प्रान्त के गवर्नर को मिल चुका था कि यात्री के स्वागत के लिए उपयुक्त अधिकारी भेजे जाएं। यात्री नौका पर एक नहर की राह चीन में दाखिल हुआ। उसकी भरपूर अगवानी हुई और दूर-पास से सूचना मिलते ही हजारों की संख्या में चीनी जनता उस असाधारण यात्री के स्वागत के लिए उमड़ पड़ी। भीड़ ने घाट को इस प्रकार घेर लिया

कि नाव को टिकाने तक का तट पर स्थान न मिला और यात्री को रात नौका में ही बितानी पड़ी।[1]

प्रेम का भार ढोता किसी प्रकार जब हुएन्त्सांग राजधानी पहुंचा तब स्वयं सम्राट् ने उसका स्वागत किया। सम्राट् और उसके दरबारी, राज्याधिकारी और सौदागर, भिक्षु और गृहस्थ सभी ने उसके आने की खुशियां मनाईं। नगर त्योहार के दिन की तरह सज गया था। सड़कें ध्वजधारी नर-नारियों से भर गई थीं और संगीत का स्वर सर्वत्र मुखर था। ऐसा स्वागत कभी किसी चीनी यात्री को भारत से चीन लौटने पर नहीं मिला था। ऐसी आवभगत केवल सम्राटों और विजयी सेनापतियों की ही हुआ करती थी। हुएन्त्सांग निःसन्देह यशस्वी धर्मदूत था।

हुएन्त्सांग का भारत-भ्रमण-वृत्तान्त (सी-यू-की) बड़े चाव से चीन में पढ़ा गया उससे हुएन्त्सांग की महिमा बढ़ी और उसके शिष्यों की संख्या बेहद बढ़ गई और उससे भारत और चीन का संबंध दृढ़तर हो गया। शेष सारा जीवन उसने साथ लाए ग्रंथों के सही अनुवाद में बिताया। उसने स्वयं एक नये महायानी सिद्धान्त का चीन में प्रवर्तन किया जिसे उसके शिष्यों ने स्वयं स्वीकार किया और देश में जिसका उन्होंने प्रचार किया। हुएन्त्सांग ने 1335 अध्यायों से संयुक्त 74 ग्रंथों के चीनी में अनुवाद किए। उसने अनगिनत भारतीय बौद्ध चित्रों की नकलें भी की थीं और भारत से स्वयं नकल किए ऐसे ग्रंथों की प्रतिलिपियां भी साथ चीन लाया था, जिनका मूल ला सकना संभव न था। 664 ई० में जब वह मरा तो पश्चिमी राजधानी में दफनाया गया, पर वह स्थान महान् चीनी बौद्ध और दार्शनिक के लिए उपयुक्त न समझ कर सम्राट् ने पांच साल बाद उसके अवशेष वहां से हटाकर अन्यत्र दफनाए और उसकी समाधि पर उसने एक स्तम्भ खड़ा किया।[2]

अब नीचे हुएन्त्सांग के यात्रा ग्रंथ 'सी-यू-की' (पश्चिमी जगत् का वृत्तान्त) से कुछ अंश संकलित कर संक्षेप में दिए जाते हैं। वह स्वयं बौद्ध दार्शनिक था और उसने, जैसा हम आगे देखेंगे, अपनी तर्कणाशक्ति का नालन्दा और कनौज में विस्तार भी किया। नालन्दा में तो वर्षों रहकर वह बौद्ध दर्शन का अध्ययन करता रहा था। वह अपने भ्रमण-वृत्तान्त में लिखता है कि उस विश्वविद्यालय में बौद्ध धर्म के प्रबल दर्शनिक और निष्णात भिक्षु अध्यापन कार्य करते थे और भारत के कोने-कोने से दार्शनादि के विद्यार्थी ज्ञानार्जन के लिए वहां आते थे। वह लिखता है कि देश-विदेश से आए इस विद्यालय के विद्यार्थियों की संख्या प्रायः

---

1. दि क्लासिकल एज, पृ० 619
2. दि क्लासिकल एज, पृ० 620

10,000 थी[1] और इसके विविध विभागों में एक ही साथ सौ आचार्य ज्ञानोपदेश करते थे। इसके शिक्षण के विषयों का विस्तार बड़ा था, परन्तु दर्शन उनमें मुख्य था। बाहर से आए उद्भट दार्शनिक कभी-कभी वहां के दार्शनिकों को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती देते थे और फलस्वरूप उनके कथोपकथन श्रोतव्य होते थे। इस प्रकार के एक शास्त्रार्थ का हवाला स्वयं अपने विषय में हुएन्त्सांग ने दिया है। वह लिखता है कि जब वह वहां ठहरा हुआ था तब एक लोकायत (अनीश्वरवादी, लोकवादी) ने दार्शनिक बौद्ध धर्म के विरुद्ध घोषणा करते हुए चुनौती दी कि जो उसे हरा देगा उसे वह अपना मस्तक प्रदान करेगा। चीनी भिक्षु ने उसकी चुनौती स्वीकार कर ली। शास्त्रार्थ में लोकायत हार गया। (बौद्ध धर्म ज्ञानस्थल में निर्णय किसने और किस मात्रा में न्यायपूर्वक किया होगा, इसको इस बौद्ध तर्कणा की विजय के संदर्भ में न भूलना चाहिए)। चीनी भिक्षु लिखता है कि तर्क में पराजित हो जाने पर लोकायत ने अपना मस्तक भिक्षु के आगे बढ़ा दिया, पर भिक्षु ने उसे क्षमा कर दिया। हुएन्त्सांग का यश इससे भारत में भी बढ़ गया।[2]

फाह्यान ने पाटलिपुत्र का विशेष वर्णन किया था, हुएन्त्सांग ने कनौज का विशेष वर्णन कर अपने संरक्षक हर्ष की राजधानी का गौरव बढ़ाया। हुएन्त्सांग लिखता है कि अब पाटलिपुत्र उत्तर भारत का प्रधान नगर नहीं था, उसका स्थान अब महोदय (कनौज) ने स्वायत्त कर लिया था। वहां ब्राह्मणों और श्रमणों दोनों का निवास था। हीनयान और महायान दोनों संप्रदायों के प्राय: सौ विहारों में दस हज़ार के लगभग भिक्षु रहते थे। इसके विपरीत ब्राह्मण धर्मावलंबियों के मंदिरों की संख्या लगभग दो सौ थी। नगर प्राय: पांच मील लंबा और सवा मील चौड़ा था। मनुष्य और प्रकृति दोनों ने उसके निर्माण में भाग लिया था। उनके उद्यानों और निर्मल जलपूरित सरोवरों की शोभा अकथनीय थी। नागरिकों के भवन स्वच्छ और सुन्दर थे और उनके बहिरंग चूने से पुते हुए थे। नागरिक सुदर्शन थे जौर उनके वस्त्राच्छादन चिकने, श्वेत और रेशमी थे। नागरिकों के संबंध में चीनी यात्री ने विशेष उत्साहपूर्वक लिखा है। वह लिखता है कि 'उनकी वाणी स्पष्ट और शुद्ध है, उनकी वाक्यावलि देवताओं की भांति तरल और ललित है। उनका उच्चारण स्फुट और अकृत्रिम है जो अन्य नगरवासियों के लिए आदर्श उपस्थित करता है।'[3]

यात्री लिखता है कि हर्ष ने यात्री के कनौज में रहते ही वहां महायान संप्रदाय के सिद्धान्तों के प्रचारार्थ एक महान् अधिवेशन किया। चीनी यात्री और कामरूपेश्वर भास्करवर्मन के साथ गंगा के दक्षिणी तट पर चलकर हर्ष तीन महीनों में

1. जीवन चरित, पृ० 112
2. उपाध्याय, प्राचीन भारत, पृ० 304
3. वाटर्स, 1, पृ० 153; बील, 1, पृ० 77

बंगाल (उड़ीसा) की ओर से कनौज पहुंचा। वहां भारतीय पंचप्रान्तों के अट्ठारह राजाओं और सहस्रों अन्य धर्मावलंबियों ने उसका स्वागत किया।[1] इस धार्मिक योजना में भाग लेने के लिए हर्ष द्वारा निमंत्रित होकर ये कनौज में उपस्थित हुए थे। इस अधिवेशन के लिए दो विशाल पूर्ण-मंडप और उत्तुंग चैत्य का निर्माण किया गया था। प्रत्येक मंडप में हज़ार-हज़ार व्यक्ति बैठ सकते थे और चैत्य-स्तंभ के बीच में बुद्ध की सोने की हर्षकाय मूर्ति पधरायी गई थी। इस अधिवेशन के प्रारंभ में, यात्री लिखता है, विशाल गजराज पर बुद्ध की गजभर ऊंची स्वर्णमूर्ति का जुलूस निकाला गया। स्वयं हर्ष और भास्करवर्मन इस मूर्ति के अनुचर क्रमशः शक्र (इन्द्र) और ब्रह्मा बने। उनके पीछे गजारूढ़ राजाओं और साम्राज्य के कर्मचारियों तथा विशिष्ट अतिथियों की कतार थी। जुलूस लौटने पर हर्ष ने बुद्ध मूर्ति की पूजा की और एक सार्वजनिक भोज दिया। तदनन्तर हुएन्त्सांग ने महायान के सिद्धान्तों का प्रकाश करते हुए उनको, खुली सभा में, अकाट्य बताया और अपने तर्क को काटने के लिए विधर्मियों को चुनौती दी। पांच दिनों तक उसके तर्कों का खण्डन करने के लिए कोई सामने न आया और भिक्षु तन्मयता से अपने सिद्धान्तों का उद्घाटन करता रहा। अन्त में कुछ अन्य धर्मावलंबियों ने उसके वधार्थ षड्यंत्र करना आरंभ किया। परन्तु हर्ष को समय से इसकी गंध मिल गई और उसने तत्काल घोषणा की कि जो उसके अतिथि को स्वल्प भी हानि पहुंचाएगा उसका तुरन्त वध कर दिया जाएगा।[2] फिर तो अट्ठारह दिनों तक धर्म की व्याख्या चलती रही और यात्री को किसी प्रकार का अनिष्ट न पहुंचा। परन्तु अन्त में सहसा चैत्य स्तंभ में आग लग गई[3] और स्वयं हर्ष की हत्या करने का प्रयत्न किया गया। 'सी-यू-की' का वक्तव्य है कि हर्ष ने अप्रसन्न होकर पांच सौ ब्राह्मणों को बन्दी कर राज्य से निर्वासित कर दिया और शेष क्षमा कर दिए गए। हर्ष ने हुएन्त्सांग के दार्शनिक ज्ञान से प्रसन्न होकर उसे रत्नों से पुरस्कृत करना चाहा, परन्तु तपस्वी भिक्षु ने कुछ भी स्वीकार न किया।

इसके बाद हर्ष ने चीनी भिक्षु को 'महामोक्ष-परिषद्' के अधिवेशन में निमंत्रित किया। यह परिषद् हर पांचवें वर्ष प्रयाग में त्रिवेणी के संगम पर हुआ करती थी, जिसमें हर्ष पांच वर्ष तक संगृहीत कोष का दान किया करता था। हुएन्त्सांग ने उसमें भाग लेना स्वीकार कर लिया। उसमें बलभी के ध्रुवभट, कामरूप के भास्करवर्मन आदि ने भी भाग लिया। इनके अतिरिक्त वहां श्रमण, ब्राह्मण, लोकायत, निर्ग्रन्थ, दरिद्र दूर-दूर से आए हुए थे जिनकी संख्या पांच लाख थी। ढाई महीनों तक, चीनी यात्री लिखता है, यह अधिवेशन चलता रहा। पहले

1. जीवनचरित, पृ० 177
2. जीवनचरित, पृ० 183-87
3. वाटर्स 1, पृ० 162

दिन बुद्ध की मूर्ति प्रतिष्ठित कर रत्नादिकों द्वारा उसकी पूजा की गई। दूसरे और तीसरे दिन क्रमशः सूर्य और शिव की मूर्तियों की पूजा हुई। पर उन पर बुद्ध की पूजा पर चढ़ाए रत्नों के आधे मूल्य के ही रत्न चढ़ाए गए। चौथे दिन बौद्ध भिक्षुओं को अभूतपूर्व दान दिया गया। फिर बीस दिनों तक ब्राह्मणों के प्रति हर्ष ने अपने दान-विसर्जन किए। तदनन्तर उसने जैन, लोकामतादिकों को दान देने में बिताए। अगले दस दिन भी इसी प्रकार के विसर्जन अन्य संन्यासियों के प्रति हुए और शेष तीस दिनों तक हर्ष दरिद्रों, यतीमों को धन बांटता रहा। अब तक राजकोष में सारा संचित धन समाप्त हो चुका था और तब राजा ने अपने वस्त्राभूषण तक दान कर दिए। 75 दिनों तक यह दान-लीला चलती रही और अन्त में स्थिति ऐसी आई कि हर्ष को अपनी बहिन राज्यश्री से वस्त्र का जोड़ा मांगकर तन ढंकना पड़ा। चीनी यात्री ने इस दान की बड़ी प्रशंसा की है।

हुएन्त्सांग के वर्णन से विदित होता है कि इस काल बौद्ध, जैन और ब्राह्मण तीनों धर्मों का भारत में प्रचार था। जैन धर्म का निश्चय ह्रास हो रहा था। केवल वैशाली, पुण्ड्रवर्धन और समतट में जैनों की संख्या प्रचुर थी। बौद्ध धर्म का प्रचार पर्याप्त था और अनेक स्थानों में वह उन्नतिशील था, पर कोशाम्बी, श्रावस्ती और वैशाली में उसका अवसान हो रहा था। महायान संप्रदाय के अनुयायी संख्या में हीनयानियों से कहीं अधिक थे। यात्री अपने धर्म के अट्ठारह संप्रदायों का उल्लेख करता है जो सिद्धान्तों में परस्पर विरोधी थे। इइ-ली का कहना है कि भारत में तब अनेक प्रकार के संन्यासी थे जिनको, भूत, कापालिक, जुतिक, सांख्य, वैशेषिक आदि कहते थे। ब्राह्मण धर्म के विशिष्ट केन्द्र तब काशी और प्रयाग थे। उसके मुख्य देवता शिव और विष्णु थे, जिनके वहां अनेक मन्दिर थे और जिनकी पूजा बड़ी धूम-धाम से होती थी।[1] ब्राह्मण अग्नि और गाय के प्रति श्रद्धा करते तथा सौभाग्य और समृद्धि के लिए अनेक अनुष्ठान करते थे।[2] अनेक दर्शनों के अनुयायी वहां विद्यमान थे।[3] हुएन्त्सांग कहता है कि परिव्राजक अपने-अपने संप्रदाय के अनुसार क्रियानुष्ठान करते और वेशधारण करते थे। जीवन-यापन वे भिक्षा द्वारा करते थे और सत्य की खोज में वे सभी प्रकार के कष्ट स्वीकार करते थे।[4]

हर्ष को हुएन्त्सांग ने 'बैस-राजपूत' कहा है। थानेश्वर से साथ-साथ कनौज के मौखरियों का राज्य भी विधवा बहिन राज्यश्री के अस्वीकार करने पर स्वीकार करते समय हर्ष के संबंध में चीनी यात्री लिखता है कि राज्यश्री बुद्ध की

---

1. बील, 1, पृ० 44
2. वही, पृ. 44-45, 71, 90, 130
3. वही, पृ० 236
4. वाटर्स, 1, पृ० 160-61

शिक्षाओं से प्रभावित ऐश्वर्य से विमुख हो गई थी। तब कनौज के मंत्रियों ने कनौज की प्रजा की अराजकता से रक्षा करने के लिए हर्ष को वहां का राजमुकुट दिया, पर हर्ष ने उसे लेना अस्वीकार कर दिया। बहुत समझाने पर उसने बोधिसत्व को अपनी स्थिति समर्पित कर दी। बोधिसत्व अवलोकितेश्वर का तब उसे आदेश मिला, जिससे उसने कनौज का स्वामीत्व स्वीकार किया।[1] 6 वर्षों के निरंतर युद्ध के बाद उसने भारत के पांचों प्रान्तों को जीत लिया[2] और तब तीस वर्षों के बाद उसने तलवार म्यान में रखी।[3] हुएन्त्सांग के जीवनचरित में लिखा है कि हर्ष ने जयसेन नामक बौद्ध पंडित को उड़ीसा के 80 नगरों की आय दान में अर्पित की, पर उसने दान स्वीकार नहीं किया।[4] यात्री लिखता है कि हर्ष के साम्राज्य में स्थान-स्थान पर व्यापार की वस्तुओं पर चुंगी देनी पड़ती है और घाटों पर नदी पार करने के लिए खेवा लगता है।[5] इसी प्रकार भूमि की उपज का छठा भाग राजा लेता है। आय राजा की आवश्यकताओं, दान-कृत्यों आदि पर व्यय होती है।[6] राजद्रोह का दण्ड आजीवन कारावास है और अपराधियों को समाज का अंग नहीं माना जाता।[7] व्यभिचार आदि के लिए नाक, कान, हाथ अथवा पैर काट लिए जाते हैं। कुछ अपराधों के लिए देशनिकाले या वनवास की व्यवस्था है।[8] हुएन्त्सांग लिखता है कि परिवारों की रजिस्ट्री नहीं करानी पड़ती, न लोगों से बेगार ली जाती है। जघन्य अपराधों की संख्या स्वल्प है।[9] लोग 'कभी अन्य किसी की वस्तु अनुचित रीति से नहीं लेते और दूसरों के प्रति अपने व्यवहार में वे आशातीत सज्जनता दिखाते हैं। वे उस जन्म में किए पापों के अगले जन्म में परिणाम से डरते हैं।···वे किसी को धोखा नहीं देते, दिए वचन को पूरा करते हैं।[10]

हुएन्त्सांग ने स्वाभाविक ही अपने संरक्षक हर्ष द्वारा किए आतिथ्य, उसके शासन-विधान आदि का वर्णन किया है। पर उससे भिन्न भी जो धार्मिक आदि वृत्तान्त उसने अपनी यात्रा के विवरण में लिखे हैं उनका उल्लेख अन्यत्र किया

1. बील, 1, पृ० 210-11; वाटर्स, 1, पृ० 343
2. बील, 1, पृ० 213; वाटर्स, 1, पृ० 243
3. वाटर्स, वही, पृ० 313
4. हुइ-ली, पृ० 154
5. वाटर्स, 1, पृ० 83 84
6. वही
7. वही, पृ० 172
8. वही; बील, 1, पृ० 83-84
9. वाटर्स, 1, पृ० 172
10. वाटर्स, 1, पृ० 171; बील, 1, पृ० 83

जा चुका है। यहां, भारत के कुछ अन्य क्षेत्रों के इतिहास और समसामयिक स्थिति पर उसने जो प्रकाश डाला है, उसका संक्षेप में विवरण दे देना उपयुक्त होगा।

चीनी यात्री लिखता है कि कपिशा (काफिरिस्तान) और नगरहार (जलालाबाद) में उसने अशोक द्वारा बनवाए अनेक स्तूप देखे। उसने उस घटना का उल्लेख किया है जिसके परिणामस्वरूप कनिष्क ने दो चीनी राजकुमारों को ज़मानत के तौर पर कपिशा में रखा था। वह लिखता है कि 'शो-लो-क' विहार और चैत्य के खर्च के लिए जो बहुत धन दिया गया था वह वैश्रवण (कुबेर) की मूर्ति के पास गाड़ दिया गया था। स्थानीय राजा ने जब उसे निकालना चाहा तब दैवी उपद्रवों के कारण उसे विरत होना पड़ा। हुएन्त्सांग के प्रयास से वह धन निकालकर विहार के जीर्णोद्धार में खर्च किया गया। (जीवनचरित 'हुइ-ली')। वह पेशावर के स्तूप में बुद्ध की अस्थियों के रखे होने का उल्लेख करता है।[1] उसके प्रमाण से कनिष्क ने बौद्ध संगति (चौथी) कश्मीर में श्रीनगर के कुण्डलवन विहार में सम्पन्न की थी, जिसकी अध्यक्षता वसुमित्र ने और उसकी अनुपस्थिति में अश्वघोष ने की थी। वहां बौद्ध सिद्धान्तों पर अनेक भाष्य प्रस्तुत हुए जिनमें सबसे महत्त्व का 'विभाषा-शास्त्र' था जिसे तांबे के पत्रों पर खुदवा कर कनिष्क ने स्तूप में रखवा दिया था।[2]

उत्तर-पश्चिम और हर्ष के साम्राज्य का वृत्तान्त लिख यात्री ने पश्चिमी और दक्षिणी भारत की भी यात्रा की। वहां के राज्यों का भी उसने वर्णन किया है। उसने वलभी का (काठियावाड़-गुजरात) भ्रमण करते समय लिखा कि वहां का राजा क्षत्रिय, मालवा के पूर्व-नृपति शीलादित्य का भतीजा और कान्यकुब्ज के राजा शीलादित्य (हर्ष) का जामाता है। उसका नाम ध्रुवभट (ध्रुवसेन द्वितीय) है। वह विचारों से तो अनुदार है पर सद्धर्म का उपासक है।[3] इसी प्रकार मालवा से मारकर भगाए गए हूणराज तोरमाण के पुत्र मिहिरगुल के विषय में वह लिखता है कि वह बौद्धों के प्रति असहिष्णु था, उन्हें मरवा देता और उनके विहारों को जलवा देता था।···मिहिरगुल ने मगध पर आक्रमण किया पर वहां के राजा बालादित्य ने उसे परास्त कर बन्दी कर लिया। फिर दया कर उसके मुक्त कर देने के बाद मिहरगुल कश्मीर पहुंचा। राजा ने उसका स्वागत किया, पर उस कृतघ्न अतिथि ने धोखे से उसे मारकर कश्मीर का राज्य हड़प कर लिया।[4] कश्मीर के विषय में यात्री लिखता है कि अशोक ने श्रीनगर

1. सि-यू-की, बील, 1, पृ० 99; वाटर्स, 1, पृ० 204
2. बील, 1 पृ० 151-56; वाटर्स, 1, पृ० 277-78
3. उपाध्याय, 'प्राचीन भारत का इतिहास', पृ०288
4. उपाध्याय, प्राचीन 'भारत का इतिहास', पृ० 292

नाम का नगर बसाया और वहां अनेक स्तूप बनवाए। उसका तो यहां तक कहना है कि उसने संघ के खर्चे के लिए समूचे कश्मीर को दान कर दिया था।[1] सिन्ध का भ्रमण करते समय उसने समसामयिक राजा को शूद्रवंशीय बौद्ध लिखा है।[2]

पुलकेशिन् द्वितीय के शासनकाल में चीनी यात्री ने महाराष्ट्र का भ्रमण किया था। उसके उसने वृत्तान्त लिखे हैं। उसका कहना है कि महाराष्ट्र की भूमि अत्यन्त उर्वरा है और निरन्तर जोती जाती है।[3] मराठे दृप्त और लड़ाके, उपकार के प्रति कृतज्ञ और अपकार के विरुद्ध प्रतिरोधी होते हैं। वे शरणागत को अभय प्रदान करते हैं ओर अपमानकारी के आमरण शत्रु बने रहते हैं। युद्ध के समय हरावल के योद्धा और गज दोनों सुरापान कर प्रमत्त हो रणभूमि में उतरते हैं।[4] उनका नृपति पुलकेशिन् अपनी शक्ति के सामने अपने पड़ोसियों को तुच्छ समझता है। उसके सामन्त उसके प्रति स्वामिभक्त हैं।[5] यात्री का वृत्तान्त कितना सही है यह इससे प्रमाणित हो जाता है कि जब पुलकेशिन् और हर्ष में युद्ध ठना तो हर्ष को पराजित होना पड़ा था। फलतः हर्ष ने चीनी सम्राट् के पास मैत्री के लिए राजदूत भेजे थे। इसके उत्तर में पुलकेशिन् ने भी ईरानी सम्राट् खुसरों के साथ दौत्य व्यवहार किया।

नरसिंहवर्मन् प्रथम महामल्ल के राज्यकाल में हुएन्त्सांग ने पल्लवों के देश का भी भ्रमण किया। 642 ई० के लगभग वह कांची पहुंचा। वह लिखता है कि वहां की भूमि उर्वरा है और वहां अन्न खूब होता है। रत्नों का वह आकर है। उसके निवासी साहसी हैं। ईमानदारी और विद्या उनके व्यसन हैं। उस देश में लगभग 100 संघाराम और 10,000 भिक्षु हैं। वे सभी महायान की स्थविर-शाखा के अनुयायी हैं। वहां लगभग 80 देव-मन्दिर और अनेक चैत्य हैं।[6] हुएन्त्सांग के अनुसार प्रसिद्ध बौद्धाचार्य धर्मपाल कांची का ही था।

समुद्रगुप्त के शासनकाल में लंका के राजा मेघवर्ण ने बोधगया में लंका के भिक्षुओं के ठहरने के लिए गुप्त सम्राट् की अनुमति से एक 'महाबोधि' नाम का संघाराम बनवा दिया था। हुएन्त्सांग ने बोधगया की अपनी यात्रा में उस 'महाबोधि-संघाराम' का उल्लेख किया है।[7]

जिस शालीन परम्परा का फाह्यान ने प्रारम्भ किया था उसे अपने भ्रमण

---

1. बील, 1, पृ० 151; वाटर्स, 1, पृ० 267
2. वाटर्स, 2, पृ० 252
3 बील, 2, पृ० 256
4. वाटर्स, 2, पृ० 239
5. वही
6. बील-2, पृ० 228-29
7. उपाध्याय, 'प्राचीन भारत का इतिहास', पृ० 241

और उसके द्वारा अर्जित ज्ञान से हुएन्त्सांग ने शालीनतर बनाया। चीन से भारत आनेवाले बौद्ध यात्रियों में वह सबसे महान् था। उसने बौद्ध महायान धर्म की बड़ी सेवा की और अपने देश में उसे समुन्नत किया। उसके बाद चीन से भारत आने वाले यात्रियों का तांता बंध गया, जिनमें प्रधान ईत्सिग था। वस्तुतः सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध में लगभग 60 चीनी बौद्धों ने भारत की यात्रा की। उन 60 यात्रियों का जीवन-विवरण स्वयं ईत्सिग ने दिया है। पर वह स्वयं सदी की इस अवधि में भारत जाने वाले बौद्ध भिक्षुओं में सबसे महान् था। वह भारत जल की राह ईरानी जहाज़ से चीन से 671 ई० में रवाना हुआ। हुएन्त्सांग को मरे लगभग सात साल हो चुके थे और उसके यात्रा-विवरण, विशेषकर हर्ष सम्बन्धी वर्णनों ने अनेक चीनी बौद्धों को प्रभावित किया था और भारत की यात्रा की ओर प्रेरित किया था। ईत्सिग को जिस प्रसंग ने विशेष आकृष्ट किया था वह नालन्दा का विश्वविद्यालय था। उसका जहाज़ कुछ दिनों बाद सुमात्रा पहुंचा सुमात्रा में श्रीविजय तब हिन्देशिया द्वीपसमूह में बौद्ध-ज्ञान का सबसे प्रसिद्ध केन्द्र हो रहा था। ईत्सिग प्रायः दो साल वहीं रमा रहा। कुछ काल तक वहां अध्ययन करके वह भारत के लिए चला और 673 में बंगाल की खाड़ी के प्रसिद्ध बन्दर ताम्रलिप्ति (ताम्लुक) आ पहुंचा। उसे जल का मार्ग सुगम केवल इसी से नहीं लगा था कि मध्य एशिया का मार्ग अत्यन्त दुर्गम था। वह मार्ग तिब्बती और अरबी आक्रमण के कारण और भी भयावह हो गया था। फिर जैसे मध्य एशिया वाले मार्ग में कुची आदि के बौद्ध ज्ञानकेन्द्र पड़ते थे, जलमार्ग में भी जावा-सुमात्रा के सद्धर्म के ज्ञानपीठ कम आकर्षक न थे।

ईत्सिग भारत में प्रायः पचीस साल 673 से 695 तक (यात्राकाल समेत) रहा था। भारत में उसका सबसे प्रिय आकर्षण था, जहां वह दस वर्ष (675-85) रहा। वहां उसने संस्कृत भाषा, व्याकरण, साहित्य, दर्शन, चिकित्सा-शास्त्र सभी पढ़ा। वहां के पाठ्यक्रम का भी उसने सविस्तार विवरण दिया है। अश्वघोष के सम्बन्ध में वह लिखता है कि वह अतीत का महान् पंडित था और उसकी कृतियों का संग्रह उसके काल में भी बड़े चाव से पढ़ा जाता था। 'काशिकावृत्ति' का रचनाकार सम्भवतः उसके समय तक जीवित था, जैसाकि यात्री के विवरण से जान पड़ता है। उसके विवरण से यह भी ज्ञात होता है कि 'वाक्यपदीय' का रचयिता भर्तृहरि उससे केवल चालीस वर्ष पूर्व (अर्थात् 65। ई० के लगभग) मरा था। यात्री लिखता है कि वह बौद्ध था, पर जीवन भर संन्यास और गार्हस्थ्य के बीच अटका रहा। सात बार वह भिक्षु हुआ और सात बार गार्हस्थ्य की ओर लौटा।[1] यात्री लिखता है कि एक बार तो, कहते हैं, जब भर्तृ-

1. रेकार्डस आफ दि, बुद्धिस्ट रिलीजन, पृ० 178 से आगे

हरिबौद्धविहार में दाखिल हुआ तो उसने अपने रथ को द्वार पर खड़ा रखा कि कहीं मन वहां न रमा और घर तथा सांसारिक सुखों की लालसा हुई तो वह अविलम्ब घर लौट सके। ईत्सिंग ने भर्तृहरि के एक श्लोक का भी उल्लेख किया जिसमें उसने कहा है कि उसे धिक्कार है जो संन्यास और संसार में से एक को चुन कर अपने संकल्प पर दृढ़ नहीं रह पाता। ईत्सिंग के समय में; जैसा उसके विवरण से प्रमाणित है, चीनी लोग संस्कृत व्याकरण सीखने के लिए प्राय: जयादित्य और वामन की 'काशिकावृत्ति' का ही उपयोग करते थे। उसका कहना है कि भारत में सभी पन्द्रह वर्ष की आयु के वाद वाले विद्यार्थियों को पांच साल तक इस व्याकरण को पढ़ना पड़ता था।

ईत्सिंग ने नालन्दा में रहकर केवल अध्ययन ही नहीं किया, बल्कि अनेक बौद्ध ग्रंथों की प्रतिलिपियां भी चीन ले जाने के लिए प्रस्तुत कीं। वह चार सौ ग्रंथ चीन ले भी गया, जिनमें श्लोकों की सम्मिलित संख्या पचास हज़ार से अधिक थी। उसने भी अन्य यात्रियों की ही भांति अनेक संस्कृत बौद्ध ग्रंथों के चीनी में अनुवाद तो किए ही, अनुवाद-कार्य को सुकर करने के लिए उसने एक विशेष महत्त्व का कार्य किया। उसने संस्कृत और चीनी का एक कोश तैयार कर दिया। अपने इन पचीस वर्षों की यात्रा और प्रवास का विवरण अपने बृहद् ग्रंथ—भारत और मलय द्वीपसमूह में आचारित बौद्ध धर्म—में सविस्तार दिया है।

ईत्सिंग ने जिन साठ बौद्ध यात्रियों के चरित लिखे हैं उनमें से कुछ कोरिया, समरकन्द और तोखारिस्तान के भी थे जिससे सिद्ध है कि सातवीं सदी से पहले ही कोरिया-जापान तक बौद्ध धर्म का प्रसार हो चुका था। प्राय: एक ही पीढ़ी से साठ-साठ यात्रियों का भारत आना प्रमाणित करता है कि मार्ग की दुर्गमता के बावजूद भारत और चीन के बीच सांस्कृतिक यातायात अत्यन्त लोकप्रिय हो गया था। इसके साथ ही चीनी इतिहास से पता चलता है कि धार्मिक सम्बन्ध के अतिरिक्त व्यापारिक सम्बन्ध भी दोनों देशों में घना हो गया था और चीन के नगरों में हज़ारों भारतीय सौदागर अपनी-अपनी वस्तुएं लिए फिर रहे थे। उनमें से अनेक तो राजधानी और दक्षिण के नगरों में बस भी गए थे।

सातवीं सदी के तांग शासित चीन में भारतीय भिक्षुओं का भी पर्याप्त प्रवास रहा। अनेक भारतीय भिक्षु भी उस काल चीन गए और सद्धर्म का वहां अध्यापन-प्रचार किया। इनमें से पहला नालन्दा विश्वविद्यालय का प्रसिद्ध और महान् आचार्य प्रभाकर मित्र था। अनेक भारतीय राजकुलों के अभिजात वंशधरों ने बौद्ध त्रिवर्ग (बुद्ध, धर्म और संघ) की शरण ली थी। प्रभाकर मित्र भी राजपरिवार का था। उसका आदि स्थान मध्य भारत था और प्रव्रजित और बौद्ध भिक्षु की दीक्षा लेकर वह अध्ययन के निमित्त नालन्दा चला गया था जहां अपनी प्रतिभा से शीघ्र ही वह आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो गया था। उसके

अनेक शिष्यों ने प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त किया और दूर-दूर तक विख्यात हुए। प्रभाकर मित्र अपने दस शिष्यों के साथ मध्य एशिया के नगरों की ओर चला। पहले वह पश्चिम तुर्किस्तान पहुंचा और वहां उसने तुर्कों के राजा को बौद्ध धर्म का उपदेश दिया। उस तुर्की दरबार में जो चीनी राजदूत रहता था उसने प्रभाकर मित्र को चीन आने का निमन्त्रण दिया पर तुर्कराज को उसका उसे छोड़ कर चीन जाना अभिमत नहीं हुआ और उसने उसकी चीन-यात्रा रोक दी। फिर चीनी सम्राट् के अनुरोध को वह नहीं टाल सका और उसने भिक्षु को चीन जाने की अनुमति दे दी। प्रभाकर मित्र 627 ई० में चीन पहुंचा।

प्रभाकर मित्र के चरित्र का निर्माण सभी प्रकार से सार्वजनीन था। नालन्दा में विद्वानों में निवास और शिष्यों के साथ मिलकर कार्य करने की प्रवृत्ति उसकी पहले से ही थी, चीन पहुंचते ही उसने पूरी टोली सहित काम करने की व्यवस्था बांधी। सम्राट् सभी प्रकार से उसकी सहायता के लिए सन्नद्ध था। उसने अनेक विद्वान् भिक्षु और गृहस्थ अथवा उपासक पंडित दरबार की ओर से प्रदान कर दिए। कुछ शिष्य भिक्षु अपने साथ भारत से ही ले गया था। उसने अनुवाद कार्य बड़े पैमाने और वैज्ञानिक ढंग से वहां शुरू किया। सरकार की ओर से उन्नीस पंडित मिले थे। कुछ प्रभाकर मित्र के बोले हुए शब्द अनूदित करते, कुछ उसके बाद उस अनुवाद की मीमांसा करते, एक तीसरा दल अनुवाद के अन्तिम रूप को लिख देता। अन्तिम दल उसकी प्रतिलिपि तैयार करता और तब सम्राट् के राजपुरुष प्रस्तुत अनुवादों को फिर एक बार देखकर उनके प्रकाशन की अनुमति देता। अनुवाद देश में विद्वानों द्वारा सदियों से होते आए थे पर इतने वैज्ञानिक और तुलनात्मक पद्धति से अब तक वे कभी प्रस्तुत नहीं हुए थे। यह प्रभाकर मित्र की सुव्यवस्थित मेधा का ही परिणाम था। प्रभाकर मित्र 633 ई० में चीन में ही मरा जब हुएन्त्सांग अभी हाल ही भारत पहुंचा था।

इस अवधि में दूसरा चीन जाने वाला विख्यात पंडित बोधिरुचि था जो चीनी राजदूत की प्रार्थना कर चालुक्यराज द्वारा भेजा गया था। वह प्रभाकर मित्र की मृत्यु के ठीक साठ साल बाद चीन पहुंचा था, 693 ई० में। प्रभाकर मित्र ने समूचे पंडित परिवार के साथ जो कार्य करने की नीति व्यवस्थित की थी वह आगे नियम-सा बन गया। बोधिरुचि ने भी वह पद्धति अपनाई और समूचे दुभाषिये पंडित दल के साथ उसने भी अनुवाद-कार्य किया। उसके दल में भारतीय और चीनी दोनों विद्वान् थे। भारतीय दल में जो विशिष्ट जन थे इनमें से एक ब्रह्म नाम का पंडित मध्य भारत के एक राजा द्वारा भेजा राजदूत था, दूसरा, ईश्वर नामधारी भिक्षु, स्वयं पूर्व-भारत के किसी भाग का राजा था। इन व्यक्तियों के व्यक्तित्वों से भारत से चीन जाने वाले भिक्षु वर्गों की शालीनता का कुछ अटकल लगाया जा सकता है। स्वयं चीनी सम्राट् अनुवाद-कार्य

के दौरान प्राय: उपस्थित रहता था और यदाकदा स्वयं कुछ नोट भी अपने हाथों से लिखा करता था। अनेक बार साम्राज्ञी भी अभिजात्या महिलाओं के साथ वहां पधारती और पंडितों द्वारा सम्पन्न होता अनुवाद-कार्य लगन से निहारा करती थी। शासनाधिकारियों की तो कोई गणना ही न थी। बोधिरुचि 53 ग्रंथों का अनुवाद कर 727 ई० में चीन में ही मरा।

वज्रबोधि भी राजपुत्र था, मध्य भारतीय राजा का कुमार। पिता का नाम ईशानवर्मन् था। युवावस्था में ही प्रव्रजित होकर वह नालन्दा पहुंचा था और वहां के आचार्यों के ज्ञान से विदग्ध हो स्वयं उनमें गिना जाने लगा था और देश-विदेश में विख्यात हो गया था। पल्लवराज नरसिंहवर्मन् द्वितीय की प्रार्थना पर कांची जाकर उसने उसे बौद्ध सिद्धान्तों की शिक्षा भी दी थी। इससे राजा की उस धर्म के प्रति विशेष भक्ति जागी थी। उस राजा का चीनी सम्राट् से सीधा सम्बन्ध भी हो गया था। 1013 में बने एक चीनी विश्वकोश में उल्लेख मिलता है कि दक्षिण भारत के राज्य के राजा ने 720 में चीनी सम्राट् के पास अपना दूत मंडल भी भेजा था। उसने कहला भेजा था कि ताजिकी अरबों के साथ युद्ध में सहायता के लिए सम्राट् को वह अपने हाथियों की सेना भेजने को तैयार है। चीनी सम्राट् ने प्रसन्न होकर उस गजसेना का नाम पल्लवराव के अनुरोध पर 'पुण्य कामिनीसेना' रख दिया था। उसी ग्रंथ के दूसरे स्थल से जान पड़ता है कि चीनी सम्राट् ने कुछ मास बाद अपने दूत भेजकर पल्लवराज 'चे-लि-न-सेंग-किया-पाओ-तो-प-मो (श्री नरसिंहपोतवर्मन्) को 'दक्षिण भारत के राज्य के राजा', इस विरूप से विभूषित किया। उसी साल पल्लवराज ने चीनियों के लिए एक मंदिर का निर्माण किया जिसका नाम भी चीनी सम्राट् ने ही रख दिया था। वज्रबोधि कांची से लंका पहुंचा। लंका के राजा ने चीनी सम्राट् के पास उपहारों और एक महत्त्व के बौद्ध ग्रंथ के साथ अपने राजदूत भेजे। वज्रबोधि भी उन्हीं के साथ 720 में चीन पहुंचा। वहां उसने तन्त्रयान का प्रचार किया। महायान भी इसी अवधि में रूप लेता रहा था। तन्त्रयान शीघ्र ही चीन में लोकप्रिय हो उठा।

732 में वज्रबोधि की मृत्यु के बाद उसका कार्य उसके शिष्य अमोघवज्र ने अपने हाथ में लिया। चार वर्ष तक चीन में अपने गुरु का कार्य करने के बाद अमोघवज्र लंका लौटा। वहां वह बौद्ध ग्रन्थ चीन ले जाने के लिए आया था। दस वर्ष के बाद 746 में अमोघवज्र 500 ग्रंथों का विशाल संग्रह लिए चीन लौटा। 771 तक चीन में वह इनमें से अनेक ग्रन्थों का अनुवाद करता रहा और इस बीच उसने 77 ग्रंथों का अनुवाद किया। उसकी मृत्यु 774 ई० में चीन में ही हुई।

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि चीन में बौद्ध धर्म फूलों की सेज सोया। वहां उसके अनेक विरोधी भी थे जो कनफ्यूशस अथवा लाओ-त्जू के मानने वाले थे।

तांग वंश का संभवत: सबसे सशक्त लेखक हान-यू (768-824) हुआ। वह चीनी इतिहास के सबसे तेजस्वी कनफ्यूशस्वाद के विद्वानों में गिना जाता है। उसने बौद्ध धर्म का और चीनी सम्राटों के उस विदेशी धर्म के प्रति अदम्य उत्साह और श्रद्धा का घोर विरोध किया। उस काल सम्राट हिसएन-त्सुंग का शासन था। सम्राट् बौद्ध धर्म का परम उपासक था। फेंग हिसयांग फू केफा मेन स्सू नामक विहार से बुद्ध की पवित्र अस्थि लाकर वह पहले तीन दिन अपने चांग-आन के प्रासाद में रखना चाहता था। फिर राजधानी के विविध मंदिरों-विहारों में वह प्रदर्शित करना चाहता था। उस अवसर पर बड़ा उत्सव मनाया जाने का आयोजन हुआ। हान-यू ने तभी बौद्ध धर्म के विरुद्ध सम्राट को अपनी प्रसिद्ध आवेदन-स्मारिका भेजी। आवेदन लम्बा है जो संक्षेप में नीचे दिया जा रहा है :

"बुद्ध पश्चिमी देशों का देवता है और यदितत्रभवान् उसका आदर और पूजा करते हैं तो निश्चय केवल इसीलिए कि आप दीर्घजीवी हों और शान्ति और सुख-पूर्वक राज्य भोगें। प्राचीन काल में, हुआंग-ती, यू, विजयी तांग और राजा वेन तथा वू ने भी दीर्घ जीवन जिया और उनकी प्रजा ने शान्ति का सुख भोगा यद्यपि तब बुद्ध नहीं था। हान राजकुल के केवल सम्राट् भिग के आधिपत्य में इस धर्म का साम्राज्य में प्रवेश हुआ और तब से एक के बाद एक युद्धों तथा दुर्व्यवस्थाओं का द्रुतगति से प्रादुर्भाव होता रहा जिससे घोर अनाचार का उदय हुआ, साम्राज्य-कुल नष्ट हो गए। बस छः राजकुलों के समय ही बौद्ध धर्म का प्रसार शुरू हुआ जो आज से विशेष पूर्व का काल नहीं है।

"इन राजकुलों के सम्राटों में से केवल एक, लियांग वू ती, अड़तालीस वर्ष सिहासन पर रहा और उसने बुद्ध की कृपा से शान्ति और सुख प्राप्त करने के लिए भला क्या-क्या नहीं किया। उसने विहार का दास बनने के लिए अपने को तीन वार बेचा।[1] पर इससे उसे लाभ क्या मिला ?

"हउ चिंग द्वारा घेरा डालने पर केवल भूख से दारुण मृत्यु! फिर भी वह सदा यही कहता रहा कि सम्राट् के लिए अनादर सूचक इन कृत्यों को वह केवल इसी आशा से करता रहा है कि बुद्ध से उसे सुख प्राप्त हो। पर इसका परिणाम केवल उत्तरोत्तर दुर्भाग्य हुआ। कारण कि बुद्ध पश्चिमी राज्यों का बर्बर मात्र था जो न तो प्रजा को राजा से संयुक्त करने वाली राजभक्ति को मानता था, न पिता के प्रति पुत्र की स्वाभाविक आज्ञाकारिता को। यदि आज वह जीवित होता और आपके दरबार में आता तो तत्र-भवान उससे कृपया ह्सुआन चेंग हाल में मिलते, लि पिन के दरबार-हाल में उसकी दावत करते, उसे उपहार-सिरोपा बख्शते और

1. सम्राट् लियांग वू ती ने तीन बार विहार छोड़ा और तीन बार बौद्ध भिक्षु की दीक्षा ली थी। प्रत्येक बार जब वह विहार छोड़ राजमहल लौटा था तो उसे विहार को विपुल धन देना पड़ा था।

अन्त में लौटते समय उसको सीमा तक पहुंचा देते, अपनी प्रजा से मिलने की उसे कभी अनुमति न देते।

"यह आदमी, बुद्ध, कभी का मर चुका है, सड़कर बिखर चुका है, और अब एक सूखी हड्डी, जो उसकी उंगली कही जाती है, तथा भवान को (आपको) दी जा रही है, और साम्राज्य-प्रासाद में रखी जाने वाली है। मैं भवान को सलाह देने की जुर्रत करता हूं कि यह हड्डी मजिस्ट्रेटों को दे दें जिससे वे इसे अग्नि अथवा जल से नष्ट कर दें और यह नीच धर्म नष्ट हो जाए। यदि बुद्ध वैसा ही हो जैसा बताया जाता है, यदि वह मनुष्य को सुखी अथवा अभागा देने की सामर्थ्य रखता हो तो मैं यही प्रार्थना करता हूं कि ऐसा करने (हड्डी नष्ट कर देने) से जो पाप हो वह केवल मुझपर पड़े, कारण कि मुझे विश्वास है कि उसमें (दण्ड देने की) कोई शक्ति नहीं।" सम्राट् ने हान-यू को इस अपराध के लिए, उसकी स्पष्ट-वादिता के लिए, देशनिकाला का दण्ड दे दिया यद्यपि अगले सम्राट ने उसे क्षमा कर दिया।

बौद्ध धर्म के विरोध की घटनाएं भी कुछ कम नहीं। ऊपर का उद्धरण तो मात्र एक प्रतिवाद का प्रमाण है। इस काल से काफी पहले, पांचवीं सदी में ही सद्धर्म का विरोध और आरम्भ हो गया था। धर्म एक तो विदेश में नया था फिर स्थानीय धर्मों का प्रतिवाद सक्रिय था। प्रधान प्रतिवादी ताओवादी थे। यह स्वाभाविक था कि वे बाहरी धर्म का प्रचार प्रतिकूल मानते, यह भी स्वाभाविक था कि एक वर्ग के चीनी अति-राष्ट्रीयतावादी स्वदेशी धर्म को प्रश्रय देते। फिर भी ताओवादियों ने कुछ काल तरह देना और नये विदेशी धर्म के प्रति-वाद से कुछ विरत रहना, उससे कुछ अंश तक समझौता कर लेना ही मुनासिब समझा। ताओवादी नेता काऊ चिएन-चिह ने ऐलान किया कि बुद्ध भी ताओ-वादी थे और उस धर्म का पश्चिम के बर्बरों में प्रचार किया था और इसी कारण अमर थे। इसी से उनकी भी पूजा और आदर होना चाहिए पर लाओ त्जू और धर्म के अन्य महान् और अमर विभूतियों के समान नहीं।

बौद्ध और ताओ धर्मों की परस्पर स्पर्धा स्वयं दोनों धर्मों के प्रति अत्याचार का कारण बन गई। 444 ई० में सम्राटों ने बौद्ध धर्म पर जो अत्याचार किया ताओवाद उससे उस काल बच गया। वस्तुत: ताओवादियों ने ही बौद्ध धर्म पर अत्याचार किए जाने का उत्साह अत्याचारियों में यहकह कर बढ़ाया कि बौद्ध धर्म के विदेशी होने के कारण उसकी इस देश में कोई परम्परा नहीं है, विशेषकर चीनी 'स्वर्णयुग' से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, जो सम्बन्ध इन प्रसंगों में बड़े महत्त्व का माना जाता था। विपरीत प्रेरणा के वातावरण के बावजूद उत्तर-पूर्वी चीन के 'ची' राज्य के राजा ने 555 ई० में दोनों धर्मों को संयुक्त करने के लिए बौद्ध और ताओ आचार्यों की एक बैठक बुलाई। जो शास्त्रार्थ, तर्कयुत भाषण और

दार्शनिक विवेचन हुए, बौद्ध आचार्य उनमें विजयी हुए। तब राजा ने ताओ पंडितों को सिर मुड़ा कर बौद्ध हो जाने का आदेश दिया। पहले तो कुछ विरोध हुआ पर जब चार ताओ पंडितों को प्राणदण्ड दे दिया गया तब उनके अनुयायियों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और तब से 'ची' राज्य से ताओवाद विलुप्त हो गया।

574 ई० में उत्तरी चाऊ राजकुल के सम्राट् ने ताओवाद और बौद्ध धर्म दोनों को गैरकानूनी घोषित कर दिया। प्रव्रजियों और पुरोहितों को गृहस्थ बनना पड़ा और दोनों के ग्रन्थ जला दिए गए और मूर्तियां तोड़ डाली गईं। अगले शासन में स्थिति फिर यथापूर्व कर दी गई और दोनों धर्मों के मन्दिर-विहार पूर्ववत चालू हो गए।

अब तक हमने भारत और चीन के बीच धार्मिक संबंध की चर्चा की है और दोनों देशों के बौद्धों के परस्पर विनिमय तथा दोनों देशों को जाने-आने की बात लिखी है जिससे प्रचार के आधारभूत आंकड़े तो तैयार हो गए पर चीन में बौद्ध धर्म के प्रवेश, प्रचार और प्रसार का धारावाहिक इतिहास प्रस्तुत नहीं किया जा सका। वह अब अगले पृष्ठों में किया जा रहा है।

पहले लिखा जा चुका है कि हान राजा मिंग ती के शासन काल में 65 ई० में महायान बौद्ध धर्म का चीन में प्रवेश हुआ। हीनयान का ज्ञान चीनियों को कुछ अंश तक निःसन्देह था पर उस देश में उसकी विशेष प्रगति नहीं हुई और दसवीं सदी तक तो जो कुछ प्रगति उसने की भी थी उसका सर्वथा लोप हो गया। सम्राट् हान मिंग ती द्वारा भेजे दूत भारत से कुछ संस्कृत ग्रंथ और मूर्तियां चीन ले आए। लो यांग में दो भारतीय भिक्षुओं कश्यप-मातंग और धर्मारण्य ने पहली बार चीनी में उनके अनुवाद किए। जहां श्वेताश्व विहार में यह कार्य संपन्न हुआ था, वह पाइ मा स्सू नाम से आज भी खड़ा है।

बौद्ध धर्म का कुछ ज्ञान तो चीनियों को मध्य एशिया के बौद्ध केन्द्रों से पहले भी हो चुका था; यह भी संभव है कि सद्धर्म के प्रचारार्थ पहले भिक्षु भारत से न आकर इन केन्द्रों से ही चीन गए। फिर भी इस नये धर्म की पहुंच हान दरबारों तक ही कुछ काल सीमित रही, जनता को न छू सकी। उस समय विशेषकर शिक्षित समाज में कनफ्यूशस् के उपदेशों का साका चलता था। अनुवाद-कार्य में भी पहले चीनियों ने भाग नहीं लिया (सूची में केवल एक चीनी अनुवादक का नाम उस काल मिलता है) वह कार्य केवल विदेशी, भारतीय, मध्यएशियाई, तुरानी, पूर्वी ईरानी (पार्थव), कुषाण भिक्षु करते रहे। इस धर्म का विरोध शिक्षित समाज में, जो कनफ्यूशस् के सिद्धान्तों को मानते थे, प्रबल था।

हान साम्राज्य के पतन और बर्बर जातियों के आक्रमणों ने चीन के द्वार बौद्ध धर्म के लिए खोल दिए। इधर तो अनेक चीनी भी बौद्ध पंडितों के अनुवाद-

कार्य में हाथ बंटाने लगे, उधर उत्तर के तातार राजकुलों ने नये धर्म को अपनी छत्र-छाया प्रदान कर दी। चौथी और पांचवीं सदियों में उत्तरी चीन में बौद्ध धर्म का विशद प्रसार हुआ। वस्तुत: तुंग और हूण राजकुल तो पिछले योगों में केवल बौद्ध धर्म की संरक्षा और प्रसार में योग देने के प्रसंग में ही स्मरणीय रहे। इस काल अनुवाद-कार्य अभूतपूर्व मात्रा में हुआ। उन्हीं दिनों 401-412 में प्रसिद्ध कुमारजीव ने वहां प्रचार कार्य किया।

बौद्ध धर्म फिर भी अवरोध-विरोध और संरक्षा के बीच चुपचाप प्रगति कर चलता रहा। उसके चढ़ाव-उतार उत्तर-दक्षिण में प्राय: समभाव से होते रहे। धीरे-धीरे उस धर्म ने अपना कठिन काल भी धैर्य के साथ काट लिया। और 405 ई० तक यह स्थिति हो गई कि इतिहासकार स्वीकार करते हैं, उत्तरी साम्राज्य में प्रत्येक दस चीनी परिवारों में से नौ परिवारों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। और बचे एक परिवार में भी साधारण जनता न थी, या तो कनफ्यूशस्-लाओ त्जू के मानने वाले अभिजात थे या उन धर्मों के पंडित या साधारण शिक्षित वर्ग के लोग। साधारण समूची जनता बौद्ध हो गई थी। चाहे उसे बौद्ध धर्म के सिद्धांतों और दर्शन का यथोचित ज्ञान न था, उनमें उसकी रुचि न थी, पर उस धर्म में उसे रूखे अनाकर्षक जीवन से परे के जीवन, परलोक में सुख का आश्वासन था। सभी चीनी इतिहासकार इसे स्वीकार करते हैं कि सौ वर्ष बाद 500 ई० तक उत्तर और दक्षिण का समूचा चीन बौद्ध हो चुका था।

संस्कृत ग्रंथों का चीनी में अनुवाद-कार्य चलता रहा, भिक्षुओं और उपासकों, भारतीयों और चीनियों दोनों के द्वारा आरंभ में अनुवाद साधारण थे; अस्पष्ट, अनेक बार अशुद्ध भी, पर जैसे-जैसे संस्कृति का ज्ञान बढ़ा, अनुवादों की सच्चाई बढ़ती गई। फिर तो इतने से ही सन्तोष न हुआ, शुद्ध पाठों और अनजाने ग्रंथों की खोज में चीनी भिक्षु भारत जा पहुंचे—फाह्यान, हुएन्त्सांग, ईत्सिंग, जिनमें से अन्तिम दो तो संस्कृत और दर्शन दोनों के पंडित थे।

दक्षिणी सम्राट् प्रसिद्ध लियांग वू ती का उल्लेख किया जा चुका है जिसने तीन बार सद्धर्म में दीक्षा ली। उसी की संरक्षा में 517 ई० में 'त्रिपिटक' का पहला संस्करण सम्पन्न हुआ। वह 86 वर्ष की दीर्घायु में मरा जब उसके साम्राज्य पर एक साहसीक का अधिकार हो गया था। उत्तर के वेई राजा ह्सियाओ वू ने 533 में त्रिपिटक का दूसरा संस्करण तैयार कराया। उसकी रानी सम्राज्ञी हू (वू) का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है जो अत्यन्त श्रद्धावती बौद्ध थी और जिसने अनेक विहार और मन्दिर बनवाए थे।

जैसे-जैसे संस्कृत का प्रचार बढ़ा वैसे ही वैसे भारतीय बौद्ध धर्म के विविध संप्रदायों की जानकारी भी चीन में बढ़ी और उनके विविध वर्ग वहां भी बन गए। इनमें से एक 'ध्यान' था जिसे चीन में 'चियान' कहते हैं और जो जापान में

प्रचारित होकर वहां 'ज़ेन' कहलाया। इसका प्रवर्तन 516 और 534 के बीच लो यांग के विहार में भारतीय भिक्षु बोधिधर्म ने किया जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसके सम्बन्ध में अनेक चमत्कारों का उल्लेख किया जाता है जिनमें से एक चीन की विभिन्न लोककथाओं का प्रिय विषय बन गया है, कि बोधिधर्म ने यांग्त्सी नदी को नरकुल पर पार कर लिया था। ध्यान संप्रदाय ध्यान पर ज़ोर देता था जिसके साधन से मनुष्य इसी जन्म में बोधि प्राप्त कर सकता था, उसे अनेक जन्म अथवा अवतार लेने की आवश्यकता न थी। कालान्तर में ध्यान-सिद्धान्त ताओ-सिद्धान्तों द्वारा भी प्रभावित हुए जैसे ताओवाद स्वयं बौद्ध अनुष्ठान से समृद्ध हो गया था। दोनों की भौगोलिक-सामाजिक निकटता और परस्पर विरोध का यह परिणाम होना था।

563 में परमार्थ ने हीनयान का चीन में प्रचार किया। यह भारत का प्रसिद्ध सर्वास्तिवादी संप्रदाय था जो चीन में 'चिउ शे त्सुंग' कहलाया। यह बुद्ध के वास्तविक उपदेशों के सर्वाधिक निकट और शुद्ध बौद्ध माना जाता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, दसवीं सदी तक इसका लोप हो चुका था कारण कि साधारण जनता के आकृष्ट करने के लिए इसमें विशेष कुछ न था। और 'अमिदा' (अमिताभ ?) बुद्ध के पूजन के प्रचार ने इसपर गहरा कुठाराघात किया और चीनी बौद्ध धर्म की शक्ल सर्वथा बदल दी।

इस युग में चिह काइ नाम के एक चीनी भिक्षु ने निंग पो के निकट के विहार तियेन ताई में (चेकियांग प्रान्त में) एक शुद्ध चीनी बौद्ध संप्रदाय का आरंभ किया जो चीन में 'तियेन ताइ' और पीछे जापान में 'तन्दाइ' कहलाया। इसका मूल सिद्धान्त चीनी था। इसने विशेषतः इस विचार का प्रचार किया कि प्रत्येक व्यक्ति में बुद्धत्व प्राप्त करने की शक्ति है। यह समन्वयवादी धर्म था। इसीसे यह विशेष लोकप्रिय हो गया। और कनफ्यूशस्वादियों तक को ग्राह्य हो गया। चौदहवीं सदी में इसका अन्त अमिदावाद ने कर दिया।

पुराकाल के पारम्परिक बौद्ध धर्म को 'अमिदा' संप्रदाय ने अपदस्थ कर स्वयं उसका स्थान ले लिया। इसका प्रचार तब होने लगा जब कुमारजीव ने 'सुखवती-व्यूह' (अमिदावादी सिद्धान्त) का चीनी अनुवाद प्रस्तुत कर दिया। इसका विश्वास अमिताभ बुद्ध में था। इस बुद्ध की उत्पत्ति सुखवती-स्वर्ग में कमल से मानी जाती है जिसे चीनी 'ह्सी तियेन' (पश्चिमी स्वर्ग) कहते हैं। गौतम द्वारा उपदिष्ट त्याग और ध्यान से यह ऊपर उठ गया, कारण कि नरक की यातनाओं और जन्मों की शृंखला के दुःख से बचने के लिए अमिताभ के नाम का जाप पर्याप्त था। इसका प्रयोजन निर्वाण की प्राप्ति न था बल्कि सारी पार्थिव क्रियाओं-कर्मों को निःशेष मनुष्य जाति के प्रति सहानुभूति द्वारा स्वयं बुद्ध हो जाना था। कुआन शिह यिन अथवा कुआन यिन पहले बोधिसत्व अवलोकितेश्वर का बोध होता था,

अब इस नये संप्रदाय में उससे देवी का बोध होने लगा जो करुणावश समस्त जगत् का क्रन्दन सुनती है। कथा कही जाती है कि वह पहले बोधिसत्व थी और बुद्धत्व प्राप्त ही करने वाली थी कि उसने प्राणियों के रुदन की आवाज़ सुनी और बुद्धत्व से विरत हो संसार की ओर लौट पड़ी और उसने प्रतिज्ञा की कि जब तक एक प्राणी भी अनिर्वण्ण रह जाएगा वह स्वयं निर्वाण में प्रवेश न करेगी, बुद्धत्व प्राप्त न करेगी।

कुआन यिन के अतिरिक्त इस संप्रदाय में तीन और बोधिसत्व माने और पूजे जाते थे—ती त्सांग (क्षितिगर्भ), वेन शू (मंजुश्री) और पू हि्सयेन। ती त्सांग कुआन देवी का पुरुष रूप है जो उसकी भांति बुद्धत्व प्राप्त करने से विरत हो क्रन्दनशील मानवों का दुःख-दर्द बांटने लौट पड़ा था। शेष दोनों बुद्धत्व से फिर गए थे। वेन शू ज़ेचुआन के ओमेई पर्वत से संबंध हैं और पू हि्सयेन शंसी के वू ताइ शान पर्वत से। मैत्रेय (मी लो फो) (है सता बुद्ध) वस्तुतः बुद्ध अथवा बोधिसत्व नहीं बल्कि भविष्य का बुद्ध है जिसे अन्तिम बोधिसत्व के रूप में धरा पर अवतरित होना और गौतम की ही भांति उसी जीवन में सम्यक संबोधि प्राप्त करना है।

589 ई० में राजकुल ने उत्तरी और दक्षिणी चीन को संयुक्त कर दिया जिसको तांग राजकुल ने और भी शक्तिमान बना दिया। तांग राजकुल के 618 में आरम्भ से बौद्ध धर्म को विशेष समर्थन मिला। उस काल राजकुल की सहायता से वह चीन का राष्ट्रीय धर्म बन गया। सुई सम्राटों ने बीस साल के भीतर ही त्रिपिटकों के तीन नये संस्करण किए। तांग राजकुल के शासन काल के आरम्भ से जिस प्रयोजन के लिए हुएन्त्सांग ने भारत की यात्रा की, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। हर्ष और तांग काल का महान् सम्राट् तांग ताई त्सुंग समकालीन थे और साथ ही दोनों बौद्ध भी थे। हुएन्त्सांग ने 'मध्यायन' सिद्धान्त का प्रचार किया। तू शुन नामक चीनी भिक्षु ने 'हुआयेन त्सुंग' सिद्धान्त को आरम्भ किया। वह 86 साल की उम्र में 640 में मरा। उसका दावा था कि उसका सिद्धान्त समूचे बौद्ध धर्म का प्रतिनिधान करता है। उसने महायान विश्वास के भूत और भविष्य के सभी बुद्धों को स्वीकार किया। उसने सारे विरोधी तत्वों को मूल का पल्लवन मान संयुक्त और समन्वित किया। उस काल चीन में अनेक दर्शन विचारे और व्यवहार में लाए गए जिनमें से अनेक अधिकतर चीनी मूल से ही उठे थे। इन्हीं में ताओ ह्यु आन (पृ० 667) द्वारा प्रचलित 'लू त्सुंग' था जिसके विचार प्राचीन बौद्ध दृष्टि पर आधारित थे। इसमें बुद्ध के उपदेशों के विपरीत मान कर दार्शनिक व्याख्याओं की सक्रिय उपेक्षा की गई। प्रवर्तक आचार्य और उसके शिष्यों ने दया और प्रेम को प्रधान करणीय माना। उसमें हृदय की पवित्रता और आचरण की पावनता तथा दान और दया

की महत्ता प्रधान थी। इस विचार की कनफ्यूशस् के आचार-धर्म से समानता इसकी सफलता का विशेष कारण थी। इसने अभीदा संप्रदाय का दीर्घकाल तक विरोध किया और हाल तक चीन में यह जीवित रहा।

प्राचीन बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का चीन में प्रचार करने वाले दो भारतीय आचार्यों, वज्रबोधि (619-32) और उसके शिष्य अमोघ (मृ० 774), का उल्लेख पहले किया जा चुका है। दोनों ही जन्म से ब्राह्मण थे जो बौद्ध होकर प्रव्रजित हो गए थे। इनके द्वारा प्रचारित विचारों ने तन्त्रवाद (मन्त्रप्रधान) को मुखर किया। इसने गौतम, अमिताभ और वैरोचन तीनों को एक ही बुद्ध माना। इसमें शिव, वजपति (पार्वती) और अनेक अन्य हिन्दू देवताओं और दैत्यों के भी पूजन का विधान है। तान्त्रिक होने के कारण इसमें शक्ति का प्राधान्य होना स्वाभाविक था। परन्तु तांग-वंश के शासन काल में यह भारतीय बौद्ध धर्म अनेक स्थानीय (चीनी) विचारों से प्रभावित मूल से परिवर्तित हो गया और यही उसकी चीन में सफलता और दीर्घजीवन का रहस्य था। जब बौद्ध धर्म का चीन में प्रवेश हुआ तब वह विदेशी (और बर्बर भी) था, पर अब वही स्वदेशी (और सुसंस्कृत तथा शालीन) हो गया था।

धर्म संबंध के विवरण की शृंखला की अगली कड़ियों को यहां प्रकट करने से पूर्व भारत और चीन के बीच के राजनीतिक सम्बन्ध (विशेषकर तांग नृपतियों के संदर्भ में) का संक्षिप्त विवरण दे देना यहां आवश्यक जान पड़ता है। हर्ष द्वारा 641 में चीन भेजे दूत मंडलों के अतिरिक्त उससे पूर्व के भारतीय राजाओं द्वारा भेजे दूतों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। तांग शासन-काल में पहला चीनी दूतमंडल भारत लियांग-होआइ-किंग के नेतृत्व में, दूसरा ली-य-पियाओ और वांग-हुएन्त्से के नेतृत्व से 643 में, और तीसरा लांग-हुएन्त्स के नेतृत्व में तीन साल बाद 646 में पहुंचा। उसी के नेतृत्व में फिर एक दूतमंडल ग्यारह साल बाद 657 में भारत आया। ब्राह्मण-तांत्रिक चीनी सम्राट् के आग्रह पर भारतीय राजा द्वारा भेजा गया। उससे आशा की गई थी कि यह सम्राट् की आयु बढ़ा देगा, पर असफल होने पर वह वापस भारत भेज दिया गया। लांग-हुएन्त्से चौथी बार भारत आया और उसने सम्राट् द्वारा भेजे चढ़ावे और उपहार विविध बौद्ध मंदिरों और विहारों को प्रदान किए। 731 में मध्य भारत के राजा यशोवर्मन् ने पु-त-सिन् (बुद्धसेन) को चीन भेजा और 736 में कश्मीर के ललितादित्य ने चीनी सम्राट् के पास अपने दूत भेजे। इनके अतिरिक्त इस युग में धर्मेतर शुद्ध राजनीतिक दौत्यों का भी आदान-प्रदान भारत और चीन के बीच हुआ।

चीनी साहित्य में उल्लेख मिलता है कि 717 ई० में चीनी सम्राट् ने 'पु-लु' (बोलोर) के राजा को 'शुभश्री' विरुद देकर सम्मानित किया। दो वर्ष बाद उस

भारतीय राजा ने इस कार्य के लिए कृतज्ञता ज्ञापन के लिए अपने दूत भेजे। 720 में वही विरुद एक अन्य भारतीय राजा को दिया गया, फिर 731 में तीसरे राजा को। इस तीसरे राजा ने भी अपने दूत दो साल बाद भेजकर उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित की। यह विरुद चीनी सम्राट् ने अनेक भारतीय राजाओं को दी जिन्होंने उत्तर में उसके पास अपनी प्रसन्नता प्रकट करने के लिए अपने दूत भेजे। यह क्रम 717 से 745 तक बराबर चलता रहा।

चीनी इतिहास से पता चलता है कि चीनी सम्राटों और उत्तर भारत के राजाओं में दौत्य सम्बन्ध विशेष घना हो गया था। कपिशा (काफिरिस्तान), उड्डीयान (उद्यान, दक्षिण-पूर्वी अफगानिस्तान), गंधार (सिन्धुनद के पश्चिम पूर्व का देश), कश्मीर और मगध के राजाओं को चीनी सम्राट अपने दूत भेजते और उनसे आने वाले दूतमंडलों को अपनी कृपा देते रहे। इन दौत्यों का विवरण सविस्तार चीनी पुस्तकों में लिखा मिलता है। ललितादित्य मुक्तापीड ने चीनी सम्राट् से सहायता मांगी थी और 787 में तिब्बती आक्रमण (चीन पर) के प्रसंग में भारतीय राजाओं और चीन के बीच सैन्य संघ भी स्थापित हुआ था, इसके प्रमाण मिलते हैं।

720 में चीनी सम्राट् ने कपिशा और उड्डीयान के राजाओं को विरुद देकर सम्मानित किया और गंधार के राजा ने अनेक उपहारों के साथ 758 में अपने दूत भेजे। कपिशा के राजा ने 710 और 750 में चीन को अपने राजदूत भेजे। 619 और 750 के बीच किपिन (कपिशा और कश्मीर) और चीन के बीच छः बार दूताचार के उल्लेख मिलते हैं। 692 में मध्य भारत के एक राजा ति-पो-सी-ना (देवसेन) ने चीनी सम्राट् को अपनी शुभकामनाएं भेजीं। फिर 741 में अपने पुत्र को उसके पास श्रद्धा निवेदन के लिए भेजा। चीनी सम्राट् ने उस राजपुत्र को एक चीनी नाम 'ली चेंग-ङ्गान' प्रदान कर सम्मानित किया।

पूर्वी भारत (मगध-बंगाल) और पश्चिमी भारत (लाट्, गुजरात) और दक्षिणी भारत के राजाओं द्वारा चीनी सम्राट के प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिए दूत भेजने के उल्लेख मिलते हैं। उनके अनुसार इस प्रसंग के दूत पूर्व भारत के राजा मो-लो-प-मो (भारतीय नाम अनिश्चित) ने 692 में और सदी के अन्त में पश्चिम भारत के श-लो-यि-तो (वलयी का शीलादित्य तृतीय) ने भेजे। 692 में ही उत्तरी भारत के राजा न-न, मध्य भारत के राजा ति-मो-सी-न और दक्षिण भारत के चे-लु-कि-प-लो (चालुक्य वल्लभ) ने चीनी सम्राट् को अपने दूत भेजे। चालुक्यराज विनयादित्य उस काल राज कर रहा था। कांची के नरसिंह पोतवर्मन पल्लव के चीनी सम्राट् के साथ दूताचार का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसने 717 और 720 में अपने दूत चीन भेजे और चीनी

सम्राट् ने 720 में उनके उत्तर में अपने दूत पल्लव दरबार में भेजे।[1]

दसवीं सदी के आरम्भ 907 में तांग राजकुल का अन्त हो गया और उसके साथ ही चीन के सबसे शालीन बौद्ध काल का भी अन्त हो गया। बल्कि तुर्कों और अरबों के आठवीं सदी के अन्त के हमलों से मध्य एशिया से बौद्ध धर्म का अन्त हो गया। आक्रमण उनसे पहले तो तुर्कों के भी हुए थे पर अधिकांश तुर्क बहुत काल तक स्वयं बौद्ध रहे थे—उनका प्रसिद्ध नगर समरकन्द तो दीर्घकाल तक बौद्ध अध्ययन का केन्द्र रहा था—पर अरबों के आक्रमणों से वे स्वयं आक्रान्त होकर जब मुसलमान हो गए तब वहां बौद्ध धर्म का कोई नाम लेवा नहीं रह गया। उसका प्रभाव चीन पर भी पड़ा क्योंकि अब चीन और भारत के बीच का मध्य एशिया की राह यातातात कम से कम एकाध सदी के लिए बन्द हो गया। सोंग राजकुल (960-1279) ने ज़रूर फिर एक बार चीन और भारत के धार्मिक और राजनीतिक सम्बन्ध को पुनर्जीवित किया और दसवीं-ग्यारहवीं सदी में फिर दोनों के बीच सक्रिय सम्बन्ध स्थापित हो गया। वैसे इस कठिन काल में भी जब स्थल का मार्ग संकटापन्न था, जल का मार्ग खुला था और जावा-सुमात्रा की राह तब अधिक चालू हो गई थी। वैसे स्थल से भी एक राह दक्षिणी चीन से बर्मा होकर भारत जाती थी जो अत्यन्त प्राचीन राह थी। इसी राह से जाकर चीनी जातियां कभी बर्मा, मलय, स्याम आदि में बसी थीं।

भारत पर भी इस्लाम का आक्रमण अभी पंजाब, सिन्ध, गुजरात-काठियावाड़ और उत्तर प्रदेश तक ही सीमित था। इसलिए बारहवीं सदी के प्रायः अन्त तक नालन्दा का विश्वविद्यालय अपने ज्ञानोदधि को उलीच रहा था। 972 में 44 भारतीय भिक्षु चीन गए और अगले ही वर्ष आचार्य धर्मदेव चीन पहुंचा जिसका चीनी सम्राट् ने असाधारण स्वागत किया। धर्मदेव 1001 ई० में चीन में ही मरा। उसके द्वारा अनूदित ग्रंथों की संख्या पर्याप्त थी। 970 और 1036 के बीच पश्चिमी भारत से भी अनेक भारतीय भिक्षु चीन गए। इनमें मंजुश्री नाम का एक राजकुमार भी था।

इसी प्रकार चीन से भारत आने वाले भिक्षुओं की संख्या इस बीच कुछ कम न थी। चीनी ऐतिहासिक साहित्य से प्रमाणित है कि केवल 964 के साल में 300 चीनी भिक्षु भारत आए और प्रायः बारह साल तक यहां फिरते और अध्ययन करते रहे। ग्रंथों के अनुवाद तो चीनी में अब तक अपरिमित संख्या में हो चुके थे। इससे इन यात्रियों की भारत के लिए यात्रा अब इतनी ग्रंथों की खोज और संग्रह की इच्छा से नहीं होती थी जितनी बौद्ध धर्म के तीर्थों के दर्शन के लिए होती थी। चीनी सम्राट् के अनुरोध के परिणाम स्वरूप 157 भिक्षु 966 में

1. दि क्लासिकल एज, पृ० 623

केवल इसी प्रयोजन से भारत आए। इन्हें चीनी सम्राट् की ओर से मध्य एशिया के राजाओं के नाम इनकी सुरक्षा के लिए पत्र दे दिए गए थे। बोधगया में इनके द्वारा खुदवाए अनेक अभिलेख आज भी सुरक्षित हैं। इसमें से प्राय: अन्तिम 1033 का अभिलेख बड़े महत्त्व का है, कारण कि उसमें लिखा है कि सम्राट् और साम्राज्ञी (राजमाता) ने अत्यंत श्रद्धापूर्वक भिक्षु हुआइ-वेन को मगध देश जाकर सम्राट् ताइ-त्सोंग के नाम पर वज्रासन के पास ही एक स्तूप बनवाने का काम सौंपा। वह स्तूप आज भी वहां खड़ा है। चीनी यात्रियों के वहां जाकर स्तूप बनवाने की चलन चल पड़ी थी। ऐतिहासिक उल्लेखों से पता चलता है कि 1021 की गणना के अनुसार चीन में भिक्षुओं की संख्या 3,97,615 और भिक्षुणियों की 61,240, 1034 में भिक्षुओं की 3,85,520 और भिक्षुणियों की 48,740 और 1068 में भिक्षुओं की 2,20,660 और भिक्षुणियों की 34,030 संख्या थी। इसी बीच 1015 में चोलेन नृपति का एक दूतमंडल 247 दिनों की जलयात्रा के बाद चीनी दरबार पहुंचा और उसने मनों मोती, 60 गजदन्त और सेरों सुगन्धित द्रव्य सम्राट् को भेंट किए। 1033 और 1077 में भी चोल राज ने अपने दूत भेजे। 1036 तक यह यातायात प्राय: बन्द हो गया।[1]

इस बीच भारतीय ग्रंथों की अनूदित संख्या लगभग 5400 बताई जाती है। इन्हीं के विवरण के लिए चीनियों ने मुद्रण यंत्र का आविष्कार किया और 972 ई० से ब्लॉक प्रिंटिंग वहां शुरू हो गई। बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद के अतिरिक्त चीन में भारतीय ज्योतिष, गणित और चिकित्साशास्त्र का भी प्रवेश हुआ। इन विषयों के भी अनेक ग्रंथों का चीनी में अनुवाद हुआ। वहां गौतम, कश्यप और कुमार नाम के तीन सिद्धांत प्रचलित हुए और भारतीय नवग्रहों की व्यवस्था स्वीकार कर ली गई। 455 में ही चिकित्सा-सम्बन्धी कुछ ग्रंथों का अनुवाद शुरू हो गया था। स्वयं प्रसिद्ध चीनी यात्री चिकित्सा के ग्रंथों का विशेष अध्येता था और बालकों की चिकित्सा तो उस काल वहां सर्वथा भारतीय पद्धति से होने लगी थी। स्मरणीय है कि कुची के पास चौथी सदी का ब्राह्मी लिपि में लिखा प्रसिद्ध 'बावर हस्तलिपि' में बाल चिकित्सा का अंश संग्रहीत है।

1 दि क्लासिकल एज, पृ० 445

अध्याय-17

भारत और चीनी कला

चाऊ और हान युगों में चीनी कला पर विदेशों की कला का प्रभाव नहीं दिखता। अगर प्रभाव पड़ा भी तो वह स्पष्ट लक्षित नहीं है। स्थानीय अभिप्राय (मोटिफ) या बाहरी प्रभाव से कुछ अंश में संयुक्त ही अधिकतर उपलब्ध हैं। जहां कहीं विदेशी प्रभाव है भी वहां वह स्थानीय के रूप के भार से दब गया है, गौण बन गया है, कारण कि वह स्वयं चीनी परम्पराओं से परिवर्तित हो गया है। हान युग के अन्त में जो बौद्ध धर्म का चीन में प्रादुर्भाव हुआ तो चीन पर, उसकी परम्परा और जन विश्वास पर एक नये विदेशी (भारतीय) प्रभाव की गहरी छाया पड़ी। उसने न केवल चीनी जनता को एक नया धर्म दिया, नई संस्कृति को चेतना दी बल्कि एक महान् कला संबंधी परम्परा ने चीनी कला को अपनी चेतना से अभिभूत किया। अब तक मूर्तन चीन में नहीं होता था, जो होता भी था तो वह वहां के मकबरों तक ही सीमित था पर बौद्ध प्रेरणा का परिणाम हुआ कि मूर्ति काल को भी प्रतिष्ठा मिली और बड़े पैमाने पर मूर्तियां कोरी जाने लगीं।

बौद्ध कला चीन में चौथी-पांचवीं सदी में जब पहुंची तब तक स्वयं भारत में वह कला सदियों ही नहीं सहस्राब्दियों—सिन्धुघाटी की सभ्यता में—फल-फूल चुकी और उसकी बेलें मध्य एशिया में भी लगकर सदियों से पुष्पित हो रही थीं। वह सिकन्दर के आक्रमण और ग्रीकों के शासन के परिणामस्वरूप स्वयं भारतीय कला प्रभावित हुई थी और विशेषकर सिन्ध और झेलम नदियों के कांठे से अफगानिस्तान-बामियान अथवा गन्धार देश की समूची भूमि पर जो ग्रीक प्रभाव से वह कला मुखरित हुई उसका नाम ही 'गान्धार शैली' पड़ गया और उसका परिवेश गंधार से पूर्व की ओर फैलकर एक ओर मथुरा तक पहुंच गया और दूसरी ओर बानियान से यान्साक्सियाना और चीनी तुर्किस्तान की हिन्दू-बौद्ध बस्तियां तक। उस कला में ग्रीक कलावन्त अपने बौद्ध प्रभुओं के आदेश से जिन मूर्तियों को कोरने लगे उन्हें वे अपने ग्रीक अथवा भूमध्य सागरवर्ती देवताओं-दार्शनिकों के नाक-नक्श और वेश-भूषा प्रदान करने लगे। वे कोड़ प्रेरित और प्रतिभावान कलावन्त न थे, बस 'आर्डर' लेकर कुम्हार की तरह मूर्तन करने में एक सीमा तक पटु थे। संभव है उनमें से कुछ बौद्ध धर्म के अनुयायी भी रहे हों,

पर वस्तुतः वे साधारण प्रायः बाज़ारू कृती थे जो सदा और सर्वत्र पाए जाते हैं। वे वस्तुतः मूर्तिकला में नकलें अथवा ग्रीक परम्परा के अनुसार प्रतिमूर्तियां प्रस्तुत करने में दक्ष थे। उन्होंने उस परम्परा की वेशभूषा, नाक-नक्श, मुद्राएं आदि भारतीय धर्म की मूर्तियों में कोर दीं। स्रज (माला) वाहीवामन (कूपिद), लहरिया वस्त्र आदि बौद्ध धर्म अथवा भारतीय कला में सर्वथा अनजाने थे जिनका इन्होंने विन्यास किया। उसी दिशा से भारतीय अभिप्रायों में दो-दो पशुओं और पशुमानवों आदि का भी प्रादुर्भाव हुआ। इन्हीं प्रभावों से संयुक्त भारतीय-गान्धार कला ने चीनी कला को प्रभावित करना आरंभ किया।

यही गान्धार कला भारत के पश्चिमोत्तर मूल प्रदेशों से चल पहले मध्य एशिया के नगरों में कुछ काल विरमी फिर उनके आधार से उठकर चीन पहुंची और कालान्तर में चीन से जापान। गान्धार शैली का ग्रीक आवरण, जैसे-जैसे वह कला पूर्व की ओर बढ़ती गई, भीना होता गया और उसमें प्रधान लक्षण भारतीय मूल के रूप में मुखर होते गए। वही कला जब चीन पहुंची तब उसको प्रायः सर्वथा नया रूप (शैली की दृष्टि से) मिला जो प्रधानतः चीनी था, विशेषकर इस कारण कि चीनी कलावन्त न तो गान्धार या मथुरा की मूल कृतियों से परिचित थे और न भूमध्यसागरवर्ती 'क्लासिकल आर्ट' से ही। पर जब नई प्रवृत्तियों का चीन में आगमन हुआ—कारण कि मध्य एशियाई बस्तियां ग्रीक, रोमन, पार्थव, भारतीय सभी प्रेरणाओं और संस्कृतियों का संगम थीं तब अपने रोमन माध्यमों द्वारा ग्रीक क्लासिकल कला ने भी चीनी कृतिकारों को प्रभावित किया और तांग तथा छः राजकुलों के युगों के मिट्टी के पात्रों पर वह प्रभाव विशेष लक्षित हुआ। पर ग्रीक-रोमन शैलियां प्रेरणा की भूमि के अभाव में चीनी हृदय को बिना बेधे ही विलुप्त हो गई। चीनी हृदय को बेधा भारतीय धर्मसंज्ञा और जनविश्वास ने, जिसने भारतीय कला की जड़ों को अंकुरित करने के लिए वहां पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत कर दी। यदि भारतीय बौद्ध धर्म की बेलें वहां लग सकती थीं तो भला उसकी कला वहां अंकुरित और पल्लवित क्यों न होती, विशेषकर जब महायान संप्रदाय का विश्वास बुद्ध और बोधिसत्त्वों में केन्द्रित था। जैसे भारत में धर्म के प्रचार और उसके गहन और गरिम अन्तर को, सूक्ष्म सिद्धान्त को भेदने अथवा समझने के लिए कला के प्रतीकों का सफल उपयोग किया गया था वैसे ही चीन में भी धर्म के साथ कला के प्रतीकों का नित्य संबंध हो गया। महायान की संभावना मूर्तियों के अभाव में सोची ही नहीं जा सकती थी। धार्मिक कला का वह बौद्ध-भारतीय प्रभाव चीन के चित्रणों और मूर्तनों पर पड़ा यद्यपि उनमें चीनी चेतना का अभाव न था। एक ओर कनफ्यूशस् संबंधी, दूसरी ओर तांग विचार संपदा स्वयं नये धर्म के प्रतीकों और आकलन को गहरे प्रभावित कर चली। भारतीय कला का पहला और सत्वर और सीधा प्रभाव

मूर्तनों पर पड़ा और धीरे-धीरे जब उससे प्रभावित चित्रणों का आलेखन मन्दिरों, विहारों की भित्तियों पर होने लगा तब तक अनेक स्थानों में बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा था । इसको अक्सर नज़र अन्दाज़ कर दिया जाता है जो भारतीय चीनी चित्रण के अध्ययन में अहं बात है । जैसे-जैसे इस दिशा में उपलब्ध सामग्री का अध्ययन बढ़ता जा रहा है वैसे ही वैसे यह स्थिति प्रमाणित और स्पष्ट होती जा रही है ।

चूंकि चीन में बौद्ध धर्म से पहले मूर्तिकला का साधारणतः अभाव था, उसी पर नये धर्म का आमूल और विस्तृत तथा गहरा प्रभाव उसके विदेशी रूप को विशेष प्रकट करने लगा । अब जो चीन में मूर्तियां बनने लगीं उनका एकमात्र उद्देश्य नये और विदेशी बौद्ध धर्म की सेवा था, कला का आकलन नहीं । और जब अन्य स्रोतों से प्रेरित मूर्तन—पशुओं और मानवों के इमारतों (मकबरों) के संयोग में होने भी लगे, तब उनका मूर्तन सर्वथा रूप प्रधान, विशाल और शैलीरूढ़ था । इसमें अपवाद प्रायः है ही नहीं । साम्राज्य के प्रासादों के द्वारों के अलंकरणों में यह स्पष्ट देखा जा सकता है । मज़े की बात तो यह है कि जहां बौद्ध-प्रवेश-पूर्व की मूर्तिकला, जो थोड़ी थी भी, ग्रीक प्रभाव से सर्वथा मुक्त थी और बौद्ध कला इसके विपरीत उससे भरपूर संयुक्त थी । वस्तुतः उसी के प्रवेश के साथ ग्रीक शैली का भी प्रवेश चीन में हुआ ।

बुद्ध मानवीय परिस्थितियों को लांघकर, स्वयं मूल में मानव होकर, देवत्व को प्राप्त हुए थे । वे देवता से मानवीकृत रूप में रूपायित नहीं हुए थे । उन्होंने समस्त मानवीय-पार्थिव बन्धनों को नष्ट कर दिया था और उनसे ऊपर अपनी देववृत्ति में कोरे गए थे। इस विधा में वे ग्रीक दृष्टि से सर्वथा भिन्न थे, कारण कि ग्रीकों के देवता देवत्व से भिन्न मानवीय आदर्शों के केन्द्र स्वयं वीर कर्मा मनुष्य थे जिससे स्वाभाविक ही ग्रीक कला विशिष्ट लक्षणों में मानव प्रधान थी । बौद्ध कलाविन्यास में बुद्ध मानवीय रूप और तृष्णाओं-वासनाओं से सर्वथा ऊपर, देवों से भी भिन्न, 'बुद्ध' थे ।

लुंग मेन के मूर्तिकारों-कलावन्तों ने इस स्थिति को सर्वथा समझ लिया था जिससे इस भावना से ही नये धर्म की प्रेरणा से प्रेरित उन्होंने मानवीयता से उन्मुक्त बुद्ध के अस्तित्व को मूर्त किया । यही प्रक्रिया उन कलावन्तों को भी प्रेरित कर रही थी जो चीन में अन्यत्र के विहारों में कला के रूप कोरने में संलग्न थे । उनके बुद्धों के अमानवीय होने के कारण उनमें मानवीय लक्षणों, अंगांगीय अथवा सावयवीय (ऑर्गेनिक) प्रतीकों का रूपायन नहीं होता । उनका बुद्ध इसी कारण कोई व्यक्ति नहीं, केवल सार्वभौम, देशकाल से मुक्त, कामनाओं के बन्धन से रहित बुद्ध है। शान्त, एकाकी, नीरव वह ध्यान मुद्रा में बैठता है, चेहरा प्रज्ञा अथवा संबोधि के सन्तोष से सबको आवेष्टित कर लेने वाली

मुस्कान से मुखर है। आवेगों, भावावेशों से उसकी संबुद्ध काया आन्दोलित नहीं होती। उसमें चिरन्तन, उद्वेगहीन, अपार्थिव सत्ता विराजमान है; कर्म उसमें विलीन हो चुके हैं, वह निर्वाण में प्रविष्ट हो चुका है, सर्वथा निर्वाता।

परन्तु चीनी भावभूमि पर अवतरित होकर भारतीय कला की भावचेतना पर्याप्त मात्रा में परिवर्तित हो गई। केवल महाभिनिष्क्रमण और सर्वथा विरक्ति-प्रव्रज्या की स्थिति चीनी भावना को अभितृप्त न कर सकी। प्रव्रज्या का सांसारिकता से सहसा टूटकर पूर्णतः एक दूसरे से दूर हो जाना सर्वथा भारतीय जीवन का परिणाम था जो, बौद्ध धर्म के भारत में भी प्रादुर्भाव के पूर्व, ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास की क्रमशः परिवर्तित होती जाती प्रक्रिया में उपलब्ध थी। वह स्थिति चीनियों के लिए सम्मत न थी। उसकी प्रतिध्वनि, सच पूछिए तो, चीन में उठी ही नहीं, उसका प्रतिबिम्बन वहां हुआ ही नहीं। उन्होंने बौद्ध कला को अपनी निष्ठा, अपनी परंपरा में साधा। जब बौद्ध कला चीन में स्थापित हो चुकी और मूर्तनों का कार्य चीनी कलावंतों के हाथ में आ गया, भारतीय प्रव्रज्या की परम्परा को शुद्ध चीनी सौन्दर्य-बौद्ध का संयोग मिला। चीनी अभिरुचि और सुरुचि अपना प्रभाव नये मूर्तनों पर डालने लगी। बुद्ध और बोधिसत्व अधिक मानवीय, कम तपःशील, कम विरत और एकाकी मूर्त होने लगे। चीनी ऐसे देवताओं की मूर्तियों को कोरने से उदासीन थे जो मानवीय कामनाओं पर से चले गए हों। उनके देवता प्रशान्त और ध्यायुक्त तो होते थे पर उनके मानवीय और पार्थिव भावनाओं के ऊपर उठ जाने का आदर्श अपने सामने उन्होंने कभी नहीं रखा जिससे विराग और राग, प्रव्रज्या और सांसारिकता का एक हद तक समन्वय चीनी मूर्तिकारों की कृतियों में हो गया। यह नितान्त चीनी दृष्टि थी।

भारतीय-ग्रीक मानों से संयुक्त गान्धार कला अपनी आकलन परम्पराओं के साथ चीन पहुंची। चीनी कलाकारों ने इन परम्पराओं को विदेशी मान जान कर भी उनके मान की पृष्ठभूमि में अपने रूपायन किए और उन्हें अपनी निष्ठाओं और प्रेरणा द्वारा उच्चस्तरीय बना दिया यद्यपि अन्य स्थानीय विधाओं की तुलना में नई कला निम्नस्तरीय ही रह सकी। उदाहरण के लिए बौद्ध मूर्तियों की भावचेतना समकालीन चीनी भित्तिचित्रों अथवा अन्य आलेखनों और पोर्सलेन आदि वस्तुओं के निर्माण की तुलना में पर्याप्त कमज़ोर थी। वेई काल के बुद्ध अधिकतर मूर्तन भाव संज्ञा से विहीन ही रह गए पर तांग काल में निश्चय उनकी काया और भावसंज्ञा मानवीय हो गई। मानवीय अंगांगों में तब प्राण फूंके गए और सुरुचि विशेष रूप से बुद्ध और बोधिसत्वों की काया में समाई। पहले के अध्यात्म और तप के ऊपर उठी इन नई मूर्तियों की लक्षण-परिभाषा आकर्षक और पार्थिव हुई। एक महती कला का उदय हुआ। धीरे-धीरे इस विधा ने इतना

ज़ोर पकड़ा, इसमें पार्थिव कमनीयता और आकर्षण की अभिरुचि इस मात्रा में प्रतिष्ठित हुई कि सातवीं सदी के एक विख्यात और विद्वान् बौद्ध चीनी भिक्षु ने कहा कि इस काल की धार्मिक मूर्तियां तो नर्तकियां लगती हैं जिसका परिणाम यह हुआ कि राजप्रासाद की प्रत्येक महिला अपने को बोधिसत्व ही समझने लगी है।

बौद्ध मूर्तन अधिकतर उत्तरी चीन तक ही सीमित रह गया यद्यपि यांग्त्सी नदी के दक्षिण की भी कुछ मूर्तियां उपलब्ध हैं। नानकिंग के समीप ची हि्स्या शान में सुई काल की पर्वत काटकर बनाई कुछ मूर्तियां हैं, उभारी रेखाओं से निरूपति आकृतियों से युक्त एक संगमरमर का 'पगोदा' भी वहां है। इसी प्रकार चेकिंग में हांग चाऊ के समीप लिंग यिन स्सू में छः राजकुलों के काल में बना एक दूसरा पगोदा भी खड़ा है, पर निःसन्देह उत्तर की तुलना में ये मूर्तियां स्वल्प हैं। कहा जाता है कि यही दक्षिणी शैली समुद्र की राह कोरिया पहुंची जहां से जापान पहुंच वहां पल्लवित हुई। इसके विपरीत उत्तरी चीन में मूर्तियों का टोटा नहीं रहा। वहां की दरी गुहाओं में मूर्तियां शतशः बनीं और यद्यपि मूर्ति बेचने वालों और शासन की उदासीनता ने उन्हें काफी क्षति पहुंचाई है उनकी संख्या आज भी पर्याप्त है। ता तुंग फू नगर के पास ही शंसी प्रान्त के उत्तर में युन कांग का गुहामन्दिर है, वहां के गुहामन्दिरों में सबसे प्राचीन, जहां मूर्तियों की प्रधानता है।

इस मूर्ति संपदा में चीनी अभिप्रायों (मोटिफों) का अभाव, समसामयिक चीनी अभिलेखों का सर्वथा अभाव और इनके विपरीत भारतीय, ईरानी तथा ग्रीक लक्षणों की अधिकाधिक विद्यमानता इसे प्रमाणित कर देती है कि इन मूर्तियों को चीनी कलावन्तों ने नहीं विदेशी कलाकारों ने कोरा था। परन्तु ये विदेशी कलाकार निःसन्देह बौद्ध और मध्य एशियाई या चीनी तुर्किस्तानी थे जो खोतान, कुची आदि नगरों से चीन गए थे।

वेई सम्राट् तुंगुस जाति के विदेशी तोबा थे, जो चीनी नहीं थे। उन्होंने पहले ता तुंग फू राजधानी से राज किया पर पांचवीं सदी के अन्त में वे अपनी राजधानी लो यांग उठा ले गए। लो यांग पीली नदी की घाटी में पहले पुराने हान राजकुल की राजधानी थी। इस नई राजधानी के पास ही लुंग मेन में परम बौद्ध वेई सम्राटों ने युन कांग की ही नकल में गुहामन्दिर खुदवाना शुरू किया। निश्चय अब चीनी कलावन्तों का उपयोग हुआ। धीरे-धीरे लुंग मेन की मूर्तिकला ने वेई, सुई, और तांग सम्राटों के तत्वाधान में, सातवीं सदी के अन्त तक, इस विधा में चीनी कला की चरम सीमा छू ली। इस युग का सर्वोत्तम काल सुई राजकुल (580-617) का था, विशेषतः उस वंश के श्रद्धालु बौद्ध सम्राट् सुई वेन ती (580-604) का शासन काल। सुई काल में कोरे बुद्धों के मस्तक सर्वोत्तम

माने जाते हैं, बौद्ध प्रेरणा के निःसन्देह वे एकान्तिक उदाहरण हैं। वहां की विशाल बैठी बुद्ध मूर्तियां अपनी शालीनता और शक्ति में बेजोड़ हैं।

तांग युग में, विशेषतः साम्राज्ञी वू (650-700) के समय, सुरुचि के युग का आरंभ हुआ। मूर्तियों में तब मानवीयता का प्रादुर्भाव हुआ। अरूपता दूर हो गई, मात्र रेखाओं और परिधान से हटकर कलाकार ने इनमें मांसलता भरी। जिन चीनी यात्रियों ने भारत भ्रमण किया था वे भारत और मध्य एशिया से इसी मानवीय मांसलता की प्रेरणा लिए चीन लौटे थे और उन्होंने परिणामस्वरूप सर्वथा मावनीय अमिदा (अमिताभ) की भक्ति का प्रचार किया था, उसे चीन में लोकप्रिय बनाया था। जिस नारीतत्व की ओर बौद्ध भिक्षु ताओ ह्सुआन ने बोधिसत्वों की मूर्तियों के संदर्भ में संकेत किया था और जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है उसने मूर्तियों के निर्माण में एक नये तत्व का संनिधान किया जो सर्वथा धार्मिक भावभूमि से भिन्न अधिकत : सांसारिक था, सुन्दर और काम्य, दृष्टि धार्य और स्पृहणीय। इस सातवीं सदी से ही उस भाव बोध का आरंभ हो गया था जिसके परिणामस्वरूप वोधिसत्व अवलोकितेश्वर (चीनी कुआन यिन) की मूर्तियां उत्तरोत्तर नारीसंज्ञक कोरी जाने लगीं जिनकी परिणति शुंगकाल में हुई। कुआन यिग को चीनी में पुत्रदाता मानते हैं और उनकी मूर्ति अक्सर शिशु के लिए कोरी गई जो रूप में 'मदोना' मूर्तियों की तरह बनी यद्यपि कला में यह उनका शिशुसंज्ञक रूप बाद में निखरा। पर निःसन्देह इस भावना का विकास होने में कुछ काल लगा था और उसने बौद्ध धर्म की संसारविरत प्रव्रज्या को सांसारिक-पार्थव मानवीयता की ओर सरका दिया था।

साम्राज्ञी वू के बाद नये राजकुल के शासन में स्थिति बदली। और यद्यपि सम्राट् मिंग हुआंग स्वयं कलाकोविद और कलाकार था, उसके समय में ही लुंग मेन के चीनी कलावन्त मूर्तन को छोड़ कर चित्रण, काव्यकारिता और संगीत की ओर फिरे; उनका आकर्षण बौद्ध धर्म से अधिक ताओवाद के प्रति था। ईरानी हमलों ने अब तक के विपुल बौद्ध केन्द्र मध्य एशिया से उस धर्म को विनष्ट कर दिया जिससे वहां से प्रेरणा का स्रोत तो बन्द हो ही गया, उस स्थल मार्ग से जो भारत की ओर चीनी यात्रियों की यात्रा होती थी, संकाटापन्न हो जाने से भारत से सीधा संबंध भी विच्छिन्न हो गया। इसी बीच स्वयं चीन में नवीं सदी के मध्य विदेशी धर्मों का दमन आरंभ हुआ जिससे मनीषी (मनीखी) और नेस्तोरिय-ईसाई धर्म तो देश से सदा के लिए विदा ही हो गए, बौद्ध धर्म पर उसकी चोटें गहरी पड़ीं और यद्यपि उस धर्म का विनाश नहीं हुआ उसकी कला का पर्याप्त और शोचनीय ह्रास हुआ। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है भिक्षुओं को आदेश दे दिया गया कि वे गृहस्थ बन जाएं, और यद्यपि उनका वध बड़ी मात्रा में नहीं हुआ, उनके मन्दिर, मूर्तियां और विहार नष्ट कर दिए गए। निश्चय बौद्ध धर्म तो अपनी

शक्तिमत्ता के कारण फिर उठ खड़ा हुआ, फिर समुन्नत हुआ पर बौद्ध कला की रीढ़ टूट गई।

यह तो हुई भारतीय कला के चीन में तत्व विधान की बात, आगे हम भारतीय कला के वहां विस्तार का विवरण देंगे। सबसे पहला और महत्त्व का कला-पुंज तो तुन-हुआंग की गुहाओं में सन्निहित है जिनका विवरण अनेक विद्वानों ने मध्य एशिया की कला के संदर्भ में दिया है। चीन से इन गुहाओं के बाहर होने का भ्रम इस कारण हुआ है कि चीन जाने वाली मध्य एशियाई दोनों राहों का चीनी सरहद पर संगम यहीं होता था और उत्तर-पश्चिम से आने वाले यात्री इसी राह चीन में प्रवेश करते थे। ये गुहाएं, जिनकी संख्या 469 से 500 गिनी गई है, तुन-हुआंग में हैं। तुन-हुआंग उत्तर-पश्चिमी चीन के कान्स प्रांत में है जहां कभी हूणों का निवास था और जहां से आंधी की तरह उठकर वे एशिया और यूरोप पर छा गए थे और अनेक साम्राज्यों की रीढ़ उन्होंने तोड़ दी थी। कैसे वहां बसने वाली खूनी जातियों को भारतीय और मध्य एशियाई बौद्ध भिक्षुओं ने सर किया और उन्हें खड्ग छोड़ त्रिचीवर पहनने पर बाध्य किया वास्तव में यह एक अबूझ पहेली है। पर इसमें आश्चर्य नहीं कि उसी प्रान्त में चीन में सबसे अधिक संख्या में गुहाएं खोदी गईं फिर वे बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियों से भर दी गईं और उनकी दीवारों पर हज़ारों चित्र लिख दिए गए जिन पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट था। इनमें से अनेक गुहाएं दीवार उठाकर बन्द कर दी गई थीं। 1035 और 1907 में प्राय: 900 साल बाद जब सर आरेन स्टाइन ने ताओ-वादी पुरोहित से अत्यन्त अनुनय कर "सहस्र बुद्धों की गुहा" को खुलवाया तो वहां संग्रहीत ग्रंथ सामग्री को देख स्तब्ध रह गए। 1130 बंडलों में से प्रत्येक में बारह-बारह, पन्द्रह-पन्द्रह लंबे 'हस्तलिपि रोल' बंधे थे। समूची सामग्री कागज़ पर लिखे प्राय: 15,000 ग्रंथों का ग्रंथागार था। लिखावट उनकी इतनी साफ और ताज़ी थी जैसे तब रही होगी जब वह लिखी गई थीं। इसी संग्रह में संसार की पहली मुद्रित (छपी) पुस्तक 'हीरक-सूत्र' मिली जिसके अन्त में लिखा था—"अपने माता-पिता के प्रति एक एकान्तिक श्रद्धापूर्वक और उनकी स्मृति अमर करने के लिए वांग चिएह ने इसे 11 मई 868 ई० (चीनी तिथि) में सर्वसाधारण में निर्मूल्य वितरण के लिए मुद्रित किया।"[1]

भारतीय प्रभावित बौद्ध चीनी कला के तीन प्रधान केन्द्र थे तुन-हुआंग, और युन-कांग उत्तर में और लोयाग के पास लुंग-मेन दक्षिण में। पिछले दोनों केन्द्रों की कला का कुछ विवरण दिया जा चुका है। चीन की अराजकता से भागे हुए चीनी भिक्षुओं ने चौथी सदी में तुन-हुआंग की गुहाओं को अपने निवास के लिए

1. विल ड्यूरां, दि स्टोरी ऑफ सिविलाइज़ेशन, पृ० 728-29

खोदा। पर्वत की खड़ी चट्टान काटकर आवास बना लिए गए। तुन-हुआंग में पहले से भी कुछ विहार थे पर 366 में लो-त्सुन ने पहला गुहा-मन्दिर बनवाया। वहां की गुहाओं में एक का नाम 'सहस्र बुद्धों की गुहा' है जिससे अनुमान किया जाता है कि वहां 698 तक प्रायः हजार गुफाएं काट ली गई थीं। इन गुहाओं में भित्तिचित्र भरे पड़े हैं और मूर्तियां कोर दी गई हैं और अर्धचित्र जातक कथाओं को व्यक्त करते हुए उभार दिए गए हैं। चित्र हवा में नमी न होने के कारण आज भी भली प्रकार सुरक्षित हैं।

वैसे तो तुन हुआंग की कला पर भारतीय प्रभाव के अतिरिक्त ईरानी, तुरानी कलाओं का भी प्रभाव स्पष्ट है, वहां के चित्रों पर भारतीय प्रभाव गहरा पड़ा है। इन चित्रों में भारतीय मुद्राओं और यक्षादि प्रतीकों का उपयोग हुआ है। धीरे-धीरे बाद के चित्रों में भारतीय-चीनी दोनों शैलियों का संयुक्त उपयोग होने लगा था। कुछ रेशमी आधार पर वैश्रवण (कुबेर, उत्तर दिशा का लोक-पाल) का तांग योद्धा के रूप में चित्रण हुआ है जिसमें सुनहरे, रक्तिम, नीले और हरे रंगों का उपयोग हुआ है। वहां मैत्रेय और अवलोकितेश्वर का साथ-साथ निरूपण हुआ है।[1]

युन-कांग में 28 बड़ी गुफाएं हैं जिनमें सदियों कला का आकलन होता रहा था। वहां की कला के संबंध में आनंद कुमार स्वामी का कहना है कि वे सुदूर पूर्व के बौद्ध मूर्तन की परिणति (फूल) हैं।[2]

वहां की कुछ गुहाओं (7,8 और 10) में हिन्दू देवताओं की मूर्तियां भी, जैसे नन्दी पर आरूढ़ शिव और गरुड पर आरूढ़ विष्णु की, कोरी गई हैं।[3] तुंग मेन की प्रधान गुफाएं कु-यांग-तुंग और पिन-यान-तुंग हैं। इनमें से, पहले में प्रधानतः बुद्ध और मैत्रेय का रूपायन हुआ है, दूसरी में सम्राट् और सम्राज्ञी के पूजानिवत निरूपण हैं। इसमें सुदस्सन और महासत्व जातकों की कथाएं उभारी हुई हैं।[4] इन गुफाओं की मूर्ति संख्या, एक गणना के अनुसार, 1,42,289 है।[5] इनका निर्माण काल प्रायः पांचवीं सदी है।

छठी सदी में तियेह-लुंग-शान की मूर्ति संपदा वहां की गुहाओं में उतरी। उनकी तुलना पांचवीं-छठी सदियों की गुप्तकालीन मथुरा की मूर्तियों से की गई है।[6] संभवतः उन पर गुप्तकला का गहरा प्रभाव पड़ा है।

---

1. सिंघल, इण्डिया एण्ड०, पृ० 358-59
2. हिस्ट्री आफ इंडियन०, पृ० 152
3 सिंघल, वही, पृ० 359
4. वही, पृ० 360
5. वही
6. कुमारस्वामी, हिस्ट्री आफ इंडियन० पृ० 152

छः राजकुलों के शासनकाल में दक्षिणी चीन से कुछ कांस्य बौद्ध मूर्तियां प्राप्त हुई हैं जिनमें से प्राचीनतम लगभग 435 ई० की हैं। यह प्रायः शुद्ध भारतीय शैली में बनी हैं। सबसे प्राचीन पाषाण मूर्ति जो चीनी बौद्ध धर्म की मिली है वह 457 की है। वह प्रमाणतः मथुरा के कुषाण बुद्धों से प्रभावित है।[1]

चीनी चित्रण बौद्ध धर्म के प्रभाव और प्रचार काल में प्रभूत प्रभावित हुआ। प्रायः चौथी ई० में ही भारतीय प्रसंगों का उपयोग फू-काई-चिह अपने चित्रों में करने लगा था। वह चीनी चितेरों में से प्रायः प्राचीनतम था और असाधारण विश्रुत था। तांग युग में बौद्ध प्रेरणा से प्रेरित वेइ-चिह इ-सेंग, येन-ली-पेन और वू ताओ-त्ज़ू ने अत्यंत शालीन चित्र बनाए।[2] भारतीय प्रेरणा से उद्भृत चीन चित्रण में मूर्धन्य चित्र ध्यान-संप्रदाय की प्रेरणा से बने। यहां कू काइ-चिह के व्यक्तित्व के विषय में कुछ कथनीय है।

कू काइ-चिह की प्रतिभा और व्यक्तित्व इस कोटि के थे कि उनसे संबंधित अनेक कथाएं बन गई हैं। वह, कहते हैं, अपने पड़ोसी की लड़की को प्यार करता था पर उसने उस महान् चितेरे के प्रणय-प्रस्ताव को उपेक्षित कर दिया। उसे पता भी क्या था कि उसका प्रणयी बाद में इतना विश्वविश्रुत हो जाएगा। कू काइ-चिह ने तब अपनी प्रिया को एक दीवार पर निरूपित कर उसके हृदय में एक कांटा चुभा दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि वह मरणासन्न हो गई। फिर एक बार वह उसके पास अपने प्रणय का प्रस्ताव लिए पहुंचा। इस बार वह अनुकूल हो गई और तब चितेरे ने चित्र में चित्रित उसके हृदय से कांटा निकाल दिया जिससे तरुणी स्वस्थ हो गई। इस चित्रकार को बौद्ध कलाकारिता से प्रचुर योग मिला। जब बौद्धों ने नानकिंग में एक मन्दिर बनाना चाहा और उसके लिए चन्दा मांगने निकले तो कू ने नकद दस लाख देने का वादा किया। सारा चीन इस निर्धन चित्रकार की बात सुनकर हंस पड़ा। तब उस चितेरे ने कहा, मुझे एक दीवार दो, बस एक दीवार। उसे दीवार और एकान्त प्रदान कर दिए गए। उसने उस पर बौद्ध सन्त विमल की मूर्ति का चित्र लिख दिया। जब चित्र पूरा हो गया तो उसने बौद्ध स्थविरों को बुलाकर समझाया कि किस प्रकार दस लाख उसके देने का वादा पूरा होगा। "पहले दिन", उसने कहा, "चित्र देखने का प्रवेश-शुल्क 100,000 लो, दूसरे दिन 50,000 और तीसरे दिन से दर्शकों पर छोड़ दो और वे ि तना दें उतना ही स्वीकार कर लो।" बौद्ध स्थविरों ने वैसा ही किया और इस प्रकार उस चित्र के प्रदर्शन से दस लाख नकद उपार्जित कर लिए। कू ने बहुत से बौद्ध चित्र बनाए पर अभाग्यवश वे आज उपलब्ध नहीं हैं। ब्रिटिश

1. कुमारस्वामी, हिस्ट्री श्राफ इंडियन, पृ० 152
2. ि.घल, इन्डिया एण्ड० पृ० 361

म्यूज़ियम में एक धूमिल पर अत्यंत सुंदर पांच चित्रों का एक 'स्क्राल' सुरक्षित है जिसमें आदर्श पारिवारिक जीवन का चित्र चिता है और जिसे कू की कृति बताया जाता है। ऐसे ही चू-फू के कनफ्यूशस् के मंदिर में एक पाषाण में उभारा चित्र है जिसे उसी की 'डिज़ाइन' के आधार पर बना कहा जाता है। वाशिंगटन के 'फ्रीर गैलरी' में उसके चित्रों की दो प्रतिलिपियां प्रदर्शित हैं।[1] कहा नहीं जा सकता कि वे उसके बनाए हैं या नहीं। कू का व्यक्तित्व पौराणिक मर्यादा को प्राप्त हो गया है।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है तांग वंश की संरक्षा के बाद चीनी बौद्ध कला का ह्रास होने लगा। पर यवान और सुंग राजकुलों के शासन में ध्यान संबंधी दार्शनिक आन्दोलन के साथ-साथ जो चीनी चित्रण को नई दिशा मिली उसमें नये जीवन का संचार हुआ। इस संबंध का विवरण भी पहले दिया जा चुका है। इस नई विधा ने चीनी चित्रण को दर्शन और काव्य प्रवण बना दिया।

तेरहवीं से पन्द्रहवीं सदी तक चीन में मंगोलों का राज हुआ। उस काल भी भारतीय प्रभाव भली प्रकार चीनी मूर्तियों आदि पर एक बार फिर और गहरा दृष्टिगोचर होने लगा। उसका स्रोत सीधा भारत न था, नेपाल था। मंगोल नृपतियों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और कुबलाइ खां (चिंगेज़ खां का पौत्र) ने उस धर्म में विशेष रुचि ली। उसने अपने दरबार में एक नेपाली कलाकार को रखकर उसे राजकीय कला संबंधी कार्यों का संचालक बना दिया। उस कलाकार ने कुबलाइ खां के लिए बड़ी संख्या में मूर्तियां बनाईं और चित्र लिखे। उसके चीनी शिष्य यी युवान (लिउ युवान) ने अनेक बौद्ध मूर्तियां सिरजकर दोनों राजधानियों, शांग-तू और पीकिन, के मन्दिरों और विहारों को भर दिया।[2]

इस प्रकार भारतीय मूर्तन (गन्धार और मथुरा के आधार से) और चित्रण (अजन्ता आदि के आधार से) ने चीनी कला को प्रभूत प्रभावित किया। वास्तु के क्षेत्र में यह प्रभाव प्रायः नहीं के बराबर था यद्यपि कुमारस्वामी द्वारा उद्धृत सिरेन का विश्वास है कि चीनी 'पगोदा' का विकास पेशावर आदि के भारतीय स्तूपों की पृष्ठभूमि से हुआ।[3] आश्चर्य की बात है कि स्वयं भारत ने चीन से कुछ नहीं सीखा यद्यपि चीन उस काल अनुसंधान के क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से गज़ब की प्रगति कर रहा था। कागज़, मुद्रण, बारूद किसी से उसकी रुचि नहीं बंधी यद्यपि पश्चिम के देश शीघ्र ही उनका उपयोग करने लगे थे।

---

1. विल ड्यूरां, दि स्टोरी आफ सिविलाइज़ेशन पृ० 746-47
2. कुमारस्वामी, वही, पृ० 153
3. वही, पृ० 152

अध्याय-18

भारत और उत्तर-पूर्व के देश

भारत की संस्कृति का ऋणी संसार का सबसे विशाल और महान् देश चीन रहा है। चीन स्वयं अपनी स्वतंत्र संस्कृति और कला का निर्माता था। भारत से उसका संपर्क ईसा की प्राथमिक सदियों में स्थापित होने से सहस्राब्दियों पूर्व उसका अपना धर्म था, अपना दर्शन था, अपनी कला थी, अपना साहित्य था। वह चीन भारतीय संस्कृति के संपर्क से विशेष समृद्ध हुआ और भारतीय संस्कृति—विशेषकर बौद्ध धर्म और दर्शन कला के—विस्तार की दिशा में आधार बन गया। विशेषत: उसी के माध्यम से कोरिया और जापान में भारतीय संस्कृति का उदय और प्रचार हुआ। नीचे अब हम इन दोनों देशों से सीधे या परोक्ष रूप से हुए संबंध पर विचार करेंगे और उसका संक्षिप्त विवरण देंगे।

कोरिया

कोरिया का छोटा-सा देश प्रशान्त सागर से लगा जापान के पश्चिम और चीन के उत्तर में बसा है। बहुत कुछ उसकी संस्कृति चीन के संपर्क से बनी, पर यह साधारणत: कयास के बाहर है कि वह जापान से पहले सभ्य हुआ और एक युग में उसने जापान पर अपना साम्राज्य स्थापित करने के भी हौसले किए और कम से कम उसकी राजनीति पर कुछ काल वह हावी भी रहा। पीछे उस पर जापान का आधिपत्य हुआ। पहले चीन का, जिसने हान युग में उसे चीनी मिट्टी के उपयोग से उसके कलावन्तों को पोस्लेन का असाधारण विधाता बनाया, पीछे जापान का जिसे उसने बौद्ध धर्म दिया।

कोरिया ने संसार की सभ्यता को भी कुछ दिया है—मुद्रण (छापे) के टाइप। चीन ने ब्लाक (लकड़ी-बांस) द्वारा पुस्तकों की छपाई आरंभ कर दी थी पर उसके पास धातु के टाइप नहीं थे। 1403 में कोरियाइयों ने संसार में पहली बार धातु के टाइप ढाले और कोरिया के प्रसिद्ध सम्राट् ताइ-त्सुंग ने उनका उपयोग सर्वत्र कर और उनके निर्माण को सभी प्रकार से सहायता प्रदान कर मानवीय सभ्यता को उन्हें सौंप दिया।

कोरियाइयों को जापानियों ने कालान्तर में जीत लिया पर कोरियाई फिर भी अनेक बातों में जापानियों से आगे थे। उन्होंने जापान को ढालना तो सिखाया

ही, चित्रण कला का भी अपने स्वामियों के देश में प्रवेश कराया। सातवीं सदी से पहले जापान चित्रकारिता की कला से सर्वथा अनभिज्ञ था। कोरियाई चितेरों ने पहली बार उस देश में होरिऊजी के पवित्र मंदिर की दीवारों पर चटख और विभिन्न वर्णों से सज्जित चित्र चिते जिनसे जापान ने उस क्षेत्र में उनसे दीक्षा पाई।

भारतीय बौद्ध धर्म ने जैसे अपने अभियान और प्रसार द्वारा मध्य एशिया और चीन को अपने दर्शन और कला से प्रभावित और समृद्ध किया वैसे ही उसने चीन और जापान के पड़ोसी देश कोरिया को भी अपनी संस्कृति का ऋणी बनाया। चीन और तिब्बत पर पहले उसका प्रसार हुआ फिर इनके और मध्य एशिया के माध्यम से वह कोरिया, जापान और मंगोलिया पहुंचा। कोरिया को विशेषत: चीनी भिक्षुओं ने बौद्ध धर्म में दीक्षित किया।

पर कोरिया से भारत का संबंध कुछ काल तक बिना चीन के माध्यम के सीधा भी हुआ। प्रसिद्ध चीनी यात्री ईत्सिंग लिखता है कि सातवीं सदी में पांच कोरियाई भिक्षुओं ने भारत की यात्रा की। इनमें से दो 638 में कोरिया से चले थे और नालन्दा में उन्होंने बौद्ध दर्शन का अध्ययन किया था। वे भारत के अपने पूरे प्रवास में नालन्दा में ही रहे और वहीं मरे थे। प्रमाणत: वे हुएन्त्सांग के समकालीन थे और कुछ आश्चर्य नहीं जो वे वहां उससे मिले भी हों यद्यपि वह अपने वृत्तान्त में उनका उल्लेख नहीं करता। कहा नहीं जा सकता कि वे किस मार्ग से भारत पहुंचे थे, पर तीसरे कोरियाई भिक्षु सर्वज्ञ देव के विषय में जो जानकारी मिलती है उससे ज्ञात होता है कि वह तिब्बत और नेपाल होता हुआ 650 ई० में भारत पहुंचा था। कोरिया से भारत आने वाला चौथा भिक्षु प्रज्ञावर्मन् था। उसने दस साल भारत में प्रवास किया था। एक और भिक्षु, जो संभवत: इस दल का पांचवां व्यक्ति था, भारत में ही मरा। दो और कोरियाई भिक्षुओं का पता चलता है कि वे भारत आते हुए राह में ही मृत्यु को प्राप्त हुए थे। संभवत: वे स्थल के मार्ग से चले थे और स्थल का मार्ग कितना दुर्गम था, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। नि:सन्देह अगर वह मार्ग चीनियों के लिए इतना भयावह रहा होगा तो उसकी दारुणता का अटकल कोरियाई यात्रियों के संबंध में लगाया जा सकता है।

आसानी से माना जा सकता है कि जब सात कोरियाई भिक्षुओं के भारत आने का उल्लेख प्राप्त है तो अनेक और भी भिक्षु कोरिया से भारत आए हैं जिनका उल्लेख नहीं मिलता। इस प्रकार भारतीय भिक्षुओं के भी सीधे कोरिया जाने का उल्लेख नहीं मिलता। यह जानी हुई प्रमाणित बात है कि कोरिया में बौध धर्म का प्रचार चीनी भिक्षुओं ने किया जिससे वहां भी अधिकतर ध्यानवादी महायान बौद्ध संप्रदाय का विशेष प्रसार हुआ। उत्तरी वेई राजकुल की

शैली की मूर्तियों का प्रचार कोरिया में हुआ।

जापान

जापान छोटे-बड़े अनेक द्वीपों का प्रशान्त महासागर के पश्चिमी भाग में एशिया की भूमि से लगा हुआ समूह है। कालान्तर में वह अनेक साम्राज्यों का निर्माता हुआ और उसका अधिकार कोरिया और चीन तक पर हुआ पर धर्म और कला के क्षेत्र में वह इन दोनों का ऋणी है।

पता चलता है कि भारत और जापान में, चीन-कोरिया के माध्यम के अतिरिक्त भी, सीधा संबंध हो गया था। अनेक भारतीय भिक्षुओं ने जापान की और अनेक जापानी भिक्षुओं ने भारत की यात्रा की। जापानी ऐतिहासिक साहित्य में भारतीय भिक्षु बोधिसेन का नाम आदर से लिया गया है। उसके उल्लेख के अनुसार संभवतः बोधिसेन दक्षिण भारत का भारद्वाज-गोत्रीय ब्राह्मण था जो बौद्ध होकर प्रव्रजित हो गया था। दक्षिण भारत का होने से उसके लिए जलमार्ग खुला था। मध्य एशिया का मार्ग, अब वहां अधिकतर तुर्कों का प्राधान्य हो जाने के कारण, आठवीं सदी में संकटाकीर्ण हो गया था। राह में उसे चम्पा का एक भिक्षु मिला जो संभवतः जल मार्ग से चीन जा रहा था। वह अपना जहाज़ डूब जाने के कारण बोधिसेन के साथ हो लिया। उसका नाम जापानी उल्लेख में 'बुत्तेत्सु' मिलता है। अस्तु, नाम उसका भारतीय जो भी रहा हो, दोनों भिक्षु 733ई० में चीन पहुंचे। बोधिसेन ने प्रसिद्ध भारतीय भिक्षु पंडित मंजुश्री से मिलने और उसके साथ काम करने के उद्देश्य से चीन की यह यात्रा की थी। मंजुश्री चीन में उसे नहीं मिला। वहां जाने पर पता चला कि मंजुश्री धर्मकार्यार्थ जापान चला गया है। फिर बोधिसेन ने जापान जाकर मंजुश्री से मिलने का विचार किया। इसी काल उसे वहां पहुंचने का एक असामान्य संयोग भी मिल गया। चीनी सम्राट् के दरबार में जापानी सम्राट् का राजदूत रहता था। सौभाग्यवश वह तभी स्वदेश लौट रहा था और उसने जब बोधिसेन के जापान जाने की उत्कंठा देखी तो उसे अपने साथ चलने के लिए निमंत्रित किया। बोधिसेन और बुत्तेत्सु दोनों उसका निमंत्रण स्वीकार कर उसके साथ चल पड़े और 736 ई० में जापान जा पहुंचे।

जापान के दरबार को राजदूत ने इन भिक्षुओं के साथ आने की खबर पहले ही भेज दी थी तो जापानी सम्राट् ने उनके स्वागत के लिए विशेष तैयारियां कीं। नानिवा (आज का ओसाका) बन्दरगाह पर स्वागत का आयोजन हुआ। सम्राट् का दूत, प्रधान पुरोहित और अन्य सैकड़ों महिम और उच्चपदीय राजपुरुषों के साथ बन्दर में पहुंचा। उसके साथ अनेक संगीतज्ञ भी आए थे और भिक्षुओं को गा-बजाकर बड़े आदर के साथ जापान की भूमि पर उतारा गया। मंजुश्री संभवतः बोधिसेन और बुत्तेत्सु से पहले ही जापान पहुंच गया था। पर

उसका उल्लेख वहां के बौद्ध साहित्य में नहीं मिलता।

वस्तुतः जापान पहुंचने वाले पहले भारतीय भिक्षु न तो बोधिसेन-बुत्तेत्सु थे और न मंजुश्री। कारण कि तब तक जापान में बौद्ध धर्म और संस्कृत भाषा का भूरिशः प्रचार हो चुका था, क्योंकि पता चलता है कि बोधिसेन और जापानी पुरोहित ने संस्कृत और जापानी दोनों भाषाओं में परस्पर बातचीत की। प्रकट है कि बोधिसेन ने चीन में ही जापानी भाषा का अध्ययन कर लिया था। जापान में इस प्रकार कोरिया और चीन की राह जाकर बौद्ध धर्म कब का प्रतिष्ठित हो चुका था। वहां अनेक विहार बन चुके थे जिनमें से एक में बोधिसेन और उसके साथी को ठहराया गया और दरबार की आर से उन्हें चीवर और अन्य आवश्यकता की वस्तुएं प्रदान की गईं। 749 में वैरोचन बुद्ध की एक विशाल मूर्ति स्थापित की गई जिसके पधराने का पौरोहित्य बोधिसेन को सौंपा गया। चम्पा (बिहार में भागलपुर) का रहने वाला बुत्तेत्सु संगीतज्ञ था सो इस अवसर पर उसी ने संगीत का आयोजन किया।

अब तक बोधिसेन की ख्याति जापान में सर्वत्र हो गई थी और अगले ही वर्ष 750 में उसे समूचे जापानी बौद्ध संघ का प्रधान महास्थविर नियत किया गया। अब से वह जापानी में 'बरमोन सोजा' (ब्राह्मण स्थविर) कहलाने लगा। बोधिसेन ने भी जापान पहुंचकर वहां वही कार्य करना प्रारंभ किया जो भारतीय भिक्षुओं ने चीन पहुंच कर वहां किया था। वह वहां के भिक्षुओं को संस्कृत भाषा और बौद्ध दर्शन पढ़ाने लगा। यह कार्य उसने यावज्जीवन किया। उसने वहां गण्डव्यूह महायान के सिद्धान्तों का प्रसार और अध्यापन तीन-तीन विहारों में किया। यह कार्य उसने थोड़ी अवस्था में ही सम्पन्न कर लिया क्योंकि उसकी मृत्यु 57 वर्ष की आयु में 760 में हुई बताई जाती है। बोधिसेन अपने ज्ञान और आचार से इतना शालीन माना जाने लगा था कि उसके लिए एक स्तूप का निर्माण किया गया जिसमें उसकी अस्थियां रख दी गईं। उसके शिष्य ने पीछे 770 में उसके कार्य के अनुरूप एक अभिलेख भी तैयार कर लिया जिसे स्तूप पर लिखवा दिया गया।

चीनी में लिपि के चिन्ह असंख्य थे, हज़ारों। बहुत कुछ यही स्थिति पहले जापानी लिपि की भी थी। जापानी विद्वानों का मत है कि संस्कृत वर्णमाला के अनुसार जापानी लिपि के पचास चिन्ह जो उच्चारणपरक स्थिर किए गए वह कार्य भी संभवतः बोधिसेन ने ही किया था। कुछ विद्वानों का विश्वास है[1] कि जापानी में भारतीय वर्णमाला का व्यवहार काफी पहले ही शुरू हो गया था। महत्त्व की बात है कि जापान के कई विहारों में चौथी सदी की ब्राह्मी लिपि में

1. दि क्लासिकल एज, पृ० 336-337

ताड़पत्रों पर लिखी हस्तलिपियों के खण्ड मिले हैं। प्रायः यह प्रमाणित है कि होरियूज़ी विहार में जो छठी सदी की लिखी हस्तलिपि सुरक्षित है वह 609 ई० में जापान ही पहुंच गई थी। यह कह सकना कठिन है कि वह हस्तलिपि अथवा हस्तलिपियों के अन्य खण्ड, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, जापान, चीन अथवा कोरिया से पहुंचे या सीधे भारत से। इसमें सन्देह नहीं कि पीछे तो भारत और जापान के बीच सीधा यातायात स्थापित हो गया था पर पहले दोनों देशों का संपर्क चीन के माध्यम से ही हुआ था।

बुत्तेत्सु बहुमुखी प्रतिभा का व्यक्ति था। उसने संस्कृत भाषा का जापान में अध्यापन तो किया ही, उसे पढ़ाने के लिए व्याकरण के सिद्धान्तों के साथ एक पुस्तक भी लिख दी। पर वह केवल पंडित भिक्षु ही न था, संगीतशास्त्र में भी वह पारंगत था। और वह केवल सिद्धान्त पक्ष में ही नहीं उसके प्रयोग क्षेत्र में भी कुशल था। वह गायन और नर्तन दोनों विधाओं में पारंगत था और नर-विहार के जापानी विश्वविद्यालय में बुत्तेत्सु ने दोनों भारतीय कलाओं का प्रदर्शन और शिक्षण वर्षों तक किया। जापानी राजदरबार और बौद्ध विहारों में भारतीय स्वरसाधना और संगीत जो इतने लोकप्रिय हो गए थे उसका बहुत कुछ श्रेय इस भिक्षुप्रवर बुत्तेत्सु को ही है।

जापान में बौद्ध धर्म का प्रवेश 522 ई० में हुआ। पर वहां उसका प्रवेश होते ही उसका निराशावाद समाप्त हो गया। उसके नरकों की संख्या 128 होने के बावजूद स्वर्ग का पलड़ा भारी रहा और तीर्थों, मेलों, प्रसन्न अनुष्ठानों की बहुलता हो गई जिससे सांसारिकता ने गहरे रूप से तप की कठोरता को तरल कर दिया। बोधिसत्व अपने संचित पुण्य का अंश भी श्रद्धालुओं को दान कर देते थे और देवी क्वानोन तथा जिज़ो तो दया और स्नेह की स्वरूप थीं। पूजा घर में और बाहर मंदिरों में होती थी। अक्सर जुलूस निकाले जाते थे जिनमें धर्म इतने महत्त्व का न था जितने महत्त्व के लोगोंका बनाव-सिंगार, प्रसन्न मुद्राएं, आह्लाद का प्रस्फुटन आदि थे। धर्मयात्राओं का भी महत्त्व था और लोग तीर्थों की यात्राएं करते थे। बौद्ध धर्म के भी अनेक संप्रदाय जापान में प्रचलित हो गए थे जिससे रुचि के अनुसार उन्हें चुनने की गुंजायश और छूट थी। या तो बौद्ध भिक्षु अथवा उपासक 'ध्यान' (जो चीनी में 'चान' और जापानी में 'जेन' कहलाता था) द्वारा उपासना अथवा चित्तशान्ति कर सकता था अथवा 'कमल' संप्रदाय के सिद्धान्तों द्वारा धर्म की साधना कर सकता था। वह तप द्वारा अपनी काया डाह कर मांस-मज्जा में सशरीर प्रकट हो जाने वाले बुद्ध के दर्शन कर सका था अथवा 'शुद्ध देश' के दर्शन द्वारा शांति लाभ कर सकता था। इस स्थिति में अपेक्षा उससे मात्र भक्ति की जाती थी। या, यदि वह चाहे तो, 'शिगोन' (शुद्ध शब्द) पद्धति से स्वर्गलाभ कर सकता था। 'शिगोन' संप्रदाय का चलाने वाला सन्त

कोबो दैशी था जो नवीं सदी का महान् आचार्य और कलावन्त माना जाता है।

मज़े की बात तो यह है कि बौद्ध धर्म की जापानी सुखसाधना में जापानियों ने अपने राष्ट्रीय-स्वदेशी धर्म 'शिन्तो' के देवताओं को भी शामिल कर लिया। बुद्ध 'अमतेरसु' मान लिए गए और बौद्ध मन्दिरों में एक कोना 'शिन्तो' के मन्दिर के लिए भी अलग कर दिया गया। पहले बौद्ध भिक्षु दया, स्नेह और भक्ति के स्वरूप में थे जिन्होंने जापानी साहित्य और कला को प्रभूत प्रभावित किया। उनमें से अनेक महान् चित्रकार और मूर्तिकार भी थे। कुछ ने बौद्ध और चीनी साहित्यों का जापानी भाषा में अनुवाद कर स्थानीय सांस्कृतिक विकास को भी प्रगति प्रदान की। पर इस सफलता ने ही पश्चात्कालीन भिक्षुओं को नष्ट कर दिया। वे आलसी और स्वादुसेवी, अकर्मण्य और धर्म-विरत हो गए। ऐतिहासिक सत्य है कि जब अकाल पड़ने पर लाखों की संख्या में लोग उसके शिकार हो रहे थे, क्योतो और नर विहारों के भिक्षु अपने उदर और खज़ाने भर रहे थे क्योंकि संकट के समय सहज ही श्रद्धालुओं की भयवश दानवृत्ति बढ़ गई थी। देश कंगाल हो रहा था पर विहारों के बखार भर रहे थे। विहारों का धन सदी-सदी बढ़ता गया, सदी-सदी जनता निर्धन होती गई। भिक्षुओं ने घोषणा की कि चालीस के ऊपर की आयु वाले की आयु पचास की हो सकती है यदि वह चालीस मंदिरों में अपने लिए प्रार्थना किए जाने की फीस अदा कर दे। इसी प्रकार पचास के बाद दस साल जीवित रहने के लिए पचास मंदिरों में, साठ के बाद दस साल जीने के लिए साठ मंदिरों में, जब तक कि पुण्य के क्षय होने से उसका अन्त नहीं हो जाता और मृत्यु उसे कवलित नहीं कर लेती। तोकुगावा के शासन काल में तो अनर्थ इतना बढ़ा कि विहारों में भिक्षु मद्यपान करने लगे, रखैलें रखने लगे जो सदा नारियां ही नहीं होती थीं, वे कम उम्र लड़के भी होते थे जिन्हें विहार को देव-दासियों की तरह दान कर दिया जाता था और जिनका भिक्षु भोग करते थे।[1] अट्ठारहवीं सदी में बौद्ध धर्म का बोलबाला जापानी जनता से उठ गया। शिन्तो धर्म फिर लौटा यद्यपि 'ज़ेन' के अनुयायी का सर्वथा अभाव न था।

आरंभ के दिनों में अनेक जापानी सम्राट् धर्म के प्रति श्रद्धालु थे। कुछ ने तो राज-पाट तज भिक्षु की दीक्षा ले विहारों में डेरा डाला था और एक ने तो बुद्ध का अपमान मानकर मछली पकड़ना राज्य में बन्द करा दिया।

जापानी कला पर भारतीय कला का बौद्ध धर्म के माध्यम से गहरा प्रभाव पड़ा। वैसे तो उस धर्म के साथ ही साथ चीन और कोरिया से कला का भी वहां प्रादुर्भाव हुआ था पर, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, स्वयं भारत से भी उसकी उपलब्धि हुई थी। निश्चय कामाकुराबुद्ध के नाक-नक्श गान्धार शैली से मिलते

1 विल ड्यूरां, दि स्टोरी ऑफ सिविलाइज़ेशन, पृ० 865.

हैं। 594में ही साम्राज्ञी सुइको ने बौद्ध धर्म के सत्य और उदारता से प्रभावित होकर सारे साम्राज्य में बौद्ध मन्दिर बनाने की आज्ञा प्रसारित कर दी थी। राजकुमार शातोकू को इस आदेश के पालन का काम सौंपा गया और उसने जापान में बौद्ध निर्माण के लिए कोरिया से भिक्षु-पंडित, वास्तुकार, काष्टतक्षक, टाइल निर्माता, बुनकर और अन्य कलाकार बुला लिए और देश में बौद्ध मंदिरों की परम्परा खड़ी हो गई। मन्दिरों के आकार-प्रकार तो चीन जैसे ही थे पर इनका अलंकरण समृद्ध था और उत्खचन कार्य असाधारण हुआ। सामने विशाल द्वार निर्मित हुए, लकड़ी के रंग चटख कर दिए गए और खपड़ैलें सूर्य की रोशनी में चमक उठीं। 616 में शोतोकू के अध्यवसाय से नर के पास ओरियूजी का मन्दिर परिवार खड़ा हुआ। इस प्रकार का मंदिर, शालीनता और सौंदर्य की सादगी में जापान में न पहले बना, न बाद में! नर के तोदाइ मन्दिर की स्वर्ण-शाला और अन्य मंदिरों को तो कुछ विद्वानों ने समूचे एशिया के वास्तु में सर्वोत्तम कहा है। नर के मन्दिर में तो घंटा ही 49 टन का है जिसका ढालना कितना कठिन कार्य रहा होगा, यह उसके वज़न से प्रमाणित है।

मूर्तिकला में जापान में अधिकतर लकड़ी का उपयोग हुआ, पत्थर का कम। धातु की मूर्तियां भी बड़ी संख्या में बनीं। पत्थर देश में उपलब्ध न था। पर अपनी कलाकारिता में जापानियों ने अपने शाखा कोरियाइयों और चीनियों दोनों को मात कर दिया। जापान की सबसे शालीन और कलाकारिता में समूचे जापान में बेजोड़होरियूजी की कांसे की त्रिमूर्ति है,दो बोधिसत्वों के बीच कमलासन (कमल-कुड्मल) पर बैठी बुद्ध की मूर्ति। यह जापान की प्राचीन मूर्तियों में से भी है। मूर्ति के पीछे कांसे का ही प्रभामण्डल है और सामने उसी की 'स्क्रीन' है। भारतीय अभिप्राय में कोरी-ढली यह मूर्ति संसार की मूर्तियों में अनुपम है।

जापानियों ने विशाल बुद्ध मूर्तियां ढालीं। 747 ई० में संरक्षा के लिए सम्राट् शोमू ने किमिमारो नामक कलाकार को देवताओं को प्रसन्न करने के लिए एक विशाल बुद्ध मूर्ति ढालने का आदेश दिया। किमिमारो ने मूर्ति ढालने में 437 टन कांसे, साढ़े तीन मन सोने और सवा दो मन पारे का उपयोग किया। इनके अतिरिक्त उसमें सात टन मोम और अनेकों टन कोयला लगा। सात-सात बार प्रयास करने के बाद दो साल में मूर्ति ढल कर तैयार हुई। मस्तक तो एक ही सांचे में ढल गया पर शेष शरीर कई प्लेटों में अलग-अलग ढाल कर एकत्र किया गया, फिर उसे सोने से ढक दिया गया। नर में ही विराजमान कामाकुरा की दाइबुत्सु है, 1252 में ओनो गोरोयेमोन द्वारा कांसे में ढली मूर्ति। उसके मुख पर शान्ति विराज रही है और उसकी ध्यान मुद्रा अन्यत्र अलभ्य है। मूर्ति खुले आसमान के तले पेड़ों के बीच अद्भुत सादगी से ऊंचे आसन पर बैठी हुई है। मूर्ति पहले मंदिर में (नर विहार के पास ही) पधराई हुई थी पर 1495 में भूकम्प से संचालित सागरीय तरंग ने मंदिर और नगर दोनों को नष्ट कर दिया। बस उस संहार

कार्य के बीच संकट और दुस्सह दु:ख के बीच, जरा-मरण, दु:ख-संताप से रहित यह मूर्ति अपनी शान्त मुद्रा में सदा की भांति विराजती रही। बुद्ध की ऐसी ही विशाल मूर्ति क्योतो में हिदेयोशी ने ढाली। पचास हज़ार आदमियों ने पांच साल उसके निर्माण में योग दिया। स्वयं ताइको मज़दूरों का उत्साह बढ़ाने के लिए उन्हीं का लिबास पहने समय-समय पर उस कार्य में हाथ बंटाता रहा। पर अभी वह बन कर तैयार और प्रतिष्ठित ही हुई थी कि जापान के सतत शत्रु एक भूचाल ने 1596 में मंदिर की छत को उखाड़ फेंका और मूर्ति को एक ओर लुढ़का दिया। कहानी कही जाती है कि चिढ़े हिदेयोशी ने गिरी हुई मूर्ति पर बाण चला कर कहा—"इतना व्यय करके मैंने तुम्हें उस आसन पर बिठाया और तुम स्वयं अपने मंदिर तक की रक्षा न कर सके!" कालान्तर में इस प्रकार की छोटी-बड़ी हज़ारों मूर्तियां जापान में बनीं। बाद में धर्म की कठोरता से विरत हो कलावन्तों ने अपनी मूर्तियों में मधुर और कदिर रूप का विकास किया पर वह तो भिक्षुओं का इष्ट न था। जैसे-जैसे धर्म की पकड़ कलावन्तों पर से हटी वैसे ही वैसे मूर्तियों का रूप भी बदलता गया।

शुरू की सदियों में जब बौद्ध धर्म का जापान में बोलबाला था, अनेक भित्ति-चित्र विहारों और मंदिरों की दीवारों पर लिखे गए और उनकी रूपरेखा बहुत कुछ अजन्ता और तुर्किस्तान के चित्रों की सी बनी। पर अब उपलब्ध चित्रण माकिमोनी (स्क्राल), काकेमोनी (पर्दे) आदि पर अवशिष्ट हैं। इनका प्रयोजन मंदिरों, विहारों, राजप्रासादों और श्रीमानों के आवासों को अलंकृत करना था। होरोयूजी के प्रसिद्ध भित्तिचित्र आठवीं सदी के हैं। लगता है एक सीमा तक जापानी चितेरों को भारतीय माडलों पर निर्भर करना पड़ा होगा। कारण कि भरहुत के यक्ष कुबेर की पृष्ठभूमि के कोन्दो के जिकोक तेन (धृतराष्ट्र) के दैत्य पर खड़े रूप की कल्पना नहीं की जा सकती। शिन्तो-बौद्ध की सम्मिलित कला-प्रक्रिया में अनेक भुजाओं वाली आकृतियों की कल्पना भी हिन्दू देवमूर्तियों के अभाव में नहीं हो सकती थी। जापानी 'तोरी' निश्चय नाम और रूप दोनों में भारतीय 'तोरण' से प्रभावित है।

मंगोलिया

मंगोलिया, तिब्बत के पास ही, उसके उत्तर में, फला हुआ रेगिस्तान है। हाल की खोजों से पता चलता है कि लगभग 20,000 ई०पू० में मंगोलिया हरा-भरा और आबाद देश था। वहां से उसके बाशिन्दे धीरे-धीरे जब हरियाली घटने और रेत बढ़ने लगी, तब साइबेरिया और चीन में जा बसे। मंगोलों की भाषा के कुछ शब्द सुमेरी भाषा के शब्दों से मिलने के कारण कुछ विद्वानों ने सुमेर के प्राचीनतम निवासियों का मंगोलिया से ही वहां जा बसने का अनुमान किया है।

खण्ड-4

अध्याय-19

भारत के पड़ोसी देश

भारत के पड़ोसी राज्यों में एक ओर पश्चिम में पाकिस्तान और अफगानिस्तान हैं, दूसरी ओर बर्मा, मलय आदि। उत्तर में नेपाल और तिब्बत, भूटान और सिक्किम हैं, और दक्षिण में सिंहल, लंका या श्रीलंका। पाकिस्तान का विवरण भारत के ही उत्तर-पश्चिमी भाग और गान्धार की संस्कृति आदि के संदर्भ में दिया जा चुका है। उसी प्रसंग में अफगानिस्तान का भी सविस्तार उल्लेख किया जा चुका है। बर्मा, मलय का उल्लेख हम दक्षिण-पूर्वी देशों के साथ करेंगे, कारण कि उन सबकी संस्कृति में एक असाधारण एकरूपता है। सिक्किम भारत का राज्य बन गया है और यद्यपि भूटान स्वतंत्र राज्य है, उसके और सिक्किम के बौद्ध धर्म के संबंध में सिवा इसके विशेष कुछ नहीं कहना है कि दोनों में ही तिब्बती लामावाद का प्रचार है। दोनों की संस्कृति पूर्णतः बौद्ध संस्कृति है और दोनों ही हिमालय की श्रृंखलाओं से घिरे देश हैं।

नीचे हम नेपाल, तिब्बत और लंका संबंधी भारतीय संस्कृति और उसके प्रभाव-प्रसार पर विचार करेंगे। इन तीनों का संबंध भारत से प्राचीन काल से ही घना रहा है। पहले हम नेपाल के साथ भारतीय संबंध का उल्लेख करेंगे।

नेपाल

नेपाल भारत के उत्तर में हिमालय की पर्वत श्रेणियों से घिरी सुन्दर पतली-लंबी घाटी है। इसी के उत्तरी परिवेश में हिमालय, अथवा संसार का सबसे ऊंचा शिखर एवरेस्ट अवस्थित है। प्राचीन काल में इसकी कुल लंबाई पन्द्रह मील थी जो अब लगभग डेढ़ सौ मील हो गई है।

भारत से नेपाल का प्रायः सबसे पहला संपर्क अशोक के काल में तृतीय शती ई० पू० के मध्य हुआ जब उसने अपने जामाता देवपाल क्षत्रिय के साथ वहां की यात्रा की और वहां ललित पाटन (पत्तन) नामक नगर की नींव डाली। चौथी सदी ईस्वी के सम्राट् समुद्रगुप्त के प्रयागीय स्तंभ-लेख में नेपाल उसके करद राज्यों में गिनाया गया है। नेपाल की 'वंशावलियों' में उसके राजकुलों का ब्यौरा मिलता है। पौराणिक राजकुलों के बाद वहां के ऐतिहासिक (?) गोपाल, आभीर, और किरत राजकुलों का विवरण मिलता है। इनके बाद लिच्छवियों की एक लंबी सूची मिलती है। लिच्छवी भारतीय इतिहास में अपने गणराज्य के

प्रकट है कि इस अनुमान पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

तिब्बत एक समय राजनीति के क्षेत्र में पर्याप्त प्रयत्नशील था और उसने चीन पर तो आक्रमण किए ही थे मंगोलिया पर भी अधिकार कर लिया था। मंगोलिया का अधिकतर भाग रेगिस्तान है जो गोबी कहलाता है। एक समय तिब्बती लामा मंगोलिया पहुंचे और वहां उन्होंने महायानी लामावाद का प्रचार किया। तिब्बत स्वयं भारतीय प्रभाव में आकर महायानी बौद्ध हो गया था और वहां उसने भारतीय बौद्ध आचार्यों की सहायता से लामावाद का आरंभ, विकास और प्रसार किया था। उसका एक रूप चीन भी पहुंचा जहां मंगोल सम्राट् कुबलाई खां स्वयं उस धर्म का एकांत पोषक और अनुयायी हो गया था। उसने तो यहां तक ऐलान कर दिया था कि जो किसी लामा पर प्रहार करेगा उसका हाथ काट लिया जाएगा और जो उसे अपशब्द कहेगा उसकी जिह्वा काट ली जाएगी। तिब्बत ने अपने उसी लामावाद का प्रचार मंगोलिया में किया, जहां वहां की समूची जनता महायानी बौद्ध हो गई। धर्म के साथ ही साथ वहां तिब्बती कला का भी प्रसार हुआ और मंगोलिया में भी बोधिसत्वों की कांस्य मूर्तियां ढाली गईं और टंके तैयार किए गए। मंगोलिया में भी रेशमी पृष्ठभूमि पर विविध प्रकार के बोधिसत्वों और भयावने दैत्य सरीखी आकृतियों वाले 'सत्व' धागे से काढ़ कर बने।

कारण विख्यात हो गए हैं। उनकी राजधानी वैशाली थी जो नेपाल से बहुत दूर नहीं। ईसा की प्रारंभिक सदियों में नेपाल में मल्लों और लिच्छवियों दोनों का निवास था।

पशुपति मंदिर के आठवीं सदी के अभिलेख के राजाओं की लंबी सूची के अन्त में वृषदेव का नाम आता है जिसका उल्लेख बौद्ध और ब्राह्मण दोनों वंशावलियों में हुआ है। वृषदेव निष्ठावान बौद्ध था जिसने अनेक विहार बनवाए। उसके पुत्र शंकरदेव ने पशुपति के मंदिर को दान दिए और एक ब्राह्मण के लिए पाटन में एक मठ का निर्माण कराया। इस लिच्छवी वंश के राजा मानदेव ने अपनी विजयों से नेपाल की सीमा पर्याप्त बढ़ा ली। मानदेव की विजयों का अभिलेख संभवत: 464 ई० का है। इस अभिलेख से प्रकट है कि नेपाल में संस्कृत भाषा और हिन्दू देवताओं का रिवाज़ सा चल पड़ा था। मानदेव ने मान-विहार नामक एक विहार भी बनवाया और देवी मानेश्वरी का पूजन विशेष रुचि से उसने शुरू किया। इस कुल के राजा शिवदेव के समय सातवीं सदी के आरंभ में राज्य की सारी शक्ति महासामन्त अंशुवर्मन के हाथ में चली गई यहां तक कि चीनी यात्री हुएन्त्सांग ने उस सामन्त-मंत्री का राजा के रूप में उल्लेख किया। तभी से प्राय: वह परम्परा नेपाल में चली, जहां अभी हाल तक महामंत्री राजा से भी शक्तिमान बना रहा है।

नेपाल के राजा नरेन्द्रदेव के समय 643 ई० में चीन से एक दूतमंडल आया जिससे दोनों देशों में पहली बार मैत्री भाव स्थापित हुआ। राजा ने चीन दूत ली-य-पियाओ की बड़ी आवभगत की और आदर के साथ उसके इष्ट हर्षवर्धन के पास उसे भेजा। चार साल बाद वांग-हुएन-त्से का चीनी दौत्य भी कन्नौज नेपाल की ही राह गया था। कन्नौज में हर्ष की मृत्यु के बाद उसका अर्जुन द्वारा अपमान, जानी हुई ऐतिहासिक घटना है। चीनी राजदूत ने नेपाल लौटकर नरेन्द्र देव से सैनिक सहायता मांगी जिसने 7000 घुड़सवार देकर उसकी सहायता की। फिर तो चीन और नेपाल के बीच अनेक दूतों का यातायात हुआ और दोनों में मैत्री घनी हो गई।

भारतीय और नेपाली राजकुलों में अनेक बार वैवाहिक संबंध स्थापित हुए, पर विशेष महत्त्व तो था भारतीय संस्कृति के वहां विस्तार का। संस्कृत भाषा के उपयोग का उल्लेख पहले किया जा चुका है। चौथी और आठवीं सदियों के बीच नेपाल में अनेक संस्कृत अभिलेख मिले हैं जिनसे प्रकट है कि उस भाषा और साहित्य का वहां सामान्य रूप से व्यवहार होने लगा था। इस प्रकार भाषा, साहित्य, कला, धर्म और सामाजिक रीति-रिवाज़ के प्रचलन से लगता है कि तब नेपाल भारत की संस्कृति का अंग बन गया था। तब नेपाल ब्राह्मण (शैव) और बौद्ध धर्मों का विशिष्ट केन्द्र हो गया था।

नेपाली कला का, जो प्रकारान्तर से भारतीय कला की ही एक शैली रही है, नीचे विवरण देंगे। भारतीय कला का वही रूप प्राय: पिछले हज़ार वर्ष नेपाल में फलता-फूलता रहा है। परम्परा के अनुसार तो वहां के स्तूपों का पहला निर्माता अशोक माना जाता है। पटने के पास शम्भूनाथ और बोधनाथ के स्तूप नि:सन्देह कुछ मौर्यकालीन लक्षणों से संयुक्त हैं। बोधिनाथ के स्तूप ने आज शुद्ध नेपाली रूप धारण कर लिया है। उसके ऊपर, एक चौकोर बाक्सनुमा वस्तु है और उससे भी ऊपर हर्भिका में दो उज्ज्वल नेत्र गजदन्त और धातु के बने हैं। ऊपर मस्तूलनुमा यष्टि चली गई है। शम्भूनाथ के स्तूप पर उत्कीर्ण कार्य भी पर्याप्त हुआ है। नेपाल के स्तूपों का अपना स्वरूप और अपना वास्तु है।

महत्त्व की बात है कि नेपाल में ब्राह्मण और बौद्ध दोनों धर्मों का विस्तृत प्रचार है। वस्तुत: वहां का धर्म ब्राह्मग और बौद्ध दोनों का मिलाजुला एक तांत्रिक धर्म है जिसका प्रवेश वहां भारत से मध्यकाल में ही हो गया था। वैसे बौद्ध और ब्राह्मण दोनों धर्मों का विस्तार वहां काफी प्राचीनकाल में ही हो गया था पर इस तांत्रिक पूजन का आरंभ समय वहां मध्यकाल ही है। इस पूजन में हिन्दू और बौद्ध धर्मों का कोई दुराव या दुविधा नहीं, दोनों की मूर्तियां साथ-साथ ही और प्रचुर संख्या में मिलती हैं। ग्यारहवीं सदी में उत्तर विहार के तिरहुत के राजाओं का नेपाल पर अधिकार था, इससे कुछ आश्चर्य नहीं जो एक ही प्रकार के धार्मिक विश्वासों का विस्तार गंगा की घाटी से नेपाल, बर्मा और हिन्दू-चीन तक हो गया हो।

पत्थर और लकड़ी से कहीं अधिक महत्त्व की कलाकृतियां धातु की हैं। अधिकतर वे तांबे और पीतल की बनी हैं यद्यपि कांसे की मूर्तियां भी सर्वथा अनजानी नहीं हैं। नेपाल से इस प्रकार की अत्यंत सुन्दर मूर्तियां भारतीय और यूरोपीय संग्रहालयों में संग्रहीत हैं। इसमें सन्देह नहीं कि धातु की मूर्तियों की यह नेपाली कला तिब्बती मूर्ति कला के इतनी निकट है, उससे इतनी मिलती है कि प्रादुर्भाव के स्थलों के विषय में भ्रम हो जाना नितान्त सहज है। इसी कारण अनेक नेपाली धातुमूर्तियां तिब्बती भी मान ली गई हैं जो मात्र भ्रम का परिणाम है। अधिकतर कांसे की नेपाली मूर्तियां भारतीय मर्यादा का पालन करती हैं और उसकी भाव-भंगिमाओं के ज़्यादा निकट हैं। उनमें एक प्रकार की मनहर-मृदुता भी है।

नेपाल की कुछ बहुत सुन्दर मूर्तियां दसवीं सदी या उससे पहले की बोस्टन म्यूज़ियम में हैं। अवलोकितेश्वर की खड़ी तांबे पर कलई की हुई मूर्ति संभवत: सारी नेपाली कांस्यमूर्तियों में सुन्दर है। पाल भारतीय शैली से मिलती यह मूर्ति रत्न जड़ी है। पिछले काल की मूर्तियां बेहद आकर्षक हैं।

तिब्बत के साथ ही साथ नेपाल में ही लामावाद का बोलबाला हुआ और

तांत्रिक पूजा वहां भी शुरू हुई। तद्विषयक चित्रण भी वहां हुए। नेपाल की चित्रकला भारतीय पाल और गुजराती कला से मिलती-जुलती है। कुछ बहुत सुन्दर चित्र नेपाली हस्तलिपियों में प्रस्तुत हैं। 'अष्टसाहिस्रकाप्रज्ञापारमिता' के चित्र अत्यंत भव्य और शालीन हैं। इसकी दो प्रतियां कलकत्ते की रायल एशियाटिक सोसाइटी के संग्रहालय में रखी हैं जिनमें से एक में 85 और दूसरी में 31 चित्र हैं। दोनों ग्यारहवीं सदी की हैं। ऐसी ही और प्रायः इस काल से कुछ ही बाद की एक तीसरी बोस्टन म्यूज़ियम में है जिसमें 18 चित्र हैं। ये सब ताड़पत्र पर अंकित हैं।

नेपाल में भी तिब्बत की तरह कुछ 'टंके' चित्रित हुए। नेपाल के कलाकारों की ख्याति पीछे इतनी बढ़ी कि जैसा चीन के संदर्भ में पहले लिखा जा चुका है, चीन में मंगोल सम्राट् कुब्लाई खान ने कलाओं का संचालक एक नेपाली कलाकार को बनाया, जिसने वहां के विहारों, मंदिरों और राजप्रासादों को मूर्तियों और चित्रांकनों से भर दिया।

तिब्बत

नेपाल की ही भांति तिब्बत भी हिमालय की शृंखलाओं से आवृत है। उसके दक्षिणी ओर नेपाल, भूटान और भारत हैं, उत्तर में चीन, पश्चिम में लद्दाख और कस्यकोरम-पामीर और पूर्व में हिमालय की पर्वत मालाएं और चीन-हिन्द चीन के देश। वस्तुतः तिब्बत का विशाल देश पर्वत मालाओं से आवेष्टित है। उसी की पर्वतीय भूमि पर हिन्दुओं के देवता शिव का निवास कैलाश और पवित्र मानसरोवर हैं। वहां के सारे निवासी बौद्ध हैं ओर लामा संप्रदाय को मानने वाले हैं, जिसमें दलाईलामा अवलोकितेश्वर का अवतार माना जाता है। तिब्बतियों का रंग गेहुंआ होता है और उनके प्रायः सभी गांव दस हज़ार फुट से अधिक ऊंचाई पर हैं। वहां प्रायः आठ महीने बर्फ पड़ती है और वहां का अधिकतर आहार मांस है। तिब्बतियों का रंग और आवास की ऊंचाई इस सिद्धान्त को गलत कर देती है कि ठंडे मुल्कों या ऊंचाइयों पर रहने वाले लोगों का रंग सफेद होता है। वास्तव में नस्लें काली, गोरी, पीली आदि होती हैं। तिब्बती भी बर्मियों आदि की तरह मंगोल परिवार के संकर परिवार के हैं। उन्हें भारत में भोट और उनके देश को भी भोट कहा जाता रहा है। कुछ लोग उसको संस्कृत 'त्रिविष्टप' कह उसका संबंध इस नाम के पौराणिक स्वर्ग और मानव जाति के प्रथम अवतरण की भूमि कहते हैं जिसका कोई प्रामाणिक अर्थ नहीं, जो शुद्ध मनगढ़न्त है। स्वयं तिब्बती ऐसा कुछ नहीं मानते।

मध्ययुगीन तिब्बती ख्यातों के अनुसार, तिब्बत का पहला राजा किसी भारतीय राजा का पुत्र था जिसने वहां के प्रथम राजकुल की नींव डाली। इसी

प्रकार लद्दाख के राजाओं में भी एक परम्परा प्रचलित थी जिसके अनुसार वे कपिलवस्तु के शाक्यों को अपना पूर्वज मानते थे। स्वाभाविक ही इन परम्पराओं पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

जहां तक ऐतिहासिक प्रमाणों का संबंध है भारत और तिब्बत के बीच किसी प्रकार के संपर्क का छठी सदी ईस्वी के पहले पता नहीं चलता। तब तक तिब्बत अनेक भागों में बंटा हुआ था जिन पर अलग-अलग व्यक्तियों का राज था। छठी सदी के अन्तिम चरण में ग्नाम-री-स्रोन-व्त्सान नामक राजा ने प्रायः समूचे तिब्बत को जीत कर अपने अधिकार में कर लिया। उसकी सीमाएं तब भारत की सीमाओं से आ मिलीं। उसका पुत्र स्रोन-व्त्सान-स्गम्-पो शक्तिमान और विजेता हुआ। कहा जाता है कि कन्नौज के हर्षवर्धन के दौत्य के उत्तर में चीनी तहंग सम्राट् ने जो अपना दूत भारत भेजा। वह नेपाल की ही राह कन्नौज पहुंचा, पर तब तक हर्ष का देहान्त हो चुका था और अर्जुन नाम के मंत्री ने उसके सिंहासन और साम्राज्य पर अधिकार कर लिया था। उसने चीनी राजदूत का अपमान किया। चीनी राजदूत ने नेपाल में शरण ली और नेपाल तथा तिब्बत के राजाओं की सहायता से कन्नौज पर अधिकार कर लिया। इसमें सत्य की चाहे जितनी मात्रा हो, इसमें सन्देह नहीं कि स्रोने-व्त्सान-स्गम्-पो ने नेपाल और आसाम के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया था। तिब्बती ख्यातों का तो कहना है कि उसने आधे जम्बू द्वीप (भारत) पर अधिकार कर लिया था। निश्चय इस कथन में अतिशयोक्ति है पर इसमें संदेह नहीं कि तिब्बत का यह सम्राट् महत्त्वाकांक्षी था और उसने अनेक सैनिक अभियान किए। सबसे महत्त्व का उसका अभियान स्वयं चीन के विरुद्ध हुआ। 640 ई० के लगभग उसने चीन पर आक्रमण कर जेचुआन तक के चीनी प्रदेशों को लूटा। चीन जब इसके जवाब में कुछ न कर सका तब उसका हौसला और बढ़ा और उसने चीनी सम्राट् से उसकी कन्या मांगी। सम्राट् ने मरे मन से कन्या उसे दे दी और वह महान् चीनी सम्राट् का जामाता बन बैठा। इसी प्रकार नेपाल के राजकुल से भी उसका वैवाहिक संबंध स्थापित हो गया। तिब्बत की राजनीतिक उपलब्धि चाहे जो हुई हो, इसमें संदेह नहीं कि वह चीन और भारत जैसे दो महान् देशों के सांस्कृतिक परिवेश में आया और उसकी संस्कृति सर्वथा बदल गई।

चीन के ऊपर बौद्ध धर्म के सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में दूरगामी अभियान हो ही रहे थे, वह अब तिब्बत में भी पहुंचा और उसके धार्मिक विश्वासों में आमूल परिवर्तन कर दिए। चीनी सम्राट् और नेपाली राजा अंशुवर्मन दोनों की कन्याएं तिब्बती सम्राट् की भार्याएं थीं और दोनों ही बौद्ध धर्म की असाधारण भक्त थीं। उनके प्रभाव से तिब्बती सम्राट् बौद्ध हो गया। उसने बौद्ध होते ही प्रचार के क्षेत्र में अभिमत परिश्रम और पराक्रम किए और तिब्बत में तत्काल अनेक

बौद्ध विहार और मंदिर बनकर खड़े हो गए। भारत और चीन से अनेक संस्कृत बौद्धग्रंथ मंगवाकर उसने उनके अनुवाद करवाए और अनेक मूर्तियां मंगवाकर मंदिरों में पथराई गईं और धातुएं (सन्तों की अस्थियां, भस्म आदि) स्तूपों में सुरक्षित की गईं।

इनसे भी बढ़कर जो कार्य उस सम्राट् ने किया, वह था देश की भाषा को लिपि का दान। तब तक तिब्बत में लेखन प्रथा का आरंभ नहीं हुआ था। उसने भारत से लिपि मंगाकर उसका तिब्बत में प्रचार और प्रसार किया। इसी प्रकार संस्कृत भाषा का भी प्रवेश तिब्बत में हुआ और दोनों एक-दूसरे के सानिध्य तथा सम्राट् की आत्मीय संरक्षा से उस देश में खूब ही फलेफूले, यहां तक कि लिखने के लिए केवल एक ही भारतीय लिपि का उपयोग वहां हुआ जो आज तक होता आ रहा है। भारतीय लिपि और संस्कृत भाषा के वहां प्रवेश तथा प्रचार के संबंध में निम्नलिखित उद्धारण महत्त्व का है :

"राजा ने स्पष्ट समझ लिया कि धर्म की संस्थापना विशेषकर जनता के कल्याण के लिए विधि (कानून) की स्थिति के लिए लिपिबद्ध भाषा का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए सोलह साथियों (भिक्षुओं) को उसने सम्भोट की संस्कृत भाषा के विधिवत् अध्ययन और उसके माध्यम से भारतीय बौद्धों के पवित्र साहित्य की संप्राप्ति के लिए (भारत) भेजा। तिब्बती के उच्चारणादि को ध्यान में रखते हुए संस्कृत की वर्णमाला का लिखित भाषा के लिए उपयोग अथवा उसकी सहायता से किसी वर्णमाला के निर्माण के लिए भी उसने उन्हें ताकीद कर दी। इस कार्य के लिए भारतीय आचार्यों के लिए उपहार रूप में उसने मनों सोना भी भेजा।

"सम्भोट और उसके साथियों ने भारत पहुंच कर संस्कृत भाषा, बौद्ध ग्रंथों और भारतीय लिपियों का गहरा और सांगोपांग अध्ययन किया। तिब्बत लौटने के बाद उन्होंने तिब्बती अक्षरों में वर्णमाला प्रस्तुत की और एक व्याकरण लिखा। सम्राट् ने अपनी प्रबुद्ध जनता को लिखना-पढ़ना सीखने का आदेश दिया और अनेक संस्कृत बौद्ध ग्रंथों के तिब्बती में अनुवाद कराए। फिर उसने घोषणा द्वारा अपनी प्रजा को दशाचार बरतने और अपने बताए सोलह पवित्र शील के आचार जीवन में उतारने का आदेश दिया।"[1]

संभोट ने जिस व्याकरण का निर्माण किया था वही व्याकरण आज भी तिब्बत के स्कूलों में पढ़ाया जाता है। तिब्बती लिपि को देखकर सहज ही कहा जा सकता है कि वह भारत की सातवीं-आठवीं ब्राह्मी के अनुकरण में बनी है। परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म और संस्कृत भाषा तथा भारतीय लिपि तिब्बत में

---

1 दि क्लासिकल एज, पृ० 634

अत्यंत समादृत हुए और आभिजात्य माने जाने लगे। स्रोन-व्त्सान-स्गम्-पो अपने अध्यवसाय, पराक्रम और सूझ के कारण स्वाभाविक ही साधारण मनुष्यों की योनि से ऊंची किसी योनि में उत्पन्न माना जाने लगा और शीघ्र ही लोग उसे बोधिसत्व अवलोकित (अवलोकितेश्वर) का अवतार मानने लगे। इसी प्रकार उसकी नेपाली और चीनी बौद्ध रानियां भी बौद्ध देवपरम्परा में सम्मिलित कर ली गईं। नेपाली रानी भृकुटी का और चीनी रानी तारा का अवतार मानी जाने लगीं। सम्राट् ने लगभग 900 विहार बनवाए। इन्हीं में प्रसिद्ध विहार 'रा-मो-चे' भी था। उसने अनेक देशों से अनेक आचार्य तिब्बत बुलवाए जिनमें प्रमुख भारत के कुमार, कश्मीर के बतुत और गनुत तथा ब्राह्मण लि-व्यिन, नेपाल के शीलमजु और चीन के ह-सन्-महादेव थे। इसके बाद तो भारत से तिब्बत जाने वाले भिक्षुओं का तांता बंध गया जिन्होंने उस आहारहीन और शीतप्रधान कठिन देश की सेवा में जीवन बिता दिए।

650 ई० में स्रोन-व्त्सान-स्गम्-पो की मृत्यु के बाद काल का एक ऐसा अन्तराल आता है जब सब कुछ अन्धकार में खो जाता है और पचास साल तक तिब्बत के किसी सांस्कृतिक कार्य का पता नहीं चलता। 702 में नेपाल, आसाम, ज़ेच्वान आदि सभी सरहद के देश विद्रोह कर स्वतंत्र हो जाते हैं और दो साल बाद तिब्बत का राजा युद्ध में मारा जाता है। ख्री-ल्दे-व्त्सुन-ब्रतान (705-55) अपने आधी सदी के राज्यकाल में शक्ति का प्रदर्शन करता है और भारत पर अनेक धावे मारता है जिनसे मजबूर होकर काश्मीर का राजा ललितादित्य मुक्ता पीड और कन्नौज का राजा यशोवर्मन चीन से उसके विरुद्ध सहायता मांगते हैं।

उसके धावों के बावजूद, भारत और तिब्बत के बीच सांस्कृतिक संबंध कायम रहता है और बौद्ध धर्म के प्रचार में दिनों-दिन उन्नति होती रहती है, वहां मंदिर और विहार बनते रहते हैं, बौद्ध ग्रंथों के तिब्बती में अनुवाद होते रहते हैं। तिब्बत में 740 में जो अकाल पड़ा वह प्राय: बारह बरस चला जिससे देश तबाह हो गया और राजा ने समझा कि अकाल का कारण विदेशी भिक्षु हैं। सो वे तुरंत देश से बाहर कर दिए गए और बौद्ध धर्म को काफी क्षति पहुंची। उस धर्म के विरुद्ध यह प्रतिक्रिया कुछ काल तक, अगले राज्यकाल में भी, जारी रही।

तिब्बती लिखित परम्परा के अनुसार सौ वर्ष (750-850) तक तिब्बत के चार राजाओं ने भारत और अन्य सीमा के राज्यों पर अपने धावे जारी रखे और पालन देश धर्मपाल को कर देने के लिए बाध्य किया। उस परम्परा का दावा है कि गंगासागर तक तिब्बत का अधिकार हो गया पर भारतीय ऐतिहासिक परंपरा अथवा किसी अभिलेख में तिब्बत और भारत के बीच की इस कशमकश का कोई हवाला नहीं मिलता। पर इस प्रकार के आक्रमणों के संबंध में भारतीय ऐति-

हासिक स्रोतों का मौन कुछ अनजाना नहीं है। यह साधारण तौर पर स्वीकार किया जाता है कि स्रोन-व्सान-स्गम्-पो ने हर्ष के मंत्री अर्जुन की धृष्टता पर चीनी राजदूत के अपमान का बदला लेने के लिए एक बार कन्नौज पर अधिकार कर लिया था। ललितादित्य और यशोवर्मन का चीन से सहायता मांगना भी कुछ सीमा तक इस तथ्य की सत्यता की ओर संकेत करता है। फिर चीनी साहित्य में भी तिब्बती प्रसार नीति का भारतीय और चीन के विरुद्ध उल्लेख मिलता है। एक चीनी लेख से पता चलता है कि तिब्बती आक्रमणों और उपद्रवों से परेशान होकर चीनी सम्राट् ने 787 में बगदाद के खलीफा और भारतीय राजाओं से सहायता मांगी थी। पल्लवराज नरसिंह वर्मन् के उस संबंध में चीन के प्रति अनुकूल प्रतिक्रिया का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह भी कुछ अर्थ रखता है कि अरब लेखक इस्वख्री और इब्न हौकल दोनों बंगाल की खाड़ी का उल्लेख 'तिब्बती सागर' के नाम से करते हैं।

राजनीतिक स्थिति तिब्बत और भारत के बीच चाहे जो रही हो, इसमें संदेह नहीं कि भारतीय और अन्य विदेशी भिक्षुओं के विरुद्ध तिब्बती राजाओं के आचरण के बावजूद तिब्बत में सद्धर्म का प्रचार बढ़ता ही गया। ख्री-स्रोन-ल्दे-व्सान स्वयं उस धर्म के प्रति परमनिष्ठावान था और उसने उस धर्म को प्रभूत संरक्षा दी। अपनी इसी निष्ठा के कारण वह भी अपने प्रबल पूर्वज की ही भांति बोधिसत्व का अवतार माना जाने लगा। मंजुश्री के अवतार इस राजा ने अपनी प्रसारनीति के बावजूद नालन्दा विहार के महास्थविर और प्रसिद्ध बौद्धाचार्य को बुला भेजा, उसके तिब्बत पहुंचने पर उसका विनीत स्वागत किया और उसे तिब्बती संघ का प्रधान बना दिया। पहले तिब्बत में एक प्रकार के दैत्य प्रधान बोन-पो धर्म का प्रचार था, जो राजधर्म भी माना जाता था। इस राजा ने उसे हटाकर उसकी जगह बौद्ध धर्म को राजधर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया।

इसी भारतीय भिक्षु ने तिब्बत में वह धर्म व्यवस्था स्थापित की जो लामावाद अथवा लामा धर्म के नाम से विख्यात है। इसके अनुसार वहां भिक्षु सत्ता प्रतिष्ठित हुई और प्रत्येक तिब्बती बौद्ध और भिक्षु माना गया और लामा कहलाने लगा। कालान्तर में लामाओं के दो वर्ग हो गए जिनमें से एक विवाह कर गृहस्थ बनने का अधिकार रखता था, दूसरा आमरण भिक्षु बना रहता था। यह स्थिति वहां चीनी आक्रमण के पूर्व तक रही है, और यही स्थिति लद्दाख के बौद्ध धर्म की है। लामावाद में लामाओं का ही राज्य में, शासन तक में, प्राधान्य होता है।

शान्तरक्षित के तिब्बती संघ-संगठन और लामा धर्म की स्थापना में दूसरे भारतीय भिक्षु पद्मसंभव ने बड़ी सहायता की। पद्मसंभव भी तिब्बत में बहुत लोकप्रिय हो गया और उसका वहां इतना प्रभाव बढ़ा कि वह बोधिसत्व माना

जाने लगा जिसका रूपायन 'टंकों' (तिब्बती झंडों, बैनरों) पर होने लगा। इसी काल कश्मीर से एक तीसरा विद्वान् भिक्षु अनन्त वहां पहुंचा, जिसने बौद्ध धर्म पर वहां उपदेश तो किए, अनेक बौद्ध ग्रंथों के उसने तिब्बती में अनुवाद भी किए। इससे प्रकट है कि उस काल में तिब्बती पढ़ने की बौद्ध भिक्षुओं की भी घनी वृत्ति हो गई थी।

चीन का द्वार भी तिब्बत के लिए इस काल खुला था और भिक्षुओं का याता-यात उस देश के साथ भी होने लगा था। परंपरा में उल्लेख मिलता है कि इस काल एक चीनी भिक्षु तिब्बत पहुंचा जिसने वहां ऐसे बौद्ध विचारों का प्रचार आरंभ किया जो शान्तरक्षित और पद्मसंभव के विरुद्ध पड़ते थे। दोनों पक्षों में विवाद बढ़ता गया। तब शान्तरक्षित के कहने पर राजा ने मगध के महान् आचार्य कमलशील को निमंत्रित किया। कमलशील महान् दार्शनिक थे। वे तिब्बत पहुंचे और तिब्बती दरबार में चीनी भिक्षु और उनमें जो शास्त्रार्थ हुआ उसमें वे विजयी हुए। अब कमलशील ही तिब्बती संघ के प्रधान नियत कर दिए गए। राजा ने मगध के विद्यालय ओदन्तपुरी की ही भांति तिब्बत में भी व्साम-यास का मन्दिर विद्यालय स्थापित किया। लासा से लगभग 35 मील पर यह मंदिर आज भी विद्यमान है। राजा और भारतीय भिक्षुओं के अध्यवसाय से पुराने तिब्बती बर्बर धर्म का लोप हो गया और वहां भिक्षु धर्म की प्रतिष्ठा हुई।

अब भारतीय भिक्षुओं के लिए तिब्बत का द्वार खुल गया और बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अनेकों ने वहां जाकर प्रवास किया, धर्मग्रंथों के तिब्बती अनुवाद प्रस्तुत किए और वहीं मृत्यु को प्राप्त हुए। इनकी पूरी सूची तिब्बती ग्रंथों और विहारों में उपलब्ध है। वह समूची सूची महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'तिब्बत में बौद्ध धर्म' में छापी है। भारत से तिब्बत जाने वाले इन भिक्षुओं में प्रधान धर्मकीर्ति, विमलमित्र, बुद्ध गुह्य और शान्ति गर्भ थे। इस काल भारत, विशेषकर मगध, में वज्रयान और तन्त्रवाद का बोलबाला था और इन भिक्षुओं ने उसका तिब्बत में भी प्रचार किया। पद्मसंभव का नाम तो वहां के तंत्रवाद से अलग ही नहीं किया जा सकता।

ख्री-स्रोन-ल्दे-व्त्सान के उत्तराधिकारी राल-पा-चान ने भी धर्म के संबंध में उसी की नीति बरती। उसने भी मन्दिर और विहार बनवाए, भारत से पंडित बुलवाए और बौद्ध ग्रंथों के तिब्बती में अनुवाद करवाए। इतने प्रकार के इतने पंडितों द्वारा प्रस्तुत अनुवाद उपलब्ध हो गए थे कि उनमें परस्पर विचारों में विविध प्रकार के अन्तर्विरोध पैदा हो गए। उसी तथ्य के दो-दो प्रकार और विरोधी अर्थों में अनेक बार अनुवाद हुए थे जिससे सही मूल तक पहुंचना कठिन हो गया था। इसके निराकरण और अनुवादों में सामंजस्य कर सही व्यवस्था देने के लिए राल-पा-चान ने भारत से कुछ अन्य प्रकाण्ड पण्डित बुलवाए जिनके नाम

थे जिन मित्र, सुरेन्द्र बोधि, शीलेन्द्र बोधि, बोधि मित्र, और धनशील। राजा भारतीयता का बड़ा पोषक और भारत की संस्कृति का विशिष्ट प्रेमी था और उसने शीघ्र ही भारतीय तोल-बटखरों का प्रयोग भी तिब्बत में प्रचलित कर दिया। इसका एक परिणाम विपरीत भी हुआ।

भारतीय धर्म के विरुद्ध साधारण जनता में उत्कट प्रक्रिया हुई और राजा ग्लान-दार-मा ने बौद्ध धर्म पर अत्याचार करना प्रारंभ किया। पर तब जो धार्मिक कशमकश चला उसमें षड्यन्त्रों की कमी न रही। भारतीय भिक्षुओं ने अनुकूल स्थानीय भिक्षुओं से सहयोग कर स्थिति अपने अनुकूल कर ली। इसी बीच भिक्षुओं की सहायता से राजा के पुत्र ने पिता का वध कर सिंहासन पर अधिकार कर लिया और बौद्ध धर्म पर अत्याचार होना बन्द हो गया बल्कि नये राजा ने तिब्बत में फिर से बौद्ध धर्म की प्रधानता घोषित और स्थापित कर दी। नया राजा (842-71) पुरानी परम्परा फिर से जीवित कर भारत से पंडित बुलाने लगा। उसने अनेक मन्दिर और विहार भी बनवाए और बौद्ध पुस्तकों के तिब्बती में अनुवाद पूर्ववत होने लगे। तिब्बती भिक्षु पंडित भी भारत पहुंचे और उन्होंने नालन्दा आदि के विद्या संस्थानों में वर्षों बिता कर भारतीय और बौद्ध दर्शन तथा तन्त्रों का विशद और गहन अध्ययन किया और स्वदेश लौटकर वहां उनका प्रचार और विकास किया। तिब्बत से नेपाल की राह मगध तक समूचे भूखण्ड पर तन्त्र साधना का बोलबाला हुआ।

इस काल के भारतीय आचार्यों में दीपंकर श्रीज्ञान का नाम तिब्बती में देवताओं के समान आदर से लिया जाता है। श्रीज्ञान विशेषकर अतीश नाम से वहां प्रसिद्ध हुए। उनके संबंध में एक दिलचस्प कहानी कही जाती है जिसका उद्धरण यहां देना अनुचित न होगा। दीपंकर अतीश विक्रमशिला विश्वविद्यालय के प्रधान आचार्य थे जब तिब्बत में एक प्रकार का धर्मयुद्ध चल रहा था। तान्त्रिक और स्थानीय रहस्यवादी बोन-पो धर्मों के मिश्रण ने धर्म का एक विकृत रूप धारण कर लिया था जिसे व्यवस्थित करना तिब्बत के राजा ल्हा लामा ये-शेष-होद ने अपना कर्त्तव्य समझा। उसने शुद्ध बौद्ध धर्म और दर्शन के गहन अध्ययन के लिए 21 तरुण भिक्षु भारत भेजे। उनका एक प्रयोजन दीपंकर, रत्नवज्र आदि आचार्यों को तिब्बत ले जाना भी था। तिब्बती भिक्षुओं में से अधिकतर तो भारत में ही मर गए, केवल दो लौट कर तिब्बत पहुंचे। भारत में रहते समय तिब्बती भिक्षुओं ने दीपंकर के विषय में जो पूछताछ की तो पता चला कि उनका तिब्बत जा पाना संभव नहीं। यही सूचना वापस लौटने वाले भिक्षुओं ने तिब्बत में अपने राजा को दी। राजा ने दीपंकर के ज्ञान और पांडित्य की ख्याति सुनकर उन्हें लाने के लिए एक दूत, उसके साथ सौ अधिकारी और बड़ी मात्रा में सोने का उपहार मगध भेजा। राजदूत ने अपने स्वामी का पत्र एक बड़े स्वर्णदण्ड के साथ दीपंकर

को दिया और उन्हें तिब्बत चलने की प्रार्थना की। दीपंकर ने उपहार और तिब्बत जाने का निमंत्रण दोनों अस्वीकार कर दिए। राजदूत ने इस पर बड़ा विलाप किया पर उसके आंसू साधू को उसके द्वारा निश्चित मार्ग से विप्रस्थित न कर सके। उसके कुछ ही दिनों बाद तिब्बती राजा शत्रुओं के हाथ पड़ गया और कैद में ही उसकी मृत्यु हो गई। मरने के पहले उसने फिर एक दूत दीपंकर के पास अन्तिम प्रार्थना के साथ भेजा। स्थिति की करुणा से द्रवित होकर भिक्षु ने राजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली और तिब्बत जा पहुंचा। सीमा पर ही उसका अभूतपूर्व स्वागत और सम्मान हुआ। चार सेनापति और सौ घुड़सवार झंडे फहराते, बाजे बजाते जुलूस बनाकर उसे लेकर चले। बीच-बीच में राजा की तरह सर्वत्र उसका स्वागत हुआ। उधर नये राजा ने राजधानी में बड़े स्वागत के साथ उसे विहार में ठहराया। दीपंकर के जीवन के 13 वर्ष अब शेष रह गए थे जिन्हें उसने सद्धर्म की सही व्याख्या, प्रचार और ग्रंथ लेखन में बिताया। उसने प्राय: 200 ग्रंथ लिखे और शुद्ध बौद्धधर्म से तन्त्रसाधना को अलग कर दिया। तिब्बत की राजकीय गुरु परम्परा के प्रथम गुरु ब्रोम्तोन का वह गुरु था। वह तिब्बत में तो प्रसिद्ध हुआ ही, जहां-जहां उस विद्या के बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ वहां-वहां भी समूचे एशिया में दीपंकर असीत का नाम आज भी गौरव के साथ लिया जाता है। दीपंकर का जन्म लगभग 980 में बंगाल में हुआ था। ब्राह्मण और बौद्ध धर्मग्रंथों और दर्शन में पारंगत होकर वह सुवर्ण द्वीप के महान् आचार्य चन्द्रकीर्ति के पास पहुंचा और उनसे बारह बरस तक ज्ञान का अर्जन किया। फिर वह मगध लौटा और पाल-नरेश नयपाल ने उसे विक्रमशिला का महास्थविर और प्रधान आचार्य बना दिया। असीत 73 वर्ष की आयु में 1053 में तिब्बत में ही मरा।

तिब्बत में भारत के दो विश्वविद्यालयों नालन्दा और विक्रमशिला की बड़ी ख्याति थी और उन्हीं के माध्यम से विशेषत: दोनों देशों में स्नेहभाव घना हुआ। अनेक भारतीय बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद इन ज्ञानपीठों के पण्डितों ने तिब्बत जाकर प्रस्तुत किए। वज्रयान और तन्त्रयान उस देश में समादृत हुए। भारतीय ग्रंथों के अनूदित संग्रह दो विपुल जिल्दों में प्रस्तुत हुए जिनके नाम 'बस्तन-ह्ग्युर' और 'बकह-ह्ग्युर' हैं। बाद में लामा तारानाथ ने बौद्ध धर्म का जो इतिहास लिखा उससे भी भारतीय इतिहास पर प्रचुर प्रभाव पड़ता है।

अनन्त ग्रन्थ तिब्बत के उत्तुंग शिखरों पर बने बौद्ध विहारों के तम पूरित गह्वरों में सुरक्षित हैं। इनमें अनेक ऐसे भी हैं जिनके भारतीय संस्कृत मूल आज लुप्त हो गए हैं। 1937 में भारतीय भिक्षु महापंडित राहुल सांकृत्यायन बाइस खच्चरों पर लाद कर हज़ारों हस्तलिपियां, और जिन्हें भारत लाने की अनुमति नहीं मिली उनकी फोटोस्टेट प्रतिलिपियां, दर्जनों मूर्तियां और टंके भारत लाए। यह सारी सामग्री पटना के संग्रहालय में सुरक्षित है। इन हस्तलिपियों में से अनेक

ऐसी हैं जो मात्र तिब्बती अनुवाद में ही उपलब्ध हैं, उनके भारतीय मूल लुप्त हो चुके हैं। इन्हीं में एक महत्त्व का ग्रंथ प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति का 'प्रमाणवार्तिक' भी था।

कला के क्षेत्र में भी तिब्बत ने प्रभूत पराक्रम किए। नवीं सदी में तिब्बत राजनीतिक शक्ति की मूर्छा पर था। फिर भी उसका अधिकार समूचे मध्य एशिया के पूर्वी भाग, से चुआन, गोबी-मंगोलिया और चीन के उत्तर-पश्चिमी भाग तुन-हुआंग तक हो गया था। तुन-हुआंग में प्राचीनतम तिब्बती चित्रणों के अवशेष मिले हैं। तेरहवीं सदी में चंगेज़ खां के प्रपौत्र कुब्लाइ खां ने लामा धर्म स्वयं स्वीकार कर चीन में उसका प्रचार कराया। चीनी और भारतीय दोनों कलाओं का तिब्बती कला पर स्वाभाविक ही घना प्रभाव पड़ा। अनन्त सिनो-तिब्बती पीतल की मूर्तियां संसार के विविध संग्रहालयों में सुरक्षित पड़ी हैं।

सोलहवीं सदी में दलाई लामा ने तिब्बतीय राजाओं के प्रासाद को लासा में अपना आवास बनाया। राजा की सत्ता अब तक मिट चुकी थी, वहां अब उनकी जगह अवलोकितेश्वर बोधिसत्व का अवतार माने जाने वाले दलाई लामा ने ले ली। मंचू सम्राटों का राजनीतिक अधिकार एक प्रकार से तब के चीन पर जमा जो तब से लगातार चला आ रहा है।

तिब्बती कला की अनेक विधाएं सदियों के दौरान विकसित हुईं। वास्तु उसके राजप्रासादों और उत्तुंग पर्वत शिखरों पर अवस्थित विहारों में मुखर हुआ। लासा का प्रासाद-विहार (पोतल) लकड़ी की बनी शालीन इमारत है जो अनेक मंज़िलों में संपन्न हुआ है, नगर के ऊपर, स्वर्ग की भांति आकाश में स्थित। चित्रकला के संबंध में तुन-हुआंग का उल्लेख किया जा चुका है। पीतल और तांबे की मूर्तियों की ओर भी संकेत किया जा चुका है। अधिकतर चीनी चित्रण मन्दिरों के झंडों पर हुआ है जिन्हें 'टंका' कहते हैं और जिनका उपयोग मन्दिरों और विहारों की दीवारों पर टांगने में भी होता था। इनके दो प्रकार हैं। इनमें एक तो तांत्रिक तथ्यों से रहित अतीश के धार्मिक विश्वास से प्रभावित है। इसमें बुद्ध जीवन की घटनाएं निरूपित होती हैं और इसके प्रतीक बंगाल और तिब्बत के मोटिफों (अभिप्रायों) को सजीव करते हैं। अतीश का प्रभाव तिब्बती धर्म पर बारहवीं सदी के अन्त तक बना रहा था।

दूसरा प्रकार पिछले युगों में प्रस्तुत हुआ। इसमें बुद्ध अक्सर केन्द्र में निरूपित होते हैं और उनके चतुर्दिक् नदियों, मेघों और वृक्षों से स्थानान्तरित अनेक दृश्य रूपायित रहते हैं। इनके अतिरिक्त एक दल ध्यानी बुद्धों, बोधिसत्वों, तारा और भयानक रूप धारे लोकपालों का है जो चित्रणों का विषय है। फिर पद्मसंभव जैसे तांत्रिकों को रूपायित करने वाले टंकों का एक तीसरा वर्ग है। इसी वर्ग में बोन-पो के रहस्यवादी निरूपण हैं जो तांत्रिक विश्वासों से मिलकर भयावह लोकपालों

को चित्रित करते हैं ।[1]

लंका

लंका के अनेक नाम हैं—लंका, श्रीलंका, सिंहल आदि। सिंहल के प्राचीन इतिहास 'दीपवंश' और 'महावंश' से पता चलता है कि जिस राजकुमार सिंहल ने लंका को अपना उपनिवेश बनाया उसके पिता का नाम 'सिंहबाहु' अथवा 'सिंहल' था जिसके नाम पर लंका का नाम 'सिंहल' पड़ा।

भारत के साहित्य में इस द्वीप के प्रति प्राचीनतम और पहला उल्लेख वाल्मीकीय 'रामायण' में मिलता है जहां पहले राक्षसों का निवास था और जिसके राजा रावण द्वारा अपनी पत्नी सीता के हर लिए जाने पर अयोध्या के दशरथपुत्र राम ने उसे सपरिवार नष्ट कर वहां आर्यों का अभ्युदय किया। इस घटना में कितना ऐतिहासिक तथ्य है यह कह सकना तो आसान नहीं पर इससे संभवतः यह निष्कर्ष निकालना अनैतिहासिक और अयुक्तियुक्त न होगा कि राम का लंका में आगमन उस द्वीप के आर्यों द्वारा पहले, औपनिवेशीकरण को प्रमाणित करता है। इस कथा के अनुसार वहां राम के पहुंचने के पहले राक्षसों का निवास था।

इससे कहीं अधिक विश्वसनीय स्वयं लंका में लिखे दो ग्रंथ हैं, दीपवंश और महावंश। इनमें से पहला चौथी शताब्दी ईस्वी में और दूसरा महानाम द्वारा छठी सदी ईस्वी में लिखा गया। दोनों के तथ्य ऐतिहासिक हैं यद्यपि उनमें भी अनैतिहासिक कथाओं की कमी नहीं है। चूंकि दोनों ग्रंथ संघ के प्राचीनतम सिंहली इतिहास की, जो अब प्राप्य हो चुका है, सामग्री पर आधृत हैं सहज ही अपेक्षाकृत विश्वसनीय हैं और उनके आधार पर सिंहल के प्राचीन इतिहास के कुछ अंश क्रमिक इतिहास के रूप में अभिसृष्ट किए जाते हैं। जिनपर, अन्य सामग्री के अभाव में, साधारणतः विश्वास किया जा सकता है। इनका आरंभ अति प्राचीनकाल में होकर दूसरी सदी ईस्वी तक लंका के इतिहास का उदघाटन करता है।

महावंश की अनुश्रुति के अनुसार विजय नाम के राजकुमार को उसके पिता सिंहबाहु अथवा सिंहल ने, उसके दुराचरण के कारण, अपने राज्य बंगाल (अथवा मगध) से निकाल दिया। विजय अपने सात सौ साथियों के साथ ताम्रलिप्ति (ताम्लुक) बन्दरगाह पहुंचा और वहां जहाज़ों का बेड़ा तैयार कर दक्षिण की ओर चल पड़ा। राह में संकट आया और आंधी-तूफान से बेड़ा बिखर गया। विजय का जहाज़ जैसे-तैसे गुजरात-काठियावाड़ के सागर तट पर जा पहुंचा जहां उतरकर वहां के जंगलों में कुछ काल वह रहा फिर दूसरा बेड़ा बनाकर कई दिनों की यात्रा के बाद लंका पहुंचा। वहां नागों और यक्षों का

1. कुमारस्वामी, हिस्ट्री ऑफ इंडियन एंड इंडोनेशियन आर्ट, पृ० 147-48

निवास था पर उन्हें अपने वश में करके विजय वहीं बस गया। लंका की भूमि पर; वह, कहा जाता है, उसी दिन उतरा जिस दिन कुसीनारा में बुद्ध का निर्वाण हुआ। इससे जान पड़ता है कि भारत और लंका का यह संबंध बुद्ध की मृत्यु के दिनों (483 ई० पू०) पांचवीं सदी ई० पू० प्रारंभ हुआ। सिंहली इतिहासों की सामग्री इस प्रकार पांचवीं सदी ई० पू० से आरंभ होकर प्राय: चौथी सदी ईस्वी में राजा महासेन के साथ समाप्त हो जाती है। उसी सामग्री के आधार पर लंका का प्रारंभिक इतिहास जोड़ा गया है। फिर भी इसे स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं जान पड़ती कि विजय के लंका पहुंचने से काफी पहले दक्षिणी भारत की सागरवर्ती भूमि पर बसने वाली तमिल जाति का संबंध रामायण अथवा विजय संबंधी संपर्क से पर्याप्त पूर्व ही उस द्वीप से स्थापित हो गया होगा।

महावंश की कथा के अनुसार विजय ने दक्षिण भारत के सागरवर्ती प्रदेशों से कन्याएं मंगवाकर उनसे अपने साथियों का विवाह कराकर वहीं अपना आवास स्थापित किया। सिंहल में आर्य भाषा खुद तीसरी-दूसरी सदी ई० पू० के अभिलेखों (एलु अथवा हेलु) से भी, जिस भाषा से सिंहली विकसित हुई है, ज्ञात होता है कि सिंहल में भारतीय उससे पहले बस चुके होंगे। इससे वहां बसने का पहला काल विजय के लंका पहुंचने से भिन्न नहीं जान पड़ता। सिंहल के दोनों इतिहासों के अनुसार विजय का उस द्वीप में विधिवत राज्याभिषेक हुआ। पर स्वयं निर्वंश होने के कारण उसे अपने भ्रातापुत्र को देश से बुलाकर अपना उत्तराधिकारी नियत करना पड़ा। उसके कुछ राजाओं के बाद सिहल राज देवानांपियतिस्स का नाम आता है जो ऐतिहासिक व्यक्ति था, जो अशोक का समकालीन था और जिसका अशोक के साथ दौत्य संबंध भी स्थापित हुआ था। देवानांपियतिस्स ने बहुमूल्य उपहार के साथ अशोक के पास अपने दूत भेजे जिनका मगध राज ने स्वागत किया और प्रत्युपहार में अपनी ओर से लंका अभिषेचन सामग्री भेजी जिससे उस राजा का विधिवत् अभिषेक हुआ और भारत ने लंका की स्वतंत्र सत्ता इस प्रकार स्वीकार की और दोनों देशों में मित्र-भाव स्थापित हुआ। यह घटना तीसरी सदी ई० पू० की है।

दूसरी ऐतिहासिक घटना जो इतिहास में प्रसिद्ध है लंका में अशोक के पुत्र महेन्द्र और पुत्री द्वारा तीसरी सदी ई० पू० के मध्य बौद्ध धर्म का प्रचाराख्याति है कि अशोक ने स्वयं ताम्रलिप्ति के बन्दर में जाकर अपने पुत्र-पुत्री को जहाज़ पर चढ़ा कर लंका भेजा। वहां पहुंचकर महेन्द्र ने 'महाविहार' की स्थापना की और अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया। महेन्द्र अपने साथ बोधगया से उस बोधिवृक्ष की एक टहनी भी लेता गया था जिसे उसने लंका के प्रसिद्ध नगर अनुराधपुर में अशोक के शासन काल के अट्ठारहवें वर्ष में रोपा जो कालान्तर

में बढ़कर विशालकाय हो गया। महत्त्व की बात है कि भारत में बोधगया का बोधिवृक्ष काटकर गौड़ नरेश शशांक ने उसकी जड़ों पर अंगार रख दिए थे जिससे वह फिर अंकुरित न हो जाए, पर उस काल से प्राय: तेरह सौ साल बाद 1931 में सारनाथ में जो टहनी अनुराधपुर के वृक्ष से तोड़ कर रोपी वह अब वृक्ष का रूप ले चुका है।

सिंहली परंपरा के अनुसार देवानांपियतिस्स का शासन काल 308 ई० पू० से 268 ई० पू० तक पड़ता है परन्तु अन्य, और भारतीय गणना के अनुसार उसका शासन काल 247 ई० पू० से 207 ई० पू० होता है जिसका अशोक के शासन-काल के साथ ठीक मेल बैठ जाता है जिससे यही काल सही मानना उचित है। कुछ सिंहली राजाओं के बाद उस द्वीप पर तमिल राजकुल का प्रभुत्व हो गया जो वहां 101 ई०पू० तक स्थापित रहा। उसका अन्त होने पर सिंहल के राजा दुट्ठगामणी ने उस वर्ष फिर वहां लंका के राजकुल की स्थापना की। उसने महान् 'स्तूप' का निर्माण किया और भारत से उसके राज्यकाल में अनेक बौद्ध आचार्य लंका पहुंचे। लंका में अब तक भिक्षुओं का प्रभाव काफी बढ़ गया था जिससे उन्होंने ही दुट्ठगामणी के भ्राता राजा सिद्धातिस्स के कनिष्ठ पुत्र को लंका का राजा चुना। आगे के राजविप्लव देशव्यापी थे जिनके दौरान लंका में जैन धर्म का भी प्रादुर्भाव हुआ।

विप्लवों के बाद दुट्ठगामणी ने अपना लंका का राज्य पुन: प्राप्त कर जैनों का संहार किया और बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान किया। उसने रानी सोमदेवी के नाम पर एक बौद्ध विहार का निर्माण कराया। उसका शासन काल 29 ई० पू० से 17 ई० पू० तक रहा जिस बीच उसने त्रिपठकों और अट्ठकथा को लेखबद्ध करा दिया। उसके पुत्र चोरनागर (3 ई० पू०-9 ई०) ने बौद्धों का दमन किया और उनके विहार नष्ट कर दिए। उसके बाद षड्यंत्रों और रक्तपात का काल शुरू हुआ जिसके परिणाम में अनेक राजा विनष्ट हो गए। 120 ई० में तो राजकुल का सर्वथा नाश कर राजप्रासाद का द्वारपाल अपने स्वामी यसलाल-कतिस्स को मारकर अनुराधपुर की गद्दी पर बैठा। उसका नाम शुभ था पर छह वर्ष बाद ही उसका भी अन्त कर लंका में एक नये राजवंश की प्रतिष्ठा हुई।

दूसरी ईस्वी में चोल राज करिकाल ने लंका पर आक्रमण कर वहां काफी नाश कार्य किया जिसका उत्तर गजबाहु ने तमिल देश पर आक्रमण कर और वहां तहस-नहस कर दिया। दोनों देशों में कुछ काल बाद मैत्रीभाव स्थापित हुआ और दोनों ने अपने उपद्रवों पर दु:ख प्रकट किया। लंका के बन्दी लंका को लौटा दिए गए। इस मैत्री के परिणामस्वरूप लंका में हिन्दू मन्दिरों की स्थापना हुई। गजबाहु के निधन के बाद प्राय: 70 वर्ष तक लंका में शान्ति रही। राजा तिस्स

के शासन काल (269-291 ई०) में धर्मविग्रह हुआ। अभयगिरि विहार और महाविहार में महायन के विविध सिद्धान्तों को लेकर झगड़ा खड़ा हो गया। महावंश का वेतुल्यवाद दीपवंश में वितण्डवाद के नाम से विख्यात हुआ। इस वाद का प्रतिपादक-समर्थक अभयगिरि विहार था, इसका प्रतिवादी महाविहार था। महाविहार द्वारा प्रेरित राजात्तिस ने नये सिद्धान्त का दमन कर उसके अनुयायियों को राज्य से बाहर निकाल दिया। इससे भविष्य के उपद्रवों का वीजवपन हो गया।

गोठाभय के शासन काल (309-322 ई०) में तुल्यवाद फिर प्रबल हो उठा। अभयगिरि विहार के भिक्षुओं ने उसका समर्थन किया पर राजा ने उसका दमन किया और उसके 60 प्रधान नेताओं को दाग कर राज्य से बाहर कर दिया। क्रूरता से रक्षा के लिए ये दक्षिण भारत भागे। इनके शिष्य संघमित्त ने बदला लेने का प्रण किया। वह लौटकर लंका पहुंचा। उसने बड़ी चतुराई से राजा की कृपा प्राप्त कर ली और राजकुमारों का शिक्षक नियुक्त हो गया। जेट्ठसिंह ने पिता के बाद दस वर्ष (323-333) राज किया फिर उसका अनुज महासेन गद्दी पर बैठा। उसपर संघमित्त ने घना प्रभाव डाल वेतुल्यवाद के विरोधी महाविहार के भिक्षुओं का दमन कराया। उसने महाविहार की संपत्ति जब्त कर उसे अभयगिरी विहार को दे दिया। फिर राजा ने जेतवन-विहार और उसके भीतर लंका का सबसे शालीन स्तूप बनवाया।

महासेन के शासन के साथ ही द्वीपवंश और महावंश के विवरण समाप्त हो जाते हैं। यद्यपि बाद में महावंश का एक पूरक अध्याय पश्चात्कालीन घटनाओं के विवरण के अर्थ भी जोड़ दिया गया। चौथी सदी के अन्त में लंका भारत के राजनीतिक प्रभाव के परिवेश में भी आ गया प्रतीत होता है। प्रयागस्तंभ के अभिलेख में सिंहल भी अन्य द्वीपों और शक-कुषणादिकों के साथ समुद्रगुप्त की कृपा प्राप्त करने वाले राज्यों में गिना गया है। पर चीनी स्रोतों से पता चलता है कि चाहे सिलोन (सिंहल) ने गुप्त सम्राट के साथ मैत्री रखने की चेष्टा की हो उसकी स्थिति सर्वथा स्वतंत्र थी। इस उल्लेख के अनुसार समुद्रगुप्त का समकालीन सिंहलन्तपति मेघवर्ण था जिसने लगभग 352 से 379 ई० तक राज किया। उल्लेख मिलता है कि उसने दो भिक्षु बोध गया भेजे जिन्होंने लौट कर वहां की असुविधाओं का वर्णन किया। प्रधान असुविधा वहां ठहरने की थी। उस असुविधा को दूर करने के लिए मेघवर्ण ने बोधगया में एक विहार बनवा देना चाहा। इसके निमित्त समुद्रगुप्त की अनुमति अनिवार्य थी। राजा मेघवर्ण ने बहुमूल्य उपहारों के साथ अपने दूत भेजकर गुप्त सम्राट से बोधगया में सिंहली भिक्षुओं के लिए एक विहार और एक अतिथि-गृह बनवाने की अनुमति मांगी और अनुमति मिल जाने पर सिंहलराज ने वहां भवन बनवा दिए।

मेघवर्ण के बाद सिंहल के राजा ज्येष्ठतिष्य और उसका पुत्र बुद्धदास हुए। बुद्धदास के राज्यकाल में भिक्षु महाधर्म कथिन् ने बौद्ध सूत्रों का सिंहली भाषा में अनुवाद किया। यही राजा संभवतः फाह्यान का समकालीन था। चीनी यात्री लंका में 411-12 में रहा था। बुद्धदास के पुत्र राजा उपतिष्य को मरवाकर उसकी पत्नी ने उसके भाई महानामन से विवाह कर लिया जो अब लंका की गद्दी पर विराजमान था। उसके समय में मगध का प्रसिद्ध दार्शनिक बुद्धघोष लंका पहुंचा और वहां कुछ वर्ष रहकर उसने धर्म कार्य किया। लंका पहुंचने का उसका साल संभवतः 412-13 था जब फाह्यान स्वदेश लौट रहा था और भारत में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का शासन काल समाप्त प्राय था।

लंका रोम की भांति राजप्रासादीय षड्यन्त्रों का शिकार था और सदियों रानियों के षड्यन्त्रों से वहां राजाओं की हत्या होती रही और राजा बदलते रहे। बाईस वर्ष राज कर चुकने पर महानामन के पुत्र स्वस्तिसेन ने उसका वध कर गद्दी ले ली। उस पर वह बैठ भी नहीं पाया था कि उसकी सौतेली बहन ने उसकी हत्या कर सिंहल की राजगद्दी अपने पति को दे दी। वह भी शीघ्र मर गया और उसके बाद मंत्रियों ने राज्य मित्रसेन को दिया जिसे दक्षिण भारत के पाण्ड्य राजकुल से आए पाण्ड्य नामधारी व्यक्ति ने मार कर सिंहल पर अधिकार कर लिया। अब दक्षिण भारतीय दमिलों (तमिलों) का उत्तर भारत पर अधिकार हो गया और सिंहली अभिजात ने दक्षिण लंका में रोहण में शरण ली। सत्ताईस वर्ष बाद धातुसेन, जो सिंहली मयूर कुल का था, विदेशियों को निकाल कर सिंहल में फिर स्वदेशी सत्ता स्थापित कर सका। तमिल राजाओं के समय बौद्ध धर्म की बड़ी उपेक्षा हुई पर धातुसेन (460-78) ने सद्धर्म को पुनः प्रतिष्ठित कर अनेक विहारादि देश में खड़े किए। धातुसेन को उसके पुत्र काश्यप ने बन्दी बना कर राज्य पर अधिकार कर लिया और पिता की हत्या कर 18 वर्षों तक शासन किया। अन्त में उसके भ्राता मौद्गालायन ने दक्षिण भारतीय सेनाओं की सहायता से उसका राज्य छीन उसे मौत के घाट उतार दिया।

मौद्गालायन भी सद्धर्म का उपासक था और उसने अपना राजछत्र संघ को सौंप कर श्रद्धापूर्वक शासन करना शुरू कर दिया। सत्रह साल बाद उसके मरने पर उसका पुत्र कुमारदास (513-22) सिंहल का स्वामी हुआ। इसी राजा को 'जानकी हरण' काव्य का रचयिता कहा गया है। कई परम्पराएं कवि कालिदास को इस कुमारदास से जोड़ती हैं। कहा जाता है 'कौन्तलेश्वरदौत्य' लिखने के बाद इस राजा से कवि की मित्रता हुई और यह मित्रता इतनी प्रगाढ़ सिद्ध हुई कि जब कवि मरा तब उसका वियोग न सह सकने के कारण कुमारदास चिताप्रवेश कर जल मरा नि.सन्देह ये मात्र किंवदन्तियां हैं जिनपर विश्वास नहीं किया जा सकता।

कुमारसेन के बाद उसका पुत्र कीर्तिसेन गद्दी पर बैठा पर शीघ्र ही उसके

मामा ने उससे गद्दी छीन ली। पर मौद्गालायन के भगिनीपति उपतिष्य ने उसे मारकर राज्यारोहण किया। फिर जो मार-काट शुरू हुआ उसके बाद मौद्गालायन द्वितीय (537-56) गद्दी पर बैठा। वह प्रजाप्रिय, धार्मिक और विद्यानुरागी था। वह कवि भी था। उसके पुत्र के शासन काल में महानागर (556-59) ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उसके उत्तराधिकारी अग्रबोधि ने लंका में अनेक विहार बनवाए और कुरुदुवव तथा मिहिन्तले नाम की दो प्रसिद्ध झीलें खुदवाईं। उसके उत्तराधिकारी अग्रबोके द्वितीय के शासन काल में कलिंग के राजा और रानी ने सिंहल जाकर प्रसिद्ध बौद्धपंडित ज्योतिःपाल से दीक्षा ली और भिक्षु हो गए। अगले ड़ेढ़ सौ वर्षों का सिंहल का इतिहास मार-काट, विप्लवों और दक्षिण भारतीय दबदबे का था। शिलामेघवर्ण ने निश्चय चालीस साल (719-59) राज किया। सिंहल का दक्षिण भारत के साथ राजनीतिक संबंध चला आ रहा था जो वास्तव में उस द्वीप के हित में न था क्योंकि अधिकतर वहां के भगोड़े ही सहायता के लिए भारत आते थे।

नवीं सदी के मध्य से कुछ पहले से भारतीय आक्रमण भी सिंहल पर होने लगे। पांड्य राजा ने आक्रमण कर राजासेन (824-44) को मलय के पर्वतों में भगा दिया और उत्तरी लंका पर अधिकार कर लिया। आक्रमणकारियों ने खज़ाने से सारा धन और विहारों से सोने-चांदी की मूर्तियां तक ले लीं। फिर सेन के आत्मसमर्पण करने के बाद वे भारत लौटे। अगले शासनकाल में सेन द्वितीय (844-79) ने अपमान का बदला लेने के लिए पांड्यों के विरुद्ध सेना भेजी जिसने मदरा घेर लिया और पांड्य राजा को मार डाला। नगर और खज़ाना लूटने के अतिरिक्त सिंहली वे मूर्तियां भी उठा ले गए जो पांड्या ले आए थे। इन विजयों और संघर्षों का उल्लेख अनेक अभिलेखों में हुआ है। आगे बराबर दक्षिण भारत और लंका में राजनीतिक संपर्क मित्र अथवा शत्रुभाव से बना रहा। पांड्या राजा जब चोलों से हारा तब उसकी प्रार्थना पर काश्यप पंचम ने सेना की सहायता भेजी। राजा दप्पुल चतुर्थ शिलामेघवर्ण (918-30) के राज्यकाल में चोलों से हारकर पांड्या राज ने लंका के राजा की शरण ली पर सहायता न मिलने पर वह केरल चला गया।

राजा उदय के राज्यकाल में चोलराज ने उससे उसके पास छोड़े पांड्य राजा का मुकुट और अन्य रत्न मांगे जिसके न देने पर प्रबल चोल राज ने आक्रमण कर लंका के एक बड़े भाग पर अधिकार कर लिया। इस पर उदय मुकुट आदि लेकर रोहण भाग गया। राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के आक्रमण होने पर चोलराज परान्तक प्रथम (907-53) प्रसिद्ध तक्कोलम के युद्ध में भाग लेने भारत लौटा। अभिलेखों से पता चलता है कि कृष्ण तृतीय ने 959 के पहले ही कभी सिलोन पर भी अधिकार कर लिया था। पर शीघ्र ही बाद सिंहली फिर

स्वतंत्र हो गए।

चोलों ने सिंहल के कुछ विहार जला दिए थे, महेन्द्र चतुर्थ ने उन्हें फिर से बनवा दिया। उसके उत्तराधिकारी के समय फिर तमिलों ने द्वीप तहस-नहस कर डाला। अगले शासनकाल में वेतन न मिलने के कारण मलयाली सैनिकों ने अनुराधपुर के राजप्रासाद को घेर लिया। राजा सुरंग की राह भाग गया पर देश में अराजकता छा गई, और मलयाली तथा कर्णाट सेनाएं शासन करती रहीं। इस स्थिति से लाभ उठाकर प्रबल चोल राजा राजराज ने आक्रमण कर लंका के उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया। शीघ्र ही उसके पुत्र राजेन्द्र चोल ने न केवल दक्षिणी भाग पर भी अधिकार कर लिया बल्कि राजमहिषी को भी लंका के समूचे खज़ाने और महार्घ वस्तुएं तथा पवित्र देवोत्तर संपत्ति भी छीन ली। लंका का राजा महेन्द्र पंचम पकड़कर चोलराज के पास भारत भेज दिया गया जहां वह बारह वर्ष बाद मरा। चोल सेना ने अपने राजा की आज्ञा से समूचे द्वीप को लूट लिया। महेन्द्र के मरने पर काश्यप, उसका पुत्र, कुछ काल के लिए लंका का राजा बना, पर शीघ्र ही फिर वह द्वीप अराजकता से आक्रांत हो गया और चोल राजा उससे लाभान्वित होते रहे। ग्यारहवीं सदी के मध्य तक यही स्थिति बनी रही।

राजाधिराज और उसके अनुज राजेन्द्र 1057 तक लंका पर अपना प्रभुत्व बनाए रहे और वहां के दो राजपुत्रों को पकड़ लिया। 1069 के एक अभिलेख से पता चलता है कि चोलों का प्रभुत्व वीर राजेन्द्र ने भी बनाए रखा। लंकेश्वर विजयबाहु प्रथम श्री संघबोधि ने 1070 के शीघ्र ही बाद लंका को चोलों के आधिपत्य से मुक्त कर दिया। स्वयं उसने 1110 तक राज्य किया। उसने अपनी राजधानी का भी नाम बदल कर विजय राजपुर रख दिया। विजयबाहु ने कलिंग के राजवंश से अनेक वैवाहिक संबंध स्थापित किए। उसने अनेक झीलों और तालाबों का जीर्णोद्धार करवाया। और बर्मा से बुलाकर अनेक बौद्ध आचार्यों को लंका में बसाया।

समर्थ राजा विजयबाहु के बाद पराक्रमबाहु (ल० 1153-86) हुआ जिसने लंका की काया पलट दी। अनुराधपुर को, जिसे चोलों ने नष्ट कर दिया था, उसने फिर बसाया और अनेक विहारों के निर्माण कराए। विविध धार्मिक निर्माणों से उसने नगर शोभायमान किए और बौद्ध संघ को फिर से संगठित किया। रोहण को रानी सुगला से जीत कर वहां से बुद्ध का दांत और भिक्षापात्र मंगवा लिए। उसने दक्षिण भारत के भी पांड्य-चोलयुद्धों में सफल भाग लिए।

1187 के लगभग निःशंकमल्ल सिंहल का राजा हुआ। नौ साल के अपने शासन में उसने अनेक निर्माण कार्य किए। उसने मंदिर बनवाए, बाग लगवाए और तालाब खुदवाए। प्रधान मार्गों पर उसने प्रत्येक गव्युति पर स्तंभ खड़े किए।

उसने रामेश्वर में निःशंकेश्वर नाम का एक मंदिर बनवाया और राजपूताना और कम्बुज के साथ राजनयिक संबंध स्थापित किए। ल० 1197 में रानी लीलावती, (पराक्रमबाहु प्रथम की महिषी) जो भारतीय पिता की कन्या थी, लंका के सिंहासन पर बैठी यद्यपि राज उसने केवल तीन वर्ष किया, उसके बाद निःशंकमल्ल की प्रथम महिषी कल्याणवती ने 6 वर्ष (1202-08) राज किया। 1209 में लीलावती फिर एक बार लंका की गद्दी पर बैठी। बीच में लोकेश्वर नामक एक साहसिक ने दक्षिण भारत से आकर और समूचे द्वीप को जीतकर उस पर नौ महीने शासन किया। लीलावती अब तीसरी बार गद्दी पर लौटी पर सात महीने बाद ही उसे गद्दी से उतार कर पराक्रम पांड्य ने स्वयं तीन वर्ष राज किया। उसी वर्ष कलिंग से 24,000 सेना लिए माघ कलिंग से द्वीप में आ उतरा और उस पर अधिकार कर उसने प्राय: 21 वर्ष (1214-35) भोगा। वह बौद्ध धर्म का विरोधी था और उसने अनेक विहार नष्ट कर दिए।

इसके बाद द्वीप की स्वतंत्र सत्ता नष्ट हो गई। कुछ सिंहली राजा स्थान-स्थान पर राज करते रहे पर कोई समूचे द्वीप को एकाधिकार में न ला सका। चन्द्रबाहु नाम के एक जावानिवासी ने पांड्यों, चोलों और जावानियों की सेना के साथ तेरहवीं सदी के मध्य उस पर आक्रमण किया। शीघ्र ही लंका के राजा विजयबाहु षष्टम को चीन का दूतमण्डल 1411 में पकड़कर चीन ले गया। लंका की हालत निरंतर गिरती गई और तब तक गिरती गई जब तक कि पुर्तगालियों ने द्वीप पर अधिकार कर लिया फिर तो बौद्ध विहारों और हिन्दू मंदिरों का संहार शुरू हो गया और लोग बलपूर्वक ईसाई बनाए जाने लगे।

सिंहल की कला और भारत

सिंहल या लंका की कला, संस्कृति, धर्म, राजनीति, भाषा, साहित्य, इतिहास, दर्शन सभी कुछ भारत से प्रभावित हुआ। राजनीति आदि के संबंध में हम ऊपर लिख आए हैं। यहां कला के संबंध में संक्षिप्त विवरण देंगे।

पहले वास्तु। यद्यपि जो अवशेष आज बच रहे हैं वे प्राचीनतम अधिकतर कुषाण गुप्त और मध्यकालीन हैं। यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि उनमें से अनेक प्राचीनतर आधार पर बने हैं। कला की दृष्टि से लंका का इतिहास अधिकतर तीन कालावधियों में बांटा जाता है—(1) आठवीं सदी ईस्वी तक का प्राचीनकाल, (2) नवीं से चौदहवीं सदी तक का मध्यकाल, और (3) पन्द्रहवीं सदी से अट्ठारहवीं सदी तक उत्तर मध्य काल।

लंका का प्राचीनतम वास्तु स्तूपों का है जिन्हें वहां वाले 'दागबा' कहते हैं। द्वीप के दक्षिणी भाग में स्थित तिस्समहाराम में अनेक स्तूपों के खंडहर आज भी वर्तमान हैं जिनका निर्माण काल ईसा पूर्व तीसरी या दूसरी सदी है। तेरहवीं सदी

से महानाग दागबा का जीर्णोद्धार नहीं हुआ, पर पहली और तीसरी ईस्वी सदियों में उसका यथासंभव नवीकरण हुआ था। 1100 ई० में फिर उसका जीर्णोद्धार हुआ। यट्ठाल दागबा भी महानाग दाथवा की ही भांति तीसरी अथवा दूसरी सदी ई० पू० का बना है। उसका पुनरुद्धार 1883 में हुआ। तब उसमें काफी पुरातात्त्विक सामग्री प्राप्त हुई। अनुराधपुर के प्राचीन दागबा वर्तुलाकार भारतीय प्रकार के हैं।

अनुराधपुर की जंगल भूमि पर अनेक प्रासाद, विहार और दागबा (स्तूप) आज भी खड़े हैं। दागबा के तीन भाग होते हैं—आधार (त्रिमल), अंड और सर्वोपरि भाग हर्मिका और यष्टि। 'थूपाराम' संभवत: 241 ई० पू० में बना। उसका निर्माता देवानांपितिस्स था। इसके नीचे के चौकेन आधार पर गोल वलयों के घेरे हैं जिनके ऊपर अंड है और सबसे ऊपर कई मंज़िलों में हर्मिका जिस पर यष्टि स्थापित है। अंड के आधार पर पहुंचने के लिए पहले सोपान-मार्ग बने थे। स्तूप स्तंभों की रेलिंग से पहले घिरा था। अनुराधपुर के सबसे बड़े स्तूपों में से एक रुवानवेली है जो दुत्तगामणी के शासनकाल में बना था। यह अमरावती के स्तूप से कम से कम डेढ़ गुना बड़ा है। इसकी ऊंचाई 180 फुट है।

बौद्ध मंदिर सिंहल में विहार कहलाते हैं। ये सदा महान स्तूपों से जुड़े हुए पाए गए हैं। अनुराधपुर के प्राचीनतम भवनों में लोहप्रासाद हैं। इसका निर्माण दुद्दगामणी ने कराया था। इसका अब आधार मात्र बच रहा है जिसपर पत्थर के सोलह सौ स्तंभ खड़े हैं। महावंश के कथनानुसार यह विहार नौ-मंज़िला था। प्रासाद लकड़ी का था जिसमें गजदन्त और बहुमूल्य पत्थर जड़े थे और छत उसकी तांबे की थी। चौथी सदी में जल जाने के कारण इसका निर्माण फिर से हुआ पर तब यह पांच ही मंज़िलों का बना। मिहिन्तले स्तूप चौकोन आधार पर खड़ा है जो बारह पत्थर की पट्टियों से ढका है। इसका अंड ईंटों का बना अधिकतर सारनाथ के धमेखस्तूप-सा था।

साधारणत: तो सिंहली बौद्ध धर्म हीनयानी था, पर समय-समय पर महायान का भी अभ्युदय होता रहा। मिहिन्ताले का इन्दिकतुसय दागबा इसी प्रकार का है। प्रज्ञापारमिता संबंधी अभिलेख और लिपि से प्रकट है कि यह आठवीं सदी का था।

रुवानलेली के दागबा का ऊपर का उल्लेख किया जा चुका है। इसके आधार पर बाहर की ओर दूसरी-तीसरी सदी ई० में बनी बुद्ध की मूर्तियां लगी थीं। बुद्ध मूर्तियां अमरावती के स्तूप की मूर्त आकृतियों की ही तरह की हैं पर विशाल और प्राचीनतम मथुरा बुद्धों की भांति कठोर लगती हैं। संघाटी की रेखाओं में गहराई है और उनकी रेखाएं उठी हुई हैं। अनुराधपुर में बनी कुछ कांसे की बुद्ध मूर्तियां चम्पा में डोंगडुओंग के खंडहर में मिली हैं जो दर्शनीय हैं। पांचवीं सदी

में एक बुद्ध मूर्ति चीन भी भेजी गई थी जिसने दक्षिणी चीन की बुद्ध मूर्तियों के निर्माण को प्रभावित किया। रुवनलेली की बुद्ध मूर्तियों के साथ स्तूप के निर्माता दुट्ठगामणी की भी एक मूर्ति मिली जो निस्पन्द है।

इस प्राचीन काल की बैठी बुद्ध मूर्तियां खड़ी मूर्तियों से अधिक प्राणवान हैं। कोलंबो म्यूज़ियम में प्रदर्शित ध्यान मुद्रा में बैठी बुद्ध मूर्ति विशाल और शान्तशालीन है। कटरा के शवदेव, मथुरा की बुद्ध मूर्तियों के यह अनुरूप है। इसके मस्तक पर घूमे हुए केशकुन्तल हैं। अनुराधपुर की प्राचीनतर मूर्तियों में लोकपालों की प्रधान हैं। अधिकतर ये नागों के रूप में उभारी गई हैं जिनके नौ-नौ सिर हैं।

अनुराधपुर के पास ही इसुरुमनिय नाम का विहार है, तालाब के तीर खड़ा। इसपर उभारी मूर्तियां पल्लव शैली की हैं। ताकों में पर्जन्य और अग्नि की आकृतियां हैं। छठी सदी से पहले के भित्तिचित्र लंका में नहीं मिलते यद्यपि महावंश में उल्लेख है कि स्तूपों और विहारों की दीवारों पर सुन्दर आकृतियां चित्रित थीं।

सही अर्थ में और अत्यंत आकर्षक चित्र सिगिरिया की गुहाओं के हैं। वह स्थान 511 से 529 तक पितृहन्ता राजा कस्सप का गढ़ था। चित्र दैवीव्यक्तियों के हैं, अप्सराओं और विद्याधारियों के, जो एकाकी अथवा युगल रूप में आगे को चलती जा रही हैं। ये अधिकतर नग्न हैं, इनका निचला भाग अधर के मेघ ढके हुए हैं। इनकी रेखाएं और वर्णचातुरी दोनों ही अभिराम और सशक्त हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये अजन्ता के या अन्य भारतीय भित्तिचित्रों से प्रभावित हैं। पर निःसन्देह इनकी रूपरेखाएं वर्ण संयुक्त होने से पहले निष्णात आचार्यों द्वारा लिखी गई हैं। आकृतियों का आवयवीय सौन्दर्य दर्शनीय है। मुखों की सुडौलता, स्तनों की सुपुष्ट मंडलकारिता, कटि की क्षीणता, बाहुओं के चढ़ाव-उतार सभी अभिनन्दनीय हैं। नेत्र इनके भारी पलकों से बोझिल हैं, नाक शुकों सी है, होंठ भरे-भरे हैं, सर्वथा सिंहली नारी की भांति। सिगिरिया की ये रूपरेखाएं भारतीय चित्रणों से तो टक्कर लेती ही हैं, संसार की सर्वश्रेष्ठ रेखाओं से संपन्न आकृतियों में गिनी जाती हैं। इनसे सुन्दर चित्र सिंहल में और नहीं बने।

दक्षिण भारत के आक्रमणों के कारण सिंहल के राजाओं को अपनी राजधानी अनुराधपुर से हटा कर आठवीं सदी में पोलोन्नारुव में स्थापित करनी पड़ी। उसके खंडहर उत्तर पूर्व के घने सिंहली जंगलों में तोपवेवा नामक कमलवन से ढके झील के तीर खड़े हैं। इसका निर्माणकाल अधिकतर पराक्रमबाहु प्रथम (1164-97) का शासन काल है। इसकी प्रधान मूर्ति संपदा गल विहार की है। सबसे प्रभावमयी पचास फुट लंबी चट्टान में काटी परिनिर्वाण मूर्ति है। इसी प्रकार की प्रभावोत्पादक पास ही खड़ी पचीस फुट ऊंची चट्टान में कटी बुद्ध

मूर्ति है। इसी झील के तीर खड़ी, चट्टान में उसी शालीनता में कोरी संभवतः पराक्रमबाहु की मूर्ति है। मूर्ति श्मश्रुल (दाढ़ी युक्त) है और सिंहल की शालीनतम मूर्तियों में से एक ।

संभवतः सबसे महत्त्वपूर्ण भवन निर्माण उत्तर कालीन सदियों में निःशंक-मल्ल (1198-1207) के राज्यकाल में हुआ । महान चतुरांगण के बीचोबीच मन्दिरों और विहारों का दल खड़ा है । एक प्रकार से वे समस्त भारतीय भवन निर्वाण परिवार में अनुपम माने जाते हैं। उत्तर-पूर्व में सत-महल-प्रासाद है, सुमेरु पर्वत की कल्पना के अनुसार सात महल । पास ही हेत-दा-गे, 'आठ धातुओं (अस्थियों) का भवन', सुन्दर कटावकार्य से संपन्न भवन है । वलयाकार आधार से यह घिरा है जिस पर बैठे सिंह हैं । इसकी दीवारें, सिवा अभिलेख और हंस के, अधिकतर सूनी हैं । द्वार अलंकृत हैं, दोनों ओर दो नाग और मकर बने हैं । पास ही पराक्रमबाहु का बनवाया वात-दा-गे, 'दांत का वर्तुलाकार मंदिर' है । पहले इसकी लकड़ी और खपड़ैलों की छत स्तंभ-परंपरा पर खड़ी थी । मन्दिर (स्तूप) का आधार मूर्तिहीन है । बीच में सिंहों और वामनों की कतार है। इसके ऊपर प्रदक्षिणा-भूमि है जो चार सोपान मार्गों से पहुंची जाती थी । ऊपर के स्तूप पर बुद्ध की मूर्तियां उभारी हुई हैं ।

निस्संक-लता-मण्डप भी इसी भवन समूह का भाग है, चतुरांगण से घिरा । ऊपर कमल स्तंभों की परंपरा है। पोलोन्नारुव में उत्तरी दिशा का मन्दिर मिट्टी की मूर्तियों से अलंकृत है । ताकों में देवताओं की मूर्तियां स्तंभों से अन्तरित चली गई हैं । भीतर की दीवारों पर कभी जातक कथाएं चित्रित थीं । कभी वे सिगि-रिया के चित्रणों से स्पर्धा करती होंगी पर आज तो निवर्ण हो गई हैं ।

लंका में धातु की भी अभिराम मूर्तियां ढाली गईं । पत्तिनीदेवी की यह हिन्दू मूर्ति धातुकार्य का असामान्य नमूना है ।

पोलोन्नारुव के जंगलों में हिन्दू मंदिर भी अनेक हैं। ये 'शिवदेवले' संभवतः चोल शासन के समय ग्यारहवीं सदी में बने जिन्हें पराक्रमबाहु द्वितीय ने तेरहवीं सदी में अलंकृत कर दिया था । इसके अतिरिक्त भी अनेक मंदिरों के खंडहर वहां खड़े हैं जिनसे धातु की कुछ अद्भुत सुन्दर मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। इनमें सर्वोत्तर नटराज की है जो अब कोलंबो के संग्रहालय में सुरक्षित है । कुछ आश्चर्य नहीं जो इन्हें चोल शिल्पियों में ढाला है। ऐसी अद्भुत सुन्दर मूर्ति सुन्दरमूर्ति स्वामी की है, सौन्दर्य और मान में असाधारण ।

सिंहली मूर्तन और चित्रण, भवन-निर्माण और धातु-मूर्ति प्रसूति अधिकतर भारतीय परंपरा में ही हुई है पर निःसन्देह उनकी अपनी स्थानीय विशेषता है । स्वयं सिंहली कला ने भारत से लिया और दक्षिण-पूर्व की कला को अपने माध्यम से दिया और उसे आद्य किया ।

खण्ड-5

अध्याय-20

भारत और सुदूर-पूर्वी देश

सुदूर पूर्व के दक्षिणी एशिया के देश भारत के चिर ऋणी हैं। उनकी प्रायः समूची सभ्यता—धर्म, दर्शन, साहित्य, कला सब उन्हें भारत से मिला है। पूर्व के देशों में, जहां भारतीय संस्कृति ने वहां की जनता पर अपना घना प्रभाव डाल उन्हें सभ्य बनाया, केवल एक चीन थी जिसकी अपनी सभ्यता थी। उसकी अपनी सभ्यता ही नहीं थी अपनी चिरकालिक संस्कृति था, अत्यंत प्राचीन इतिहास था, कला थी, अपनी भाषा और साहित्य थे, धर्म और दर्शन थे। वस्तुतः चीन को कुछ भी किसी अन्य देश से सीखना न था। भारत से जो उसने धर्म, दर्शन और कला सीखी तो वह इतनी आवश्यकतावश नहीं जिसकी सभ्यताहीन देशों को आवश्यकता हुआ करती है, बल्कि संस्कृति की उस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जिसमें प्रत्येक नई सभ्यता नये अनजाने देश को आकृष्ट करती है और धीरे-धीरे उसके जीवन और विश्वासों में बस जाती है। संपर्क की नई संपदा का यह आकर्षण तो था ही भारतीय धर्म की भी कुछ ऐसी विशेषताएं थीं जो चीनियों के लिए मुआफिक पड़ीं और उन्होंने उस विदेशी धार्मिक सत्ता को स्वीकार किया।

सुदूर पूर्व के एशियाई देशों की स्थिति चीनी स्थिति से सर्वथा भिन्न थी। उनके पास और तो सांस्कृतिक आवश्यकता के रूप में नहीं था वह तो खैर नहीं ही था, ख्यातों से ऐसा भी लगता है कि सभ्यता की पहली अनिवार्य आवश्यकता परिधान तक उनके पास नहीं था जो भारत ने अपने पहले संपर्क में ही उसे प्रदान किया। जैसा यथास्थान हम उल्लेख करेंगे, वहां अनेक जातियों के पास तन ढकने की ज़रूरत की ख्वाहिश तक न थी और वे बाइबिल की आदम-हौवा की सी स्थिति में नंगी डोलती थीं जब भारतीय पर्यटकों का उनके सानिध्य और देश में प्रादुर्भाव हुआ और उनके जीवन की काया पलट गई।

यह यद्यपि चिन्त्य और उत्तर की अपेक्षा रखता है कि वहां की जातियां चीनी समुदाय से आकर भी और उसके समुदाय की ही आधार-भाषा बोलने के बावजूद कैसे चीन की असामान्य सभ्यता से अछूती रह गई, उससे कुछ सीखा नहीं, सिवा भाषा के; और इसके विपरीत भारतीयों से संपर्क होते ही न केवल उनकी भाषा की शब्दावलि और वाक्य योजना में बल्कि समूची जीवनधारा में परिवर्तन हो गया, विश्वास, धर्म, साहित्य सभी नये सिरे से उन्होंने उनसे सीखकर धारण

किए जो चीनी जीवन, संस्कृति आदि सबसे भिन्न थे। स्थिति आज यह है कि यदि भाषा के आदि बीच और आकृति की विशेषता को छोड़ दिया जाए तो उनका चीन से कभी कोई संबंध रहा भी है, इसका आभास तक न मिले।

और सत्य यह है कि बर्मा और मलय से हिन्द-चीन और तोकिन तक इसी प्रकार जावा से बाली-बर्नियों तक की सारी जातियां चीनी समुदाय की संकरता से उत्पन्न हुई हैं और उसी समुदाय की भाषा बोलती हैं। अस्तु, संभवत: ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में दक्षिणी चीन की दिशा से कुछ 'मंगोलाइड' जातियां दक्षिण की ओर संक्रमणशील हुईं और आदिम जंगल और पहाड़, नदियां और सागर लांघ दक्षिण-पूर्व एशिया के इन देशों—बर्मा, मलय, थाई (स्याम), फूनान, हिन्द-चीन, जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो और पास के असंख्य द्वीपों में बस गईं। कैसे उन्होंने सदियों अपना जीवनयापन किया इसे बताने के लिए उनके पास अपना प्राय: कुछ भी नहीं है, सिवा भाषा के उस अविकसित प्राथमिक रूप के जिसे लेकर नये देशों में वे आई थीं। हां, संभवत: उनका रंग उनके आज के रंग से ज़रूर कुछ साफ और अधिकतर पीला रहा होगा, जो संभवत: अब अप्राप्य और अन्यत्र आस्ट्रेलिया, फीजी आदि की ओर संक्रमण कर जाने से अलभ्य जातियों का मिश्रण कुछ सांवला-गेहुंआ-पीताभ हो गया यद्यपि माथे और नाक-नक्श में फिर भी चीनी आभास बना रहा।

भारत का संपर्क इन देशों अथवा इनमें बसने वाली जातियों से कब और कैसे हुआ यह आज ठीक-ठीक बता पाना कठिन है, पर इसमें सन्देह नहीं कि व्यापार के ही संदर्भ में भारत इनके संपर्क में पहले पहल आया होगा। भारतीय नाविक अत्यंत प्राचीन काल से पश्चिमी और पूर्वी समुद्रों की यात्रा करते रहे हैं। प्रमाण मिलते हैं कि पश्चिम में जर्मनी और पूरब में जापान तक संयोग से उनके जहाज़ जा पहुंचे थे। फिर भी इस तर्क्य स्थिति को छोड़ देने पर भी इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि ईसा पूर्व की सदियों में ही किसी-न-किसी मात्रा में इन देशों के साथ भारत का संबंध जुड़ चुका था।

व्यापारिक संबंध ही इस संपर्क का साधन था, इसमें भी इस कारण सन्देह नहीं किया जा सकता कि इन पूर्व के देशों का उल्लेख प्राचीन भारतीय साहित्य में 'सुवर्ण-भूमि' और 'सुवर्ण-द्वीप' के नाम से हुआ है जो तभी संभव था जब उस दिशा से वास्तविक अथवा व्यंजना रूप में स्वर्ण आने की संभावना रही हो। वस्तुत: कुछ अरब भौगोलिकों का तो कहना है—जिसका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे—कि मलय, जावा आदि के द्वीपों से स्वर्णधूलि मिलती थी जिसे लोग साफ करके राशि कर लिया करते थे जिसे उनका यह नाम पड़ा।

यह भी नि:सन्देह एक सीमा तक ही सही हो सकता है पर सामान्यत: वहां से सुवर्ण, बहुमूल्य पत्थर, रत्नादि, खनिज और विशेषत: गरम मसालों के आयात

से भी उनका यह नाम पड़ जाना अस्वाभाविक नहीं। मसालों का व्यवसाय, केरल के मलय आदि स्थलों से उनकी प्राप्ति के बावजूद, पूरब के देशों से, और चिरकाल से, बहुत रहा है जिससे भारतीय मांझियों का सागर पार उधर जा पहुंचना अत्यंत स्वाभाविक था। पांचवीं सदी के, अर्थात् बहुत पीछे के, कालिदास ने अपने महाकाव्य 'रघुवंश' में तो लवंग-पुष्पों के उधर से बह आने की बात तक लिखी है।

इसके अतिरिक्त भारतीय साहित्य में अनेकधा इन पूर्व के देशों की यात्रा का कथा प्रसंता में उल्लेख हुआ है जिनका संक्षिप्त विवरण यहां दे देना अनुचित न होगा।

गुणाठ्य की 'बड़कहा' (बृहत्कथा) 'जातकों' और 'कथाकोश' में भृगुकच्छ अथवा ताम्रलिप्ति से 'सुवर्णद्वीप' अथवा सुवर्ण भूमि जाने और वहां से धन-सुवर्ण लेने की अनेक कथाएं कही गई हैं। इसी प्रकार नागसेन के 'मिलिन्द-पह्न' में भी सुवर्णभूमि की यात्रा का उल्लेख हुआ है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के अनुसार अगुरु सुवर्णभूमि से आता था। 'निद्दस' में सुवर्णभूमि जाने और मार्ग के कष्टों का कुछ सच्चा कुछ काल्पनिक वर्णन हुआ। तोलेमी के 'भूगोल' (ज्योग्राफी) में लिखा है कि उसके समय (दूसरी ईस्वी) में यवद्वीप (जावा) में अनेक स्थानों के भारतीय नाम प्रचलित हो गए थे।

सुवर्णभूमि अथवा बर्मा की राह जाने के दो मार्ग थे—एक तो अपेक्षाकृत निरापद जलमार्ग था, दूसरा स्थलमार्ग। जलमार्ग दो थे, पश्चिमी सागर तट शूपरिक अथवा भृगुकच्छ से लंका होकर सीधे मलय अथवा जावा जाने वाला या पूर्वी सागर तट के बन्दर ताम्रलिप्ति (ज़िला मिदनापुर में ताम्लुक) से सीधा बंगाल की खाड़ी पार करने वाला। ताम्लुक से जाने वाले जहाज़ बर्मा, मलय होते या सीधे जावा, हिन्दचीन, चीन की ओर चले जाते थे। पूर्व तट पर गंजाम (उड़ीसा) में गोपालपुर के पास पालूरा और मसूलीपत्नम से भी पूर्व की ओर जहाज़ जाते थे। ताम्लुक से जहाज़ लंका भी जाया करते थे। इसी राह अशोक ने अपने पुत्र-पुत्री महेन्द्र और संघमित्रा को लंका भेजा था। लंका से भी जहाज़ सीधे सुवर्णभूमि को जाया करते थे। तृतीय शती ई० पू० में ही अशोक द्वारा धर्म-प्रचार के लिए सुवर्णभूमि को भेजे दो भिक्षुओं स्रोण और उत्तर का उल्लेख मिलता है। इससे निष्कर्ष तो यह निकलना चाहिए कि तब से कुछ पूर्व ही इन पूर्वी द्वीपों में कुछ का भारतीयकरण हो चुका था। आज यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सुवर्णभूमि नाम बर्मा का था या मलय का या जावा का। इसके अतिरिक्त भी अन्य द्वीपों के नाम मिलते हैं जो वहां होने वाली वस्तुओं या वृक्षों के नाम पर रख दिए गए हैं और जिनकी पहचान आज नहीं की जा सकती, जैसे, रुप्यक-द्वीप, ताम्र-द्वीप, यव-द्वीप, शंख-द्वीप, कर्पूर-द्वीप, नारिकेल-द्वीप,

लंका-द्वीप।

स्थल मार्ग आज की ही भांति मणिपुर और आसाम होकर बर्मा जाते थे। पर कई मार्ग मणिपुर की राह ऊपरी बर्मा और आराकान की राह निचले बर्मा पहुंचते थे। बर्मा से एक उत्तरी मार्ग युन्नन होकर चीन चला जाता था। निचले बर्मा से प्रायः जलमार्ग से लोग अन्य द्वीपों और चीन आदि की यात्रा करते थे।

नीचे भारत के निकटतम पूर्वी देशों से दूरतम देशों का विवरण दिया जाता है, जिस क्रम में पहले बर्मा फिर मलय देश आते हैं। उनके बाद स्याम, फूनान, हिन्दचीन, चम्पाआदि या सुमात्रा, जावा, बाली, बोर्नियो आदि। हम पहले बर्मा से भारतीय संबंध पर प्रकाश डालेंगे।

बर्मा

ब्रह्मदेश या बर्मा, संभवतः म्रम्म जाति के नाम पर म्रम्म अथवा म्रम्मा कहलाता था जिसका नाम पीछे भारतीयों ने संस्कृत में ब्रह्मा या ब्रह्मदेश रख दिया। म्रम्म अथवा आज के बर्मी अनेक जातियों के सम्मिश्रण हैं। ये जातियां हैं, नागा, कुकी, मिश्मी लेप्चा, अबोर और भूटिया। ईसा पूर्व की प्रथम सहस्राब्दी के बीच के आसपास मध्य एशिया से आई प्यूस जाति उत्तरी बर्मा में बस चुकी थी। उत्तर में प्रधाने प्यूस थे और दक्षिण में तलाइंग। म्रम्म संभवतः तिब्बत के निवासी थे और ब्रह्मपुत्र और हिन्द विन नदियों के किनारे-किनारे आकर बर्मा में बस गए थे। बाद में म्रम्म प्यूस जाति के संपर्क में आए जो अब तक हिन्दू धर्म के प्रभाव में आ चुके थे।

बर्मा से भारत का संबंध संभवतः मौर्यकाल में ही स्थल और जल दोनों मार्गों से स्थापित हो चुका था और पहली सदी ईस्वी में ही वहां भारतीय बस्तियां बस चुकी थीं। उत्तर में इरावदी नदी के तीर तगौंग (पुराना प्रोम, श्री क्षेत्र और पिसानू स्यो अर्थात विष्णु का नगर) और दक्षिण में सागर तट के थोतोन पर भारतीय सभ्यता का घना प्रभाव था। 450 ई० के लगभग प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक बुद्धघोष पाली पुस्तकें लेकर थातोन पहुंच गए थे। इस प्रकार पांचवीं सदी से प्रोम और थातोन बौद्ध और हिन्दू धर्मों के महान केन्द्र बन चुके थे। तागौंग, प्रोम, थातोन और अन्य स्थानों में गुप्त शैली से प्रभावित वैष्णव और शैव मूर्तियां, बौद्धस्तूप, ईंटों के भवन, मृण्मूर्तियां पांचवीं सदी से ही मिलने लगती हैं। प्रकट है उत्तर में महायान और दक्षिण में हीनयान प्रभावशाली हो गए थे। थातोन में दक्षिणी भारतीय लिपि में खुदे पाली भाषा में अनेक अभिलेख मिले हैं जो स्वाभाविक ही हीनयानी संप्रदाय के हैं। बर्मा में एक ही अभिलेख संस्कृत में प्रोम में मिला है जो महायान से संबंधित है। दक्षिणी भारतीय लिपि के प्रयोग से स्पष्ट है कि उसका प्रचार करने वाले भारतीय दक्षिण के थे जहां उस लिपि का

प्रचार था। जल की राह ये दक्षिण भारतीय बर्मा पहुंचे होंगे और थातोन आदि में समुद्रतट पर बस गए होंगे। अन्य पूर्वी भारत प्रभावित देशों से कहीं अधिक बौद्ध बर्मा आरंभ में ही हो गया। उत्तरी बर्मा में संभवतः नेपाली प्रभाव से तन्त्रों का बहुशः प्रचार हुआ। बर्मा में पहले शकसंवत का उपयोग होने लगा पीछे, 639 ई० में बर्मा संवत का उपयोग होने लगा।

आठवीं सदी में पेगू के तलाइंगों ने प्रोम को जीतकर अपनी नई उत्तरवर्ती राजधानी पुराने पगान में स्थापित की। संभवतः इसी विजय और म्रम्य शक्ति की स्थापना के स्मारक स्वरूप इस बर्मा संवत (638-39) का आरंभ हुआ। नई राजधानी का दक्षिणी द्वार, जो संवतः 847 का है, आज भी खड़ा है। आठवीं-नवीं सदियों में उत्तर से शान-थाई आक्रमण होते रहे जिससे नया तिब्बती रक्त बर्मियों को मिला। जिससे प्यूस नष्ट हो गए और तलाइंग उसी में खो गए। कुछ प्रमाणों के अनुसार पगान की स्थापना प्यान्प्य ने 849 ई० में की। पर इस इतिहास का विस्तार करने से पूर्व इसकी पीठिका के रूप में एकाध बातें समझा देनी आवश्यक जान पड़ती हैं।

चीनी यात्री हुएन्त्सांग ने यद्यपि बर्मा, हिन्दचीन की यात्रा नहीं की, उसने इन देशों और इनके नगरों का उल्लेख बंगाल में सुन कर किया। वह पूर्व के ऐसे अनेक देशों व नगरों का ज़िक्र करता है जिनमें हिन्दूराज्य स्थापित हो गए थे, जैसे निचले बर्मा में श्रीक्षेत्र (राजधानी) 'प्रोम' द्वारवती, महा चम्पा आदि। द्वारवती मोनो अथवा तलाइंगों का निवास था जिन्होंने हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया था। इन्हीं मोनों ने सागर-तीर के रमण देश पर भी अधिकार कर लिया था। वहां से हिन्दू उत्तरी स्याम और लाओस की ओर भी जा बसे और वहां अपनी शक्ति और सत्ता प्रतिष्ठित की। उन्होंने वहां अपने अनेक उपनिवेश बसाए जिनके राजाओं के भारतीय नाम और बौद्ध विहारों के निर्माण के उल्लेख पाली ग्रंथों में सुरक्षित हैं। वहां बौद्ध मूर्तियों और अभिलेखों की प्राप्ति ने यह प्रमाण पुष्ट कर दिया है।

हिन्दू उपनिवेश उत्तर के थाइयों से फैले जो स्याम और बर्मा के बीच बसे थे। इनमें सबसे शक्तिमान राज्य युन्नव था जिसका दूसरा नाम 'गान्धार' और एक भाग का नाम 'विदेहराज्य' था।

बर्मा के अनेक राजकुलों के नाम वहां के अभिलेखों और सिक्कों से उपलब्ध हुए हैं। श्रीक्षेत्र के अभिलेख और उसमें लिखे राजकुल का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अभिलेखों में एक संस्कृत में अन्य प्यू भाषाओं और भारतीय लिपि में लिखे हैं। संस्कृत अभिलेख एक बुद्ध मूर्ति के आसन पर खुदा है जिसमें हिन्दू राजा जयचन्द्र वर्मन का नाम लिखा है। अन्य स्रोतों से वहां जयचन्द्र वर्मन से पहले राज करने वालों के नाम मिलते हैं जो हरिविक्रम, सिंहविक्रम और सूर्यविक्रम हैं। इन्होंने श्रीक्षेत्र में राज किया था। श्री धर्मराजानुजवंश नाम के हिन्दू

राजकुल ने आराकान में 600-1000 ई० के बीच राज किया था। संभवतः उस राजकुल की राजधानी वैशाली थी जिसके खंडहर म्रोहौंग से आठ मील उत्तर-पश्चिम में वेथली में आज भी खड़े हैं। वहां के कुछ राजाओं के नाम हैं— बालचन्द्र, देवचन्द्र, धर्मचन्द्र, बीरचन्द्र आदि।

ग्यारहवीं सदी से बर्मी राजनीतिक इतिहास उसके समकालीन अभिलेखों की सहायता से जोड़ा जा सकता है। इनसे पता चलता है कि पगान का नाम अरिमर्दनपुर था और उसका प्रसिद्ध राजा अनिरुद्ध (बर्मी ख्यातों का अनवरथ) 1044 ई० में गद्दी पर बैठा। ब्राह्मण भिक्षु द्वारा उसके देर बाद बौद्ध धर्म में दीक्षित कर दिए जाने के दिन से वहां से उसका तांत्रिक धर्म उठ गया। अनिरुद्ध मोन राजा को बन्दी कर पगान लाया। उसके साथ ही राजा 32 हाथियों पर लाद कर अनेक बौद्ध ग्रन्थ और मूर्तियां लाया और अनेक भिक्षु तथा मूर्तिकार, चित्रकार और मूर्तियां लाया तथा अन्य कलावन्त भी उसने वहां से बुला लिए। पर इसका परिणाम उलटा हुआ क्योंकि मोन प्रकार की हिन्दू संस्कृति अब म्रम्मों पर हावी हो गई। उनका धर्म, उनकी कला, उनकी लिपि सब म्रम्मों ने स्वीकार कर ली। इस प्रकार यद्यपि म्रम्मों ने मोनों पर राजनीतिक विजय प्राप्त की सांस्कृतिक दृष्टि से वे सर्वथा उनके विजित स्वयं हो गए। फिर भी अनिरुद्ध की इस विजय ने उसकी अन्य विजयों के लिए भूमि तैयार कर दी और शीघ्र ही उसने तेन स्सेरिम को छोड़ शेष प्रायः समूचे बर्मा पर अधिकार कर लिया। लगता है कि पश्चिम में भारत की ओर भी उसने कुछ भूमि जीती क्योंकि बर्मी ख्यातें बंगाल के टिपरा ज़िले में पट्टिकेरा को उसके राज्य के अन्तर्गत बताते हैं। संभवतः उनके इस कथन की पुष्टि इस बात से भी होती है कि उसने बंगाली राजकुमारी को ब्याहा था। अनिरुद्ध ने दो महान् कार्य किए। एक तो उसने हीनयानी बौद्ध धर्म का प्रचार किया जो आज भी वहां प्रचलित है, दूसरा उसने समूचे बर्मा को एक शासन के अन्तर्गत संयुक्त कर दिया। अनिरुद्ध के नाम से और उसके क्रियाकलाप से बर्मी ख्यातों का इतिहास भरा है। उसके अनुसार उसने भूमि की सिंचाई का विशेष प्रबंध किया, नहरें खुदवा कर नदियों को मिलाया, मन्दिर और विहार बनवाए। उसकी शक्ति इतनी बढ़ी कि लंका के राजा उसकी सहायता निमंत्रित करने लगे।

जैसा अक्सर होता है इस प्रबल पति अनिरुद्ध के मरने पर पेगू के मोनों को विद्रोह करने का अवसर मिला। उन्होंने राजधानी पगान पर चढ़ाई कर अनिरुद्ध के पुत्र नये राजा को मार डाला, पर उसके दूसरे पुत्र क्यान्ज़ित्थ (ज्ञान सिद्ध) ने मोर्चा संभाला और उन्हें मार भगाया। फिर वह श्रीत्रिभुवना-दित्य-धर्मराज नाम से पिता की गद्दी पर बैठा और 1084 में उसका औपचारिक अभिषेक हुआ। अनिरुद्ध का यह पुत्र उसकी भारतीय रानी से जन्मा था जिसका

परिणाम यह हुआ कि उसके शासन काल में भारतीय बौद्धों और वैष्णवों के लिए बर्मा का द्वार खुल गया और वे बड़ी संख्या में वहां जा बसे। उनके ही प्रभाव से उसने अपना प्रसिद्ध मंदिर 'आनन्द' नाम का बनवाया। उसने बर्मा में अनेक अन्य मंदिर बनवाए और बर्मी इतिहास के अनुसार भारत के बोध-गया के मंदिर का पुनरुद्धार कराया। उसने अपने पिता की विजयों द्वारा विजित न होने पाए तेनास्सेरिम को भी जीतकर अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। उसने चोल राजकुमारी से विवाह किया और चीन के सम्राट को अपने दूत भेजे। अट्ठाइस वर्ष राज करने पर 1112 में वह मरा। उसके पुत्र न होने से उसका दौहित्र अलौंग सित्थु (1112-67) उसका उत्तराधिकारी हुआ और यद्यपि नये राजा ने 55 वर्ष राज्य भोगा, उसका शासन अधिकतर उपद्रवों से भरा रहा। स्वयं उसके पुत्र नरत्थु ने स्वयं उसका वध कर डाला। उसने राजकुल के अनेक अन्य पुरुषों के साथ ही अपने पिता की, विमाता की, भारतीय रानी की भी हत्या करा दी। पर वह स्वयं भी दो साल से अधिक गद्दी पर न रह सका और 1170 में पट्टिकेरा के पिता ने अपने आठ रक्षक भिक्षु के वेश में बर्मा भेजकर और राजा का वध कराकर अपनी पुत्री की हत्या का बदला लिया। उसके पुत्र नये राजा नरसिंह को उसके अनुज नरपति सित्थु ने तीन साल बाद मारकर सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उसने शीघ्र ही अपने राज्य में सिंहली हीनयान संप्रदाय का प्रवेश कराया। इस कुल के बाद के राजाओं ने कुछ मंदिरों और विहारों के निर्माण कराए। 1271 में कुब्लाइ खां ने दूत भेज कर राजा को अपनी अधीनता स्वीकार करने का संवाद भेजा। राजा ने दूत को मरवा कर दक्षिणी-चीन पर हमला कर दिया। कुब्लाई के पोते ने बर्मा पर चढ़ाई की, राजा घर के ही विद्रोह में 1287 में मारा गया और मंगोलों ने पगान को जलाकर उस राज्य का अन्त कर दिया। बर्मा अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया और उसकी शक्ति तथा वास्तविक स्वतंत्रता का भी अन्त हो गया।

बर्मा की कला

भारतीय कला ने किस गहरी मात्रा में बर्मा की कला को प्रभावित किया यह वहां के मंदिरों, विहारों, स्तूपों और मूर्तियों से प्रकट है। केवल पगान के पास लगभग 5000 पगोदों के खंडहर खड़े हैं, अधिकतर पगोदे ईंटों के हैं, केवल कुछ ही जैसे नन्पाया का, पत्थर के हैं। नात ह्लाबश ग्यौंग और आनन्द (ग्यारहवीं सदी) के अपनी मूर्तियों के लिए प्रख्यात हैं। क्यान्जित्थु और कोन्दौग्यी के पगोदों में भित्ति चित्रण हुए हैं, आनन्द आदि में जातक कथाएं मिट्टी की मूर्तनों में उभारी गई हैं। इनके रूप अक्सर पाल काल के पतले-ऊंचे स्तूपों जैसे हैं, कुछ, जैसे स्पादा और पोबिन ग्याउंग में सिंहली प्रकार के अर्ध वर्तुलाकार भी हैं। कुछ

पर उत्तर भारतीय मंदिरों के से शिखर हैं। कुछ सोपान मार्गों से इस प्रकार सुशोभित हैं कि उनसे कम्बुज और बोरोबुडुर के मंदिरों की याद आ जाती है। महाबोधि के मंदिर का शिखर बोध-गया के मंदिर का सा है।

प्राचीनतर मूर्तन, सातवीं-आठवीं सदी का, अधिकतर गुप्त परम्परा में हुआ है। गुप्तकाल की एक कांस्य मूर्ति जो वहां मिली वह भारत से आई बताई जाती है। नात ह्लाउश ग्यौंग के दशावतार मूर्तन स्पष्टतः भारतीय हैं, नान्पाया के अर्धचित्रण (रिलीफ) भी इसी प्रकार के हैं। बहुत-सी कांस्य प्रतिमाएं तो बंगाल अथवा बिहार से लाई गई जान पड़ती हैं। आनन्द पगोदा में 81 रिलीफ (उभारी मूर्तियों का प्रसार) अविदुर-निदान के अनुसार बुद्ध के जीवन की घटनाओं को दृश्य मानकर ही हैं। ये वस्तुतः बर्मी क्लासिकल युग के उदाहरण हैं। उन्हीं में उस मंदिर के निर्माता क्यान्ज़ित्थ की मूर्ति प्रदर्शित है। सजीवता और गतिशीलता में ये अपने उदाहरण आप हैं। पगोदों में प्रायः जातक कथाएं 'रिलीफ' में उभारी गई हैं।

पगान के पगोदों की दीवारों पर कुछ सुन्दर चित्रण हुआ है। कुबेज़ात्पाया और कव्यौकरी में अलग-अलग खाने बना लिए गए हैं जिनके चित्रणों के विस्तार दूर तक चले गए हैं। इनके अतिरिक्त बुद्ध और बोधिसत्वों के भी अनेकानेक रूपायन हुए हैं। मिनान्थू के पायाथोन्ज़ के त्रिवर्गीय मंदिरों में बौद्ध, हिन्दू और तान्त्रिक चित्रण हैं, प्रायः यौन-भित्तिचित्रों में बंगाली और नेपाली शैली की प्रधानता है। अधिकतर चित्रण 'तीन चश्मी शबीह' में हुआ है जिसमें एक आंख गुजराती लघु चित्रों की भांति आगे को निकली पड़ती है।

प्रोम के आसपास के खंडहरों में पूर्वी चालुक्य लिपि में सातवीं सदी के सुनहरे अभिलेख मिले हैं। प्राचीन स्तूप वर्तुलाकार बने हैं जिनमें सबसे सुन्दर बाबबवग्यी का 150 फुट ऊंचा है और पांच मंज़िलों—विमानों—से घिरा है। यह आठवीं सदीका है। इसकी मूर्तियां कुषाण-गुप्त परम्परा में बनी हैं, अधिकतर बुद्ध और चलैरचारियों की हैं। पंगू में अनेक स्तूप हैं। इनमें से एक, श्वेमाओदाओका, 288 फुट ऊंचा है और उसकी परिधि 1350 फुट की है। नगर के पच्छिमी ओर परिनिर्वाण बुद्ध की एक मूर्ति है जो 181 फुट लंबी है।

मलय

भारत से चीन अथवा अन्य पूर्वी देशों को जाने वाले जहाज़ मलय प्रायद्वीप होकर ही जाया करते थे, इससे वह यातायात का बहुत बड़ा मार्ग हो गया था जिसका प्रधान केन्द्र तक्कोला (तकुआ-पा) था। भारतीय सौदागर और उपनिवेश निर्माता पहले वहीं उतरते थे। वहीं से होकर स्याम, कम्बुज, आदि की यात्राएं होती थीं। ताकुआ-पा और उसके समीप बहुत से-मन्दिरों, स्तूपों आदि के खंडहर

मूर्तियां और संस्कृत के अभिलेख मिले हैं। कहना न होगा कि चौथी-पांचवीं सदी ईस्वी में प्रायद्वीप भारत से आकर बसने वालों से भर गया था। यहां के एक अभिलेख में रक्तमृत्तिका के 'महानाविक' बुद्धगुप्त की प्रार्थना सफलतापूर्वक वहां तक सागरीय यात्रा समाप्त करने के संबंध में है। रक्तमृत्तिका, विद्वानों की राय में, मुर्शिदाबाद (बंगाल) से 12 मील दक्षिण का रांगामाटी है।

मलय प्रायद्वीप में भी भारतीय उपनिवेश निर्माताओं ने अनेक हिन्दू राज्य स्थापित किए। एक ऐसा राज्य लांग-किया-सू का था जहां का राजा एक भारतीय का पुत्र भागोदातो (भगदत्त) बताया जाता है जिसने अपना आदित्य नाम का राजदूत चीनी सम्राट् के पास 515 ई० में भेजा था। चीनी साहित्य से प्रमाणित है कि इस राज्य का आरंभ पहली या दूसरी सदी ईस्वी में ही हो गया था।

मलय के उपनिवेशों में नाखोन का राज्य था जिसे श्री धम्मरात (लिगोर) कहते थे। वहां बौद्धों का इसी ना का महान् स्तूप था जिसके चारों ओर पचास मंदिर बने थे। काइया का उपनिवेश उससे उत्तर की ओर था जो पहले ब्राह्मण प्रधान था पीछे जहां बौद्धों की प्रधानता हो गई। बन्दोन की खाड़ी के तीर भी भारतीय बसे थे। वह स्थान अब पन-चन कहलाता है। वहां के श्रीमान् और राजा ब्राह्मणों के भक्त थे और ब्राह्मण वहां दान के अर्थ बड़ी संख्या में जाया करते थे। चीनी पुस्तकों में जो वहां के राजाओं के नाम मिलते हैं वे सर्वथा हिन्दू हैं, जैसे समद्र, विजयवर्मन्।

साम्राज्य निर्माता प्रसिद्ध शैलेन्द्रों का मूल भी मलय ही माना जाता है। चीनी यात्री ईत्सिंग 690 ई० के लगभग लिखता है कि तब मलय श्री विजय के अधीन हो गया था। उसने कुछ दिन वहां ठहरकर मलय-भाषा का अध्ययन किया था। बैंकाक म्यूज़ियम की एक बुद्ध मूर्ति के आसन पर एक अभिलेख है जिससे पता चलता है कि मलय के ही एक राजा के आदेश से उसके शासक ने मूर्ति को 1250 में बनवाया था।

पूर्व और पश्चिम की राह के बीच में पड़ने से मलय प्रायद्वीप धनाढ्य हो गया था। अरब यात्रियों ने भी उसके धन का वर्णन किया है। सुवर्णद्वीप से तब समूचे मलय प्रायद्वीप और उसके द्वीपसमूह का तात्पर्य होता था। सुलेमान (851 ई०) लिखता है कि कला-बार (मलय प्रायद्वीप में क्रा के पास का भूखण्ड) ज़ाबाग के राजा के अधिकार में है जहां से उसे बहुत धन प्राप्त होता है।

स्याम

स्याम नाम संभवत: इस देश को, जो पूर्व में बर्मा से लगा हुआ है, भारतीयों का दिया हुआ है। आज इसका नाम थाइलैंड है कारण कि इसके प्राचीन निवासी थाई ही थे जिनके पूर्वज चीनी-तिब्बती लाओस-थाई थे। थाई मंगोले जाति के थे

जो संभवत: दक्षिणी चीन से आए थे। ईसाई सदियों के आरंभ में आकर बर्मा के पूर्व में उन्होंने समूचे हिन्द-चीन पर अपने छोटे-छोटे स्थायित्व स्थापित कर लिए। यही काल -- पहली-दूसरी सदी ईस्वी—था जब भारत ने भी स्याम में अनेक उपनिवेश स्थापित किए।

स्याम में जो पुरातत्व संबंधी खुदाइयां हुई हैं उनसे स्पष्ट पता चलता है कि जैसे हिन्दू-चीन में वैसे ही स्याम में भी भारतीय संस्कृति विस्तारपूर्वक व्यवहार में आने लगी थी। यद्यपि स्याम का इस काल का राजनीतिक इतिहास अधिकतर अन्धकार में है, पता चलता है कि थाइयों ने शीघ्र ही स्याम, कम्बुज और मलय प्रायद्वीप के अधिकतर भाग पर अधिकार कर लिया। प्राय: सबसे पहली थाई राजधानी लाम्फून में 575 ई० के लगभग स्थापित हुई। कुछ और दक्षिण में लाओ थाई और ख्मेर जातियों ने मिलकर सुखोताई-सवांकलोक का प्रबल राज्य खड़ा किया। इन दोनों युगल राजधानियों के दूसरे नाम सुखोदय और सज्जनालय भी हैं। ख्मेरों के माध्यम से वहां भारतीय संस्कृति—ब्राह्मण और बौद्ध दोनों—स्थापित हुईं। राज्य अपनी शक्ति की चोटी पर ग्यारहवीं सदी में पहुंचा।

इसी बीच लोवपुरी फूनान (कम्बुज) के अधिकार में आ गई। उसके राज्य में दक्षिण बर्मा का एक भाग और उत्तरी मलय, श्री धर्मराजनगर (श्री नाकोन धमरात) तक रहे थे। दक्षिण की प्रधान नगरी द्वारवती थी, बाद में अयुथिया (अयोध्या) हुई।

स्याम पहुंचने पर थाइयों के दो दल विशेषत: बलवान हो गए और यन्न तथा तोंकिन में बस गए थे। इनमें से दूसरा अन्नामी कहलाया जिसे चम्पा के साथ ही दीर्घकालीन संघर्ष करना पड़ा। इसकी संस्कृति स्वाभाविक ही पहले चीनी थी। पर पहला वर्ग शीघ्र ही भारतीय संस्कृति के परिवेश में आ गया था। उसका मूल देश दक्षिणी चीन का यन्नन प्रान्त था जिसे चीनी नाम-चाओ कहते थे। हिन्दू चीन में इसका नया नाम गान्धार हो गया था। यह वर्ग से इस हद तक प्रभावित था कि इसका नाम विदेह राज्य पड़ गया था और इसकी राजधानी का मिथिला। वहां भारतीय लिपि का उपयोग होता था। युन्नन की स्थानीय परम्परा का तो विश्वास था कि स्वयं अवलोकितेश्वर ने भारत से वहां जाकर वहां के निवासियों को बौद्ध बनाया था। कहते हैं कि आठवीं सदी में वहां का राजा चीनी संस्कृति, दर्शन तथा विश्वास की ओर झुका और शीघ्र भारत से सात आचार्य आए और उन्होंने राजा की भर्त्सना कर उसे सद्धर्म में कायम रखा। नवीं सदी में भारत और युन्नन के बीच का संबंध और भी घना हो गया जब मगध से चन्द्रगुप्त नाम का एक मागध भिक्षु युन्नन पहुंचा और उसने अपने चमत्कारों से लोगों को अपने वश में कर लिया। धीरे-धीरे वहां भारत के अन्य नाम भी, जो बौद्ध धर्म से संबंधित थे, प्रचलित हो गए, जैसे पिप्पलि-गुह, बोधि वृक्ष, गृध्रकूट। यह आत्मी-

यता भारत के प्रति इतनी बढ़ी कि दसवीं सदी के एक चीनी यात्री ने लिखा कि गौतम को सम्यक् संबोधि युन्नन में ता-ली झील के तीर पर प्राप्त हुई थी। नान-चाओ का राजा भारतीय परम्परा के अनुसार 'महाराज', 'पूर्व का राजा' कहलाता था। स्थानीय परम्परा वहां के राजाओं को अशोक के वंशज मानती थी। अरब यात्री रशीदुद्दीन तेरहवीं सदी में लिखता है कि वहां का नाम तो गन्धार है ही लोग भी भारत और चीन से आए हैं।

नान-चाओ अथवा गन्धार के राज्य ने सातवीं सदी के मध्य चीन का जुआ अपने कंधे से उतार फेंका और सर्वथा स्वतंत्र हो गया। फिर तो इसकी शक्ति इतनी बढ़ी कि इसने बार-बार दक्षिणी चीन पर हमले किए और हर हमले में कृतकार्य रहा। परिणामस्वरूप इसके राजा ने 850 ई० में सम्राट् का विरुद धारण किया। चीनी तांग सम्राट् ने इसे अपना अपमान मान उस पर बार-बार आक्रमण किया और बार-बार पराजित हुआ। अन्त में 884 ई० में गन्धार के सम्राट ने चीनी सम्राट् की कन्या से विवाह किया और शान्ति स्थापित हुई, युद्ध बन्द हो गया। गन्धार का राज्य 1253 ई० तक कायम रहा जब चीन के कुब्लाई खां ने इसे जीत लिया। परिणामस्वरूप अनेक थाई जातियां दक्षिण और पश्चिम की ओर संक्रमण कर चलीं। उनकी एक शाखा अहोम कहलाई। पश्चिम की ओर बढ़ उसने असम को जीत लिया और उसे अपना नाम दिया, वरन वह प्रदेश अब तक कामरूप कहलाता था। एक दूसरी शाखा शान ने उत्तरी बर्मा पर अधिकार कर लिया। एक तीसरी शाखा ने दक्षिण जाकर समूचे स्याम और लाओस को जीत लिया।

बर्मा की पूर्वी सीमा पर और मेकोंग की घाटी में भी कुछ थाई राज्य खड़े हो गए। मेकोंग नदी का नाम तो 'मा गंगा' का बिगड़ा हुआ रूप माना जाता है। इनकी शक्ति वहां तेरहवीं सदी तक बनी रही। मध्य स्याम में सुखादय (सुको-ताई) नाम का राज्य आरंभ में स्थापित था। तेरहवीं सदी के मध्य उनका पहला राजा संभवत: इन्द्रादित्य था जिसके राज्य में कुब्लाई खान से आगे थाइयों की लहर पर लहर आ बसी। इन्द्रादित्य ने शीघ्र ही अपने राज्य की सीमाएं बढ़ा लीं और उसके पुत्र रामकम्हेंग के शासन काल में तो वे और भी विस्तृत हुईं। उसके विस्तृत अभिलेख से उसके जीवन और शासन पर प्रकाश पड़ता है। कम्बुज, दक्षिणी बर्मा (पेगू) और मलय के भी एक भाग पर उसका अधिकार हो गया। स्याम का भारतीय नाम श्याम था जो उत्तरी स्याम था और जिसका दूसरा नाम सुखोदय पड़ा। राम कम्हेंग अपनी विजयों के कारण ही महान् नहीं बना। उसने अनेक निर्माण कार्य भी किए। उसने मंदिर, विहार, राजप्रासाद बनवाए। एक मंदिर में तो उसने अट्ठारह हाथ ऊंची बुद्ध की मूर्ति पधराई। नगर का सौन्दर्य बढ़ाने के लिए उसने वहां बापी-तड़ाग खुदवाए। उसके उस लंच अभिलेख में दान

और न्याय के आदर्शों का भी उल्लेख हुआ है। जहांगीर के संबंध में न्याय संबंधी घंटे की जो बात कही जाती है वह इस राजा ने तेरहवीं सदी में ही जहांगीर से प्राय: तीन सौ साल पहले कर दिखाया था। कहते हैं कि उसने अपने प्रासाद के सिंह द्वार पर जो घंटा लटकवा दिया था उसे बजा कर कोई न्यायार्थी उसके पास पहुंच सकता था। उसने संभवत: लिपि की भी एक विशिष्ट विधा का आविष्कार किया।

राम कम्हेंग का पौत्र सूर्यवंश राम महाधर्मराजाधिराज नाम धारण कर 1347 में सिंहासनासीन हुआ। वह बुद्ध का परम भक्त था पर उसने शिव और विष्णु की मूर्तियां बनवाने में भी कोरकसर न की। पर वह अपने राज्य की सीमाओं पर अधिकार न रख सका और अयोध्या (अयुथिया) का राजा रामाधिपति विरुद धारण कर स्वतंत्र हो गया और सखोदय के राजा अयोध्या के सामंत हो गए। बर्मी राजाओं ने 1767 ई० में अयोध्या को नष्ट कर दिया। अब उसकी राजधानी बैंगकाक हुई जहां पुराने हिन्दू राजकुल का राजा अभी हाल तक राज करता रहा है। अब भी स्याम का प्रधान धर्म बौद्ध धर्म है।

कला

गुप्त और पल्लव काल की कला---वास्तु, मूर्ति आदि--- के अवशेष राजबुरी, प्रपथोम, चन्तबुरी, केदा, ताकुआ-पा और लिगोर में महती संख्या में मिले हैं। बैंगकाक, अयुथिया और लोपपुरी के संग्रहालयों में अधिकतर वे सुरक्षित हैं। बुद्ध, लोकेश्वर और विष्णु की अनेक मूर्तियां वहां प्रदर्शित हैं।

सुखोताई और लंफून की हिन्दू-थाई कला के आरंभ का विशेष कुछ पता नहीं। ग्यारहवीं सदी में उत्तर में हमें लेटराइट की इमारतें और दक्षिण में ईंटों की बनी मिलती हैं। जो कांसे की मूर्तियां मिली हैं, संभवत: वे लंका से आईं।[1] पर दसवीं-ग्यारहवीं सदी में थाई शैली स्पष्ट हो जाती है। ख्मेर भाषा में ही तब के अभिलेख मिलते हैं पर थाई शैली कला के क्षेत्र में तभी अपना स्थान बना लेती है और दक्षिण में थाई शैली की कांस्य मूर्तियां मिलने लगती हैं। रूप में वक्राकृतिक भवें ऊपर को उठ जाती हैं, और बादामनुमा आंखों की ढलवीं नाज़ुक पलकों की रेखाएं ऊपर दोहरी हो जाती हैं, तीखे ढीले भरे होंठ स्पष्ट हो जाते हैं, ख्मेर विधा से बिलकुल भिन्न। 1000 ई० के लगभग थाई क्लासिकल काल के बुद्ध मस्तक दर्शनीय हैं। इनमें प्राचीनतम पित्सानुलोक के हैं, निश्चय थाई प्रतिभा के अन्यतम उदाहरण। लोपपुरी में भी ऐसे ही सुन्दर मस्तक ढाले जाते हैं। इसी बीच दक्षिण के लोपपुरी और प्रपथोम में प्रस्तरीय वास्तु और मूर्तितां ख्मेर विधा में निर्मित होती हैं।

---

1. कुमारस्वामी, हिस्ट्री ऑफ इंडिया 1, पृ० 176

सुखोताई में, सूर्यवंश महाधर्म राजाधिराज के शासनकाल (1357-1388) में, जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है, उत्खचनों में वात-सी-जुम में जातक कथाओं के उत्खचन पल्लवित होते हैं, जो पत्थर में खिंची रेखा-आकृतियां हैं। सिंहल के पोलोन्नारुव के बारहवीं-तेरहवीं सदी के उत्तरवर्ती मंदिरों के भित्तिचित्रों से ये बहुत मिलते हैं। सुखोताई और सिंहल के बीच तब तक घना सांस्कृतिक संबंध स्थापित हो चुका था और सिंहली आचार्य और भिक्षु रमय्यां में पधार चुके थे। इस बीच की शिव और विष्णु की कांस्य मूर्तियां कुछ विशिष्ट नहीं कही जा सकतीं। इनका बड़ा आकार और सुरक्षित स्थिति उन्हें विशेष आदर प्रदान करती है। ये बैंगकाक के संग्रहालय में संग्रहीत हैं। बाद की स्यामी कला ह्रासोन्मुखी हो जाती है।

उत्तर कालीन अयोध्या शैलों में चित्रण बुद्ध और जातक कथाओं के मंदिरों की दीवारों पर, टंकों (ध्वजों) और विशेषकर हस्तलिखित पुस्तकों में हुए हैं। लकड़ी में एक प्रकार का जड़ाऊ चित्रण अब विशेष कुशल रूप धारण कर लेता है और मंदिरों के द्वार और वातायन तथा पुस्तकों के पुश्त इनसे भर जाते हैं। आगे की विधा कला के क्षेत्र में जा विस्तार पाती है वह चीनी बर्तनों (पोर्स्लेन) पर बने स्वर्णमयी रेखाओं की है जिसके लिए स्याम पीछे बहुत प्रसिद्ध हुआ। कमल, बोलों में भरे खिले संतुष्ट कमल, देवता, पौराणिक-काल्पनिक पशु, देवता पात्रों की भूमि पर स्वर्णिम रागरेखाओं में अवतरित हो उठते हैं। यह विधा स्याम में तब तक प्रचलित रहती है जब तक कि यूरोपीय शैली धीरे-धीरे उसे आक्रान्त नहीं कर लेती।

स्यामी कला का एक रूप उसके रंगमंच पर नाटक के रूप में विकसित हुआ जो 'लखोन' कहलाता है और जिसपर अपरोक्ष रूप से भारत का प्रभाव पड़ा है। स्यामी नाटक का रूप कम्बुजीय है यद्यपि विद्वान् पाते हैं कि कम्बुजीय नाटक का वर्तमान रूप वस्तुतः स्यामी है।[1] उसमें परिधान चित्र प्रधान और चमकीले होते हैं, दृश्य पृष्ठभूमि नहीं होती। प्रणय, विजय आदि के दृश्य विशेष अभिनीत होते हैं। सेनाएं, उड़ती अप्सरा, परिचर सहित भ्रमणशील राजकन्याएं अधिकाधिक प्रदर्शित होती हैं। विदूषक की भूमिका छोड़ शेष सारी भूमिकाएं नारियां ही खेलती हैं। देवता, दानव और वानर मुखौटे पहनते हैं। 'खोन' प्रकार के मंचन में केवल रामायण के प्रसंग होते हैं जिन्हें केवल पुरुष मुखौटे लगाकर खेलते हैं। पुतलियों के खेल भी स्याम में बहुत लोकप्रिय हैं। इनमें पुतलियों को सूत्रधार सूत्रों से चलाते हैं। इसी प्रकार पौराणिक प्रसंगों के लिए विशिष्ट 'छाया-नाटक' 'नंग-तलंग' का मंच पर अवतरण होता है और इसमें भी पुतलियों की तरह ही नीचे से चमड़े की बनी आकृतियां चलाई जाती हैं।

1. कुमारस्वामी, हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० 180

अध्याय-21

फूनान-कम्बुज

कम्बुज(काम्बुज, कम्बोदिया)को चीनी फू-नान कहते थे। ख्मेरो मोन-ख्मेरो अथवा काम्बुजों का जातीय मूल चीनी-तिब्बती है। ईस्वी सदी के आरंभ में ही उन्होंने मेकोग और मेनाम नदियों के मुहानों पर और दक्षिणी बर्मा में अपनी बस्तियां बसा ली थीं। उनका और उनकी सभ्यता के भारतीय मूल का उल्लेख चीनी साहित्य में हुआ है। वस्तुतः वही कम्बुज के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास का प्रधान, प्रायः मात्र स्रोत है। चीनी समूचे कम्बुज, कोचीन, चीन और दक्षिणी स्याम को सम्मिलित रूप से फूनान नाम देते हैं।

चीनी पारम्परिक ख्यातों से पता चलता है कि संभवतः ईसा की पहली सदी में कौण्डिण्य नाम का भारतीय ब्राह्मण व्यावसायिक पोत से फूनान में उतरा और वहां के असभ्य लोगों को देखकर और दुखी हो गया। लोग सभी प्रकार से बर्बर थे, सारे बदन पर गोदना गुदवाए हुए नग्न फिरा करते थे। कौण्डिन्य ने पहली बार उन्हें सभ्यता के दर्शन कराए, पहली बार परिधान दिए और निर्वस्त्र नारियों के तन को वस्त्राच्छादित कर उनकी लाज ढकी। स्वयं वहां की सोमा नाम की राजकुमारी को ब्याह कर वह वहीं बस गया और उस भूखण्ड का वह पहला राजा बना। उसके विवाह की कथा का उल्लेख 659 ई० के एक चाम अभिलेख में भी हुआ है। उसमें सोमा का नाम नागिनी दिया है। कुमारस्वामी का विचार है कि कौण्डिन्य-सोमा का वृत्तान्त संभवतः भारतीय मूल में निबद्ध है जहां पल्लवों का आरंभ चोलराज और नागिनी के प्रणय का परिणाम माना गया है।[1] पर इसके लिए हमें पल्लवों के इतिहास तक ही सीमित हो जाने की आवश्यकता नहीं, कारण कि इस प्रकार की कथाएं समूचे भारतीय विस्तार पर और महाभारत की कथाओं से लेकर अनन्त लोककथाओं में संबलित हुई हैं। जो भी हो, इस कथा का भारतीय होना सभ्यतानुमोदित है।

कौण्डिण्य ब्राह्मण था, भारत से आया था, यह तो विवादास्पद नहीं, पर वह कहां का निवासी था, यह प्रमाणतः नहीं बताया जा सकता। तब के भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश से पामीरों तक फैली कम्बोजों की एक नस्ल ज़रूर थी जिनका गान्धारों के साथ उल्लेख बुद्ध पूर्व के सोलह महाजन पदों में हुआ है और जिन्हें

1. कुमारस्वामी, हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० 181

कवि कालिदास ने भी 'रघुवंश' में रघु की दिग्विजय के उत्तरवर्ती प्रसंग में इसी नाम से अभिहित किया है। जो भी हो, यह सर्वसम्मत है कि कौण्डिण्य ने ही फूनान को सभ्यता दी, और संभवत: उस देश को कम्बुज नाम दिया, और उसका पहला राजा बना। उसके राज्य में कोचीन, चीन और कम्बुज (आधुनिक कंबोडिया) का दक्षिणी भाग सम्मिलित था।

कौण्डिन्य और उसके उत्तराधिकारियों ने फूनान पर प्राय: सौ वर्ष राज किया। उस राजकुल के बाद शासन उसी के सेनापति फान-चे-मान के हाथ में चला गया जिसे स्वयं जनता ने अपना राजा चुना। उसने जहाज़ी बेड़ा बनाकर आसपास के द्वीपों और भूखण्डों पर फूनान का प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसका आधिपत्य प्राय: समूचे स्याम, लाओस के कुछ भागों और मलय प्रायद्वीप पर स्थापित हो गया और इस प्रकार उस दिशा में पहला हिन्दू साम्राज्य खड़ा हुआ। सेनापति का भारतीय नाम अब तक जाना नहीं जा सका पर अनुमान किया जाता है कि उसके वंशजों के नामों के अन्त में व्यवहृत होने वाला फान शब्द वर्मन् शब्द का ही रूप है।[1] सेनापति का राज्याभिषेक सं० 200 ई० में हुआ।

फान-चे-मान के बाद फूनान की राजगद्दी पर फान-चान बैठा। 243 ई० में उसने चीन अपने दूत भेजे। उसने चीन के अतिरिक्त भारत से भी सद्भाव बनाने का प्रयत्न किया और सू-वू नाम के अपने संबंधी को राजदूत बनाकर भारत भेजा। संभवत: तक्कोला के बन्दर से चलकर सू-वू साल भर बाद गंगासागर पहुंचा जहां के भारतीय राजा ने उसका स्वागत कर आदर सत्कार किया। चार वर्ष बाद भारतीय राजा द्वारा भेजे दूतों और उपहारों के साथ वह फूनान लौटा।

इस बीच फूनान में क्रान्ति हो चुकी थी जिसके परिणामस्वरूप वहां एक नए राजकुल का राज हो गया। अब फूनान का राजा फान-सिउन था जिसके शासन काल में संभवत: 245 और 250 ई० के बीच कभी चीनी राजदूत कांग-ताई फूनान पहुंचा जिसने उस देश का वृत्तान्त लिखा। फान-सिउन ने 268, 285, 286 और 287 ई० में चार-चार दूतमंडल चीन भेजे।

फूनान में चौथी सदी के पूर्वार्द्ध में फिर राजनैतिक कठिनाइयां बढ़ीं और विप्लव-विद्रोह हुए। अन्त में संभवत: चन्दन (चान-तान) नाम का व्यक्ति अपना आधिपत्य सिंहासन पर स्थापित करने में सफल हुआ। उसने 357 ई० में चीन को अपने दूत भेजे। कुछ काल तक फूनान का इतिहास फिर अन्धकार में खो जाता है और चौथी सदी के अन्त अथवा पांचवीं सदी के आरंभ में एक नए भारतीय राजकुल की वहां प्रतिष्ठा होती है। आश्चर्यजनक बात यह है कि इस राजकुल की प्रतिष्ठा करने वाला व्यक्ति भी भारतीय, ब्राह्मण और कौण्डिन्य बताया

1. दि एज ऑफ इम्पीरियल युनिटी, पृ० 657

जाता है जिससे कहना कठिन हो जाता है कि वास्तव में समान नामधारी यह व्यक्ति पहले कौण्डिण्य से भिन्न है या ख्यातों के लिखने में कोई भूल हो गई है जिससे उसी नाम का उल्लेख दो बार हो गया है। निश्चय ही इस कौण्डिण्य के उत्तराधिकारी पहले के उत्तराधिकारियों से भिन्न हैं और कुछ आश्चर्य नहीं जो इसी नाम का एक अन्य व्यक्ति नई भारतीय संस्कृति की लहर के साथ आ गया हो। आखिर भारत में नामों की समानता साधारण बात है और कौण्डिन्य नाम के अनेक ब्राह्मण हो सकते हैं।

जैसा ऊपर बताया जा चुका है, फूनानी प्रारंभिक इतिहास की सामग्री हमें चीनी साहित्य से मिलती है। उसके अनुसार दूसरे कौण्डिण्य का उत्तराधिकारी कालान्तर में जयवर्मन् हुआ। जिसने कान्तोन कुछ सौदागर भेजे थे। जब वे फूनान लौटने लगे तब उनके साथ नागसेन नाम का एक भारतीय भिक्षु भी उनके जहाज़ पर सवार हो गया। लौटती यात्रा में तूफान आ जाने से उन्हें चम्पा में शरण लेनी पड़ी जहां चामों ने उन्हें लूट लिया। नागसेन के पास लूट जाने के लिए कुछ था ही नहीं और न यात्रा के लिए उसे विशेष तैयारी करनी थी सो वह शीघ्र ही फूनान लौट आया और राजा से उसने चामों की ज़्यादतियों की कथा कही। चम्पा की गद्दी पर जयवर्मन् का ही एक फूनानी शत्रु उस काल में था। जयवर्मन् नागसेन को दूत बनाकर चम्पा के विरुद्ध सहायता के लिए चीन भेजा। भिक्षु चीन 484 में पहुंचा। वह पर्याप्त चतुर निकला और अन्य उपहारों के साथ उसने चीनी सम्राट् को कविताएं भेंट कीं जिनमें महेश्वर (शिव) बुद्ध और स्वयं चीनी सम्राट् की प्रशस्ति छन्दोबद्ध थी। सम्राट् ने चम्पा के विरुद्ध कोई सहायता तो नहीं भेजी पर माहेश्व-धर्म की प्रशंसा की। जयवर्मन ने फिर भी उपहारों और बुद्ध की मूंगे की एक मूर्ति 503 में एक दूत के साथ भेजी फिर 511 और .14 में भी चीनी सम्राट् के पास दूत भेजे। फूनान से कुछ भिक्षु चीन जाकर वहां बस गए और वहां उन्होंने बौद्ध ग्रंथों के चीनी में अनुवाद किए।

जयवर्मन के पुत्र गुणवर्मन और पत्नी कुलप्रभावती के दो अभिलेख संस्कृत में उपलब्ध हैं। पर गुणवर्मन को मारकर रखैल से उत्पन्न पुत्र रुद्रवर्मन ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उसने चीन में अनेक बार दूत भेजे। सातवीं सदी में फूनान के ही करद राज्य कम्बुज ने फूनान पर पूरा अधिकार कर लिया। कंबोदिया का उत्तर-पूर्वी भाग तब कंबुज कहलाता था। ख्यातों के अनुसार कम्बुज राज्य का निर्माता आर्यदेश (भारत) का रहने वाला कम्बुस्वायंभुव था। इस राजकुल के प्रारंभिक राजाओं में श्रुतवर्मन और उसका पुत्र श्रेष्ठवर्मन थे। श्रेष्ठवर्मन फूनान से विद्रोह कर स्वतन्त्र हो गया और अपनी नई राजधानी को उसने अपना नाम श्रेष्ठपुर दिया। राजधानी पर्वतवर्ती थी और पर्वत के शिखर पर (लिंगपर्वत पर) राजकुल का भद्रेश्वर शिव का मंदिर स्थापित था।

भववर्मन ने छठी सदी के अन्त में कम्बुज में एक नए राजकुल की नींव डाली और अपनी विजयों से राज्य की सीमाएं काफी बढ़ा लीं। उसके उत्तराधिकारी चित्रसेन (महेन्द्र वर्मन, उसका भ्राता) ने समूचे फूनान को जीत लिया। ईशान सेन अथवा वर्मन, उसका उत्तराधिकारी, (616-635) समूचे कम्बोदिया और कोचीन चीन का राजा था। अपनी नई राजधानी का नाम उसने ईशान-पुर रखा। उसके उत्तराधिकारियों—भववर्मन द्वितीय और जयवर्मन प्रथम—के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं।

अगले सौ वर्षों का कम्बुज का इतिहास अन्धकार में है पर इस बीच फूनान सर्वथा इतिहास से विलुप्त हो गया और उसका स्थान उसी के अंगराज्य कम्बुज ने ले लिया जो अब स्वयं मात्र राज्य नहीं वरन साम्राज्य था और उसकी प्रभुता समूचे फूनान, कम्बुज, कोचीन, चीन और लाओस पर व्याप्त थी। आगे हम उसी साम्राज्य के उत्थान-पतन की कथा कहेंगे।

कम्बुज का साम्राज्य आठवीं सदी में अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया। इनमें उल्लेखनीय वे थे जिन्हें चीनी 'स्थल का कम्बुज' और 'जल का कम्बुज' कहते थे। इनमें से पहला गिरिवर्ती प्रदेश मेकोंग की बिचली घाटी से लाओस को समेटता हुआ तोंकिंग और युन्नन तक चला गया था, और दूसरा उस नदी की निचली घाटी में फैल गया था। स्थल का कम्बुज 717 ई० में पहले तो चीन को अपने दूत भेज उसका मित्र बना पर पीछे अनामी सेनाओं के चीनी आक्रमण में उनकी सहायता की। 771 में वहां के राजा ने स्वयं चीनी दरबार में जाकर उस महादेश के साथ सद्भाव स्थापित किया। जल का कम्बुज स्वयं अनेक राज्यों का समाहार था। इनमें से एक की राजधानी शम्भुपुर थी, दूसरे की व्याधपुर और तीसरे की अनिन्दितपुर। इनमें से किसी के संबंध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है। पर जो उपलब्ध है उससे प्रकट है कि अनिन्दितपुर के राजा अपने को कौण्डिण्य और सोमा के वंशज मानते थे।

शीघ्र ही कम्बुज के राज्य पहले जावा के राजा संजय पीछे शैलेन्द्र सम्राटों के अधिकार में आ गए थे। नवीं सदी के आरंभ में निश्चय कम्बुज ने नवजीवन का प्रदर्शन किया और जयवर्मन् द्वितीय ने शीघ्र ही उसे बाहरी सत्ता से मुक्त कर लिया। 802 ई० में वह जावा से आकर कम्बुज का राजा बना था और अनेक राजधानियां स्थापित करता हुआ अन्त में उसने महेन्द्र पर्वत को अपनी राजधानी बनाया। यह नगर अंकोर थोम के उत्तर-पश्चिम फूलोम कुलेन में बसा। हिरण्य-दास नाम के भारतीय ब्राह्मण तांत्रिक को बुलाकर गुप्त तांत्रिक अनुष्ठान कराए जिससे कम्बुज फिर जावा के चंगुल में न फंसे। तांत्रिक ने कम्बुज में 'देवराज' का तांत्रिक अनुष्ठान कर उसमें राजगुरु शिवकैवल्य को दीक्षित किया और राजा को बाध्य किया कि वह देवराज की क्रियाएं संपन्न करने के लिए शिवकैवल्य के वंशजों

को छोड़ और किसी को कभी नियुक्त न करे। राजा अपनी नई राजधानी में भी बहुत दिनों न रह सका और शीघ्र ही पुरानी राजधानी हरिहरालय (लौलेई अंग्कोर से 13 मील दक्षिण-पूर्व) को लौट गया। शिवकैवल्य के वंशधर राज-पुरोहित ने संस्कृत में 130 श्लोकों का 340 पंक्तियों में संस्कृत का और 140 पंक्तियों में ख्मेर भाषा में एक लंबा अभिलेख खुदवाया जिसमें जयवर्मन द्वितीय से 250 वर्ष बाद तक का वृत्तान्त दर्ज हुआ। ऊपर का वृत्तान्त उसे अभिलेख से प्राप्त हुआ है। इस अभिलेख और दूसरे स्रोतों से पता चलता है कि जयवर्मन, संभवत: सुरक्षा के लिए अनेक राजधानियां बदलता रहा और अन्त में हरिहरालय में प्रतिष्ठित हुआ। उसके शासन काल में चम्पा के राजा हरिवर्मन ने कम्बुज पर आक्रमण कर उसके अनेक भागों को लूटा। पर इससे जयवर्मन की प्रतिष्ठा में कोई बट्टा नहीं लगा और सदियों के बाद तक के अभिलेखों में उसे असाधारण माना गया है और अभी हाल तक उसी की तलवार राजा अपने अभिषेक के अवसर पर धारण करते रहे हैं। वह इन्द्र का पुत्र माना गया है और मरने पर उसकी संज्ञा 'परमेश्वर' हुई। वह 854 में मरा। भारतीय संस्कृति का उसने अपने देवराज तंत्रानुष्ठान द्वारा कम्ब्रुज में खूब प्रचार किया। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी जयवर्मन तृतीय (854-77) के बाद इस राजकुल का शासन समाप्त हो गया और इन्द्रवर्मन ने कम्बुज में एक नए राजकुल की स्थापना की।

राजा इन्द्रवर्मन किसी राजकुल का था या नहीं, इसका पता तो नहीं चलता पर उसकी रानी इन्द्रदेवी और रानी की माता राजेन्द्र देवी दोनों ही राजकुलों में जन्मी थीं, इसमें सन्देह नहीं। इन्द्रदेवी का संबंध शंभुपुर, व्याधपुर और अनिन्दित पुर की तीनों राजधानियों के राजकुलों से था और उसकी माता आर्य देश के ब्राह्मण राजा द्वारा प्रतिष्ठित राजवंश की वंशजा थी। इन्द्रवर्मन ने कम्बुज की शक्ति तो अक्षुण्ण रखी ही, वह युन्नन पर आक्रमण कर चीन का भी शत्रु हो गया। उसने 877 से 889 तक बारह वर्ष राज किया। उसके अभिलेख उसे महान् निर्माता घोषित करते हैं। उसने इन्द्रतटाक नामक एक झील खुदवाई, और अनेक मन्दिर बनवा कर उनमें मूर्तियां स्थापित कीं। वह स्वर्ण का धनी जान पड़ता है क्योंकि उसने अपना प्रसिद्ध 'सिंहासन' और शिबिका 'इन्द्रयान' सोने की बनवाई। इन्द्रविमानक और इन्द्रप्रासाद नामक दो राजमहल भी उसके बनवाए बताए जाते हैं।

इन्द्रवर्मन का पुत्र यशोवर्मन (889-900) भी महान् राजा हुआ और उसने अपने आक्रमणों का तांता बांध दिया और विजित राजाओं की कन्याओं को ब्याह उन्हें उनके राज्य लौटा दिए। उसने द्वीपों को जीतने के लिए एक जहाज़ी बेड़ा भी तैयार किया। उसका राज्य उत्तर में युन्नन के भी उत्तर चीन तक, दक्षिण में सागर तक, पश्चिम में मेनाम और साल्वीन नदियों तक, और पूर्व में चम्पा

तक फैला था।

इन्द्रवर्मन के अनेक अभिलेख उपलब्ध हैं जिनसे पता चलता है कि अंग्कोर के यश का निर्माता वही था। अंग्कोर की कला आदि का वर्णन हम यथास्थान करेंगे। उसने अपनी नई राजधानी बसाई जो पहले कम्बुपुरी कहलाई फिर यशोधर पुर। यह राजधानी अंग्कोर थोम के भी कुछ भाग पर फैली हुई थी। यह राजा स्वयं पंडित था और साहित्य तथा कला का अनन्य संरक्षक था। शास्त्रों और काव्यों में उसकी अभिरुचि और गति थी और पतंजलि के महाभाष्य पर उसने स्वयं अपनी व्याख्या लिखी। वह सारे धर्मों के प्रति उदार था यद्यपि स्वयं वह परमशिवभक्त था। उसने ब्राह्मणों के लिए अनेक आश्रम और बौद्धों के लिए अनेक विहार बनवाए और उनसे संबंधित के नियम उसने शिलाओं पर खुदवा दिए जो आज भी उन आश्रमादि के स्थान पर सुरक्षित हैं। एक अभिलेख में लिखा है कि राजा इतना लोकप्रिय हो गया था कि लोग उसकी 'कीर्तिगाथाएं क्रीड़ा क्षेत्र में, शय्या और यात्राओं में गाया करते थे।

यशोवर्मन के बाद उसके दो पुत्रों हर्षवर्मन प्रथम और ईशानवर्मन द्वितीय ने कुछ काल तक राज किया। पर 928 ई० के पूर्व यशोवर्मन के भगिनीपति जयवर्मन चतुर्थ ने ईशानवर्मन से कम्बुज का राज्य छीन लिया। नए राजा ने राजधानी हटाकर कुलदेवता 'देवराज' की मूर्ति के साथ कोहकेर (चोक गगर्यार) में स्थापित की, अंग्कोर से लगभग 50 मील दूर उत्तर-पूर्व की ओर। बाद में कम्बुज के राजा क्रमशः हर्षवर्मन द्वितीय, राजेन्द्रवर्मन और जयवर्मन पंचम हुए। राजेन्द्र वर्मन के अनेक अभिलेखों से उसके युद्धों और विजयों पर प्रकाश पड़ता है। जयवर्मन के साथ 1001 में इस राजकुल का शासन समाप्त हो गया।

कम्बुज का साम्राज्य इन राजकुलों के शासन काल में प्रभूत बढ़ा और उसके साथ ही साथ भारतीय संस्कृति—उसके संस्कृत साहित्य, कला और धर्म—का असाधारण विस्तार हुआ। भारतीय आचरण और शील का सर्वत्र बोलबाला था। अरब यात्री इब्न खोदादबाह (844-48), जिसने नवीं सदी के मध्य कम्बुज का भ्रमण किया था, लिखता है कि भारत के लोग और राजा शराब से परहेज़ करते हैं पर वे परस्त्री-गमन को अवैध नहीं मानते। इसमें बस एक ही अपवाद है, ख्मेर का राजा, जो शराब और परस्त्री-गमन दोनों का राज्य में निषेध करता है। अनेक अरब यात्रियों ने इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं। इन खोदादबाह तो ख्मेर को 'भारत' ही मानता है जो उसकी सर्वथा भारतीय संस्कृति के व्यवहार का परिचायक है। प्रायः पचास साल बाद 902 में इब्न अल-फकीह ने कम्बुज का भ्रमण किया था। वह लिखता है कि चार महीने तक चलते चले जाओ और ख्मेर के राज्य का अन्त नहीं होगा। निःसन्देह संस्कृति और विस्तार दोनों दृष्टियों से कम्बुज के साम्राज्य की सीमाएं अपरिमित थीं।

जयवर्मन पंचम के बाद के अगले दस सालों में कम्बुज में भयावह गृहयुद्ध हुए जिनके अन्त में सूर्यवर्मन 1010 में विजयी होकर गद्दी पर बैठा। युद्धों से कम्बुज की रक्षा करने के लिए उसने अपने चार हजार जिलाधीशों को ब्राह्मणों और आचार्यों के सामने अग्नि को साक्षी मानकर शपथ दिलवाई कि वे आमरण राजा के प्रति स्वामिभक्त बने रहेंगे। उसे षड्दर्शनों, धर्मशास्त्रों, काव्यों और भाष्यों में पारंगत माना गया है। लगता है वह शिव और बुद्ध दोनों का भक्त था क्योंकि उसके अभिलेख का आरंभ दोनों की स्तुति से किया गया है पर चूंकि उसका मरणोत्तर विरुद निर्वाणपद था, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उसकी विशेष भक्ति बौद्ध धर्म के प्रति थी।

शासकीय पदाधिकारियों की शपथ के बावजूद, उन्होंने उसकी मृत्यु के बाद विद्रोह कर उसके मंत्रियों ने उदयादित्यवर्मन को 1049 में कम्बुज का राजा घोषित किया पर साम्राज्य में विद्रोह होते रहे और चम्पा के राजा ने उससे लाभ उठा उस पर आक्रमण कर उसे पंगु कर दिया। राजा विद्रोहों से जर्जर हो कर 1066 में मर गया और राज पुरोहित ने मंत्रियों के सहयोग से उसके अनुज हर्षवर्मन का राज्याभिषेक कर दिया। पर स्थिति बराबर बिगड़ती गई जब तक कि 1113 में सूर्यवर्मन् ने कम्बुज के सिंहासन पर अधिकार न कर लिया।

सूर्यवर्मन निःसन्देह शक्तिमान् राजा था और कुछ काल के लिए उसने कम्बुज के गिरते हुए ध्वज को रोक लिया। उसने अनाम, चम्पा आदि से 1128 और 1150 के बीच अनेक युद्ध किए। कुछ में वह हारा कुछ में जीता पर उन युद्धों का विशेष परिणाम नहीं हुआ। चम्पा का उत्तर भाग ज़रूर कम्बुज के अधिकार में आ गया। सूर्यवर्मन ने 1117 और 1121 में चीनी सम्राट् के पास दूत और उपहार भेजे जिसके उत्तर में सम्राट् ने उसे अनेक विरुद देकर सम्मानित किया।

सूर्यवर्मन द्वितीय ने संसार प्रसिद्ध अंग्कोरवात का मन्दिर बनवाकर अमर ख्याति प्राप्त की जिसका विशद वर्णन हम कला के प्रसंग में करेंगे। देश में तन्त्रों का प्राधान्य था और तान्त्रिक साधनाएं भूरिशः प्रचलित थीं। स्वयं राजा को उसके राजगुरु दिवाकर पण्डित ने व्रह-गुह्य के गोपनीय रहस्य में दीक्षित किया और उसके शासन में कोटि-होम, लक्ष-होम, महा-होम जैसे यह अनुष्ठित हुए। निःसन्देह हिन्दू धर्म का तब प्राधान्य था।

सूर्यवर्मन द्वितीय के बाद कम्बुज का इतिहास फिर अंधकार में विलीन हो जाता है। भीतर-बाहर सर्वत्र विद्रोहों की आग धधकने लगती है। चम्पा के साथ सालों युद्ध होता रहा, अन्त में चम्पा के राजा ने राजधानी पर अधिकार कर उसे लूटा और उसी विप्लव में कम्बुज का राजा त्रिभुवनादित्यवर्मन विनष्ट हो गया और जयवर्मन सप्तम् सिंहासनासीन हुआ (1181-1243), जिसका शासनकाल

कम्बुज के इतिहास में सबसे शालीन माना जात। है।

चम्पा के साथ सालों उसका विग्रह चला। चम्पा के राजा ने कम्बुज पर आक्रमण किया पर स्वयं बन्दी बना लिया गया। जयवर्मन ने चम्पा को दो भागों में विभक्त कर उनकी राजधानियां विजय और राजपुर नाम से स्थापित कीं और उन पर उसके प्रतिनिधि शासन करने लगे। उत्तरी चम्पा के विद्रोह को सफलतापूर्वक कुचल दिया गया। अनाम में भी विद्रोह हुए और कुछ काल बाद अनाम और चम्पा दोनों स्वतंत्र हो गए। पश्चिम में निश्चय प्रसर सफल हुआ और बर्मा काम्पगान कम्बुज में मिला लिया गया। जयवर्मन सप्तम् का साम्राज्य इस प्रकार बंगाल की खाड़ी से चीन सागर तक फैल गया।

ता प्रोह्म के अभिलेख से जयवर्मन की क्रियाशीलता और कम्बुज की अगाध शक्ति और सम्पदा का पता चलता है। इसके अनुसार राजा ने राजविहार का निर्माण कर वहां अपनी माता की मूर्ति प्रज्ञापारमिता के रूप में स्थापित की। यह और इसके साथ का मन्दिर इतने विशाल थे कि उनमें 66, 625 व्यक्ति काम करते थे और उनके व्यय के लिए 3,400 गांव लगा दिए गए थे। वहां 439 आचार्य 970 ब्रह्मचारियों का अध्यापन करते थे और इन 1409 व्यक्तियों का खर्च राजकोष से दिया जाता था। पत्थर के बने वहां 566 भवन थे और ईंटों के बने 288, जिनमें अमितमात्रा में स्वर्ण और रजत, 35 हीरे, 40,620 मोती और 4,540 अन्य बहुमूल्य रत्न संग्रहीत थे। अभिलेख में यह समूची सम्पदा केवल एक मन्दिर के संदर्भ में ही हुई है। उसी अभिलेख से पता चलता है कि 798 मन्दिर और 102 अस्पताल साम्राज्य में फैले हुए थे जिनको प्रतिवर्ष 1,17,200 खारिका चावल दिया जाता था। एक खारिक तीन मन आठ सेर की हुआ करती थी। 102 अस्पतालों में से 15 के स्थान अभिलेखों की सहायता से पहचान लिए गए हैं। प्रत्येक अस्पताल का अपना अभिलेख था। इसी प्रकार के अन्य मन्दिरों और विहारों के वृत्तांत अभिलेखों से प्राप्त होते हैं। अभिलेख के अनुसार प्रा-खान के मंदिर से संबंधित 121 वह्निग्रह थे जहां यात्री विश्राम करते थे। सोने, चांदी, कांसे और पत्थर की बनी 20,400 देवमूर्तियों का उल्लेख हुआ है। इनके लिए 8176 गांव दिए गए और इनकी सेवा में 2,08,532 दास नियुक्त थे। उसमें 514 अलग-अलग मन्दिरों और 2,066 भवनों का उल्लेख मिलता है। इन मन्दिरों के लिए जल सूर्यभट्ट और अन्य ब्राह्मण तथा जावा, अनाम और चम्पा के राजा भरा करते थे। राजा की दोनों रानियां बहनें और बौद्ध थीं; एक को राजा ने विहारों में बौद्ध धर्म की दीक्षा देने के लिए भेजा। वह पहले से ही भिक्षुणी हो गई थी। जयवर्मन ने ही संसार के आश्चर्य अंग्कोर थोम की राजधानी का निर्माण किया था। उस राजा का शासनकाल कम्बुज साम्राज्य का सबसे शालीन काल था।

उसके बाद कम्बुज का महत्त्व भूशायी हो गया। उसके कुल का अन्तिम राजा जयवर्मन-परमेश्वर था जो 1327 में गद्दी पर बैठा। चौदहवीं सदी कम्बुज के अवसान की सदी थी। कुब्लाई खान ने उसे चीन का प्रभुत्व स्वीकार कर लेने के लिए 1296 में दूत भेजे थे पर उसने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया था। इस काल के चीनी वृत्तान्तों में भिन्न-भिन्न तथ्य मिलते हैं। एक से ज्ञात होता है कि कम्बुज ने कुब्लाई खान के साम्राज्य का प्रान्त होना स्वीकार कर लिया पर 1520 के एक दूसरे चीनी इतिहासकार के वृत्तांत से पता चलता है कि मंगोल शासन काल में चीनी सम्राट् को न तो कम्बुज ने कर भेजे और न जावा ने। सदियों के झगड़ों के बाद कम्बुज के राजा ने 1854 में फ्रांसीसी सत्ता स्वीकार कर ली और फ्रांस का वह उपनिवेश बन गया।

कम्बुज के राजा श्रीन्द्रवर्मन के समय (1296-1308) का कम्बुज का वृत्तांत चीनी राजदूत चिउ ता-कुआन ने जो लिखा है वह स्मरणीय है और उसका कुछ भाग यहां उद्धृत किया जाता है—

"मैंने सुना था कि हत्यारों के डर के मारे राजा कभी कभी-अपने महल से बाहर जाते थे। नया राजा अपने पूर्वगामी का दामाद है जिसकी पत्नी को उसका पिता (श्रीन्दवर्मन) बहुत प्यार करता था। कन्या ने स्वर्ण-खड्ग चुराकर अपने पति को दे दिया। उसके भ्राता ने विद्रोह किया पर राजा ने उसके पैरों की उंगलियां काटकर उसे कारागार में डाल दिया। नया राजा अपने तन को सदा कवच से ढके रखता है जिसे छुरी या तीर भेद नहीं सकते। उसे पहन कर ही वह महल से बाहर जा पाता है। अपने साल भर के प्रवास में मैंने उसे केवल चार-पांच बार बाहर निकलते देखा। जब वह बाहर जाता है तब उसके आगे घुड़सवार चलते हैं पीछे झंडे और बजते हुए बाजे। पीछे 300 से 500 की संख्या में महल की दासियां कलाबत्तू के चमकते परिधान पहने केश में फूल धारे चलती हैं। उनके हाथों में दिन में भी जलती मशालें रहती हैं। फिर लड़कियों के दो दल और आते हैं—एक दल बहुमूल्य पात्र और स्वर्ण रजत के आभूषण लिए होता है दूसरा भाले और ढाल लिए होता है, राजा की शरीर रक्षिकाओं के रूप में। उसके बाद स्वर्णमण्डित गाड़ियां चलती हैं जिनमें बकरे और घोड़े जुते होते हैं। फिर चलते हैं हाथियों पर चढ़े राजकुमार उनके बाद पालकियों, गाड़ियों या हाथियों पर सवार रानियां और राजा की रखैलें। अन्त में दाहिने हाथ में बहुमूल्य तलवार लिए हाथी पर चढ़ा राजा चलता है। जिसकी रक्षा के लिए उसे घेर कर हाथियों पर बड़ी तादाद में सवार चलते हैं। हाथी सुनहरे हौदों से सजे रहते हैं, और सैकड़ों स्वर्णजटित अथवा स्वर्ण के ही दण्डवाले श्वेत और रक्तिम छत्र उन पर चलते हैं। निश्चय उनसे जुलूस की खूबसूरती बढ़ जाती है।"

कम्बुज की कला

कम्बुजीय कला का काल-बरिमाण प्राय: आठ सौ वर्षों का है, गुप्तकाल से (प्रारंभ होकर) प्राय: तेरहवीं सदी तक। व्याधपुर की प्राचीन नगरी में जिन प्राचीरों के भग्नावशेष मिले हैं उनसे पता चलता है कि वे वर्गाकार थीं। उनकी एक भुजा प्राय: डेढ़ किलोमीटर लंबी थी। वहां वृषभशीर्षयुक्त एक ही पत्थर खण्ड का एक स्तंभ भी मिला है। कम्बुज में अन्यत्र भी ईंटों और पत्थरों के बने मन्दिरों के अवशेष मिले हैं जिनका काल गुप्तकाल या उसके शीघ्र बाद का छठी-सातवीं सदियों का है। हन्चेई के मन्दिरों में मकरतोरण बने हैं, उड़ते हुए हंसों की उकेरी आकृतियां भी वहां उपलब्ध हैं और भारतीय गुप्त मन्दिर (भीतर गांव) की तरह चैत्य खिड़कियों या मेहराबों में मस्क कोरे गए हैं। इसी प्रकार के मस्तक धारण करने वाले चैत्य, शिखर प्रेई कुक के कम्पोन थोम के मन्दिर में भी हैं। यहां लगभग पचास ईंट के बने मन्दिरों के अवशेष हैं जिनके तोरणद्वार 'मकर' लांछित हैं। स्पष्टत: इन पर भारतीय गुप्तकालीन प्रतीकों की छाप है। गुप्त प्रभाव से प्रभावित और भी अनेक मंदिर कुलेन के गिरिशिखर पर हैं जहां पत्थर काट कर हाथियों का परम्परा कोरी गई है।

कम्बुज कलावर्त में अनेक ऐसी प्रतिमाएं हैं जिनका आकलन-मान भारतीय प्रतिमाओं की शालीनता से किसी मात्रा में कम नहीं। समूचे कला के इतिहास में उनका अपना स्थान है, असामान्य।[1] इनमें फ्नोम दा की खड़ी नारी प्रतिमा संभवत: चौथी सदी ईस्वी की है। रोमलोक की खड़ी बुद्ध मूर्तियां भी अगली ही सदी की हैं जो अपने दमखम में भारत के बुद्धों के निकट व अनुरूप हैं। कुमार स्वामी की राय में[2] ब्रुसेल्स में रखी लोकेश्वर की मूर्ति भारतीय विद्या से प्रभावित फूनान की कला की मूर्धन्य कृति है।

कम्बुजीय प्रतिमा-आकलन में स्वयं वहां की मूर्तियां अपने रूपायन की प्रौढ़ता और आकर्षण में अपना सानी नहीं रखतीं। कहीं-कहीं तो लगता है कि जीवन का समूचा तत्व खींचकर प्रतिमा में एकस्थ कर दिया गया है। प्राक्-खमेर ब्राह्मणकला का एक रूप काम्पोन थोम हरिहर की प्रतिमा में प्रसूत हुआ है। यह अब फोम पेम के संग्रहालय में है। इसके आभूषण सुरुचि से चुने गए हैं जो रत्नजटित मेखला तक ही सीमित हैं। फ्नोस दा की एक दूसरी हरिहर की मूर्ति इसी प्रकार की पेरिस के संग्रहालय मूज़ी गीम्ये में मैंने सुरक्षित देखी। दोनों मूर्तियां संभवत: सातवीं सदी की हैं।

---

1. कुमारस्वामी, हिस्ट्री आफ इण्डियन० पृ० 182
2. वही

अगली दो सदियों का इतिहास प्राय: तमाच्छन्न है। मूर्तनों का भी कम्बुज में प्राय: अभाव है। ख्मेर की क्लासिकल कला का फिर भी शीघ्र ही प्रादुर्भाव होता है जो उत्तर की स्थानीय काष्ठ परम्परा से ही प्रभावित है। भारतीय प्रभाव उसपर पर्याप्त कम हो गया है। अब चीन का प्रभाव भी उस वास्तु पर लक्षित होने लगता है यद्यपि भारतीय प्रतीक सर्वथा अज्ञात नहीं।

अब वहां के वास्तु पर मानव मुखीय स्तंभ, गारुणी निगस्ते और नागयुक्त सेतु प्रदर्शित होते हैं जो दूर की अपनी विद्या में चाहे भारतीय रहे हों, उनका अपना विकास चीन के ही वास्तु से हुआ है। मूर्तिरूपों में भी अन्तर पड़ गया है। केशविन्यास की मध्य रेखा सर्वथा सीधी हो जाती है, भ्रू रेखा भी एक सीध में अन्वित होने लगती है, ओष्ठाधर भर उठते हैं, उनके आकार भी बढ़ जाते हैं। अप्सराओं की मुखाकृतियां तो असामान्य दिव्य और आकर्षक हो जाती हैं, उनका मायिक सौन्दर्य, उनकी मुद्रा की गंभीरता के बावजूद, खिल उठता है।

पर पौराणिक परिकल्पना में कोई अन्तर नहीं पड़ता, अधिकतर वह भारतीय ही बनी रहती है। शैव और तान्त्रिक महायान के देवताओं की प्रचुरता पूर्ववत् रहती है। प्रधानत: दो प्रकार की प्रतिमाओं का यहां विशेषत: उल्लेख समीचीन होगा। राजाओं की प्रतिमाएं अब पितराधन के अर्थ प्रयुक्त होने लगती हैं। राजा अपने आराध्य का अनुवर्ती नाम धारण करते हैं और उनकी मृत्यु के बाद उनकी सन्तति उनकी प्रतिमा बाह्यरूप से देववत् बना उसे प्रतिष्ठित करती और पूजती है। इस संबंध के ईंटों के बने अनेक मन्दिरों के अवशेष कम्बुज में सुरक्षित हैं। 'देवराज' विधा की प्रतिमाएं और भी भावात्मिका हैं। अभिप्राय इसका भी राजा-देवता से है जिसका प्रचलन जयवर्मन द्वितीय ने महेन्द्र पर्वत पर किया। इस पूजन का पहला पुरोधा शिव कैवल्य था जिसके कुल में यह पूजन परम्परागत हो गया। स्दोक काक थोम के प्रसिद्ध अभिलेख (1042 ई०) से प्रमाणित है कि जयवर्मन ने इसकी प्रतिष्ठा कम्बुज की प्रखर नीति से रक्षा के लिए की थी।

वास्तु के क्षेत्र में जयवर्मन द्वितीय (802-869) द्वारा निर्मित हरिहरालय, अमरेन्द्रपुर और महेन्द्र पर्वत नाम की राजधानियों का उल्लेख यहां अनिवार्य है। अमरेन्द्रपुर का आधुनिक प्रतिनिधि बत्तमबंग ज़िले का बन्तेई छ्मेर है, विशाल मन्दिर और दुर्ग। ख्मेरों ने यहां नगरदुर्ग और मन्दिर का निर्माण अत्यंत जीवन्त रूप में किया है। चारों ओर जलपूर्ण परिरपाएं चली गई हैं जिन्हें लांघने के लिए देवासुर संयुक्त नागसेतु बने हैं; छतों के गोलार्धों के ऊपर ऊंची मीनारें हैं और गैलरियां उत्कीर्णनों से सज उठी हैं। द्वार नाग-तोरणों से लांछित हैं। हरिहरालय अंकोर थोम के पास का प्राह खान है जिसका अधिकतर स्वरूप अमरेन्द्रपुर का साही है यद्यपि अपने विन्यास में वह उससे लघुतर है। उसके घेरे

की खरिखा प्राय: 120 फुट चौड़ी है, दीवारें इसकी प्राय: 2400 फुट लंबी हैं जिनमें चारों ओर ऊंचे स्तंभ युक्त द्वार हैं, द्वारों पर मानवमुख-अभिप्राय हैं। दीवारों के निगस्ते गरुड़ाकृतिक हैं। नगर के मध्य विशाल मन्दिर खड़ा था। इसके अतिरिक्त भी मन्दिरों की एक अटूट परम्परा चलती चली गई है। नगर के पूर्व में कभी जल से लहरती 900 फुट लंबी और 3000 फुट चौड़ी झील थी जो अब सूख गई है। झील के बीचोबीच पत्थर के आधार पर खड़ा 'नियाक-पियान' का विशाल मन्दिर है। नगर और राजप्रासाद निःसंदेह विपुल थे और अपने जीवन काल में जनसंकुल रहे होंगे। महेन्द्र पर्वत का आज का प्रतिनिधि 'बेंग-मे आलेआ' माना जाता है। विद्वान् उसे अंकोरवात का समकालीन अथवा उससे भी बाद का मानते हैं। इसकी निर्माण कला भी असाधारण और दर्शनीय है।

कम्बुज के अंगकोर थोम अंकोर वात की बड़ी प्रसिद्ध है। अंकोर थोम उसके मन्दिरों के भग्नावशेषों का विस्तार है। उसका निर्माण वर्मनों की राजधानी (थोम राजधानी) के रूप में हुआ है। वह निर्माण प्राय: 860 ई० प्रारंभ हुआ और लगभग 900 तक वह बनकर तैयार हो गया। पश्चिम के पड़ोसी थाई पहले कम्बुज के ख्मेर साम्राज्य के अधीन थे परन्तु चौदहवीं सदी के मध्य उन्होंने कंबुज पर आक्रमण करना प्रारंभ किया और अंकोर थोम को बारंबार जीता और लूटा। लाचार होकर ख्मेरों को वह राजधानी छोड़ देनी पड़ी। धीरे-धीरे बांस के वनों की बाढ़ ने नगर को सभ्य जगत् से सर्वथा पृथक कर दिया और उसकी सत्ता अंधकार में विलीन हो गई। नगर भी टूट कर अधिकतर खंडहर हो गया। उन्नीसवीं सदी के अन्त में एक फ्रांसीसी वैज्ञानिक ने पांच दिनों की नौका-यात्रा के बाद उस नगर और उसके खंडहरों का पता लगाया। नगर तोन्ले साप नामक महासरोवर के उत्तरी तट पर सदियों सोता पड़ा रहा था जहां पास ही दूसरे तट पर विशाल मन्दिरों के भग्नावशेष खड़े थे।[1]

आज का अंकोर थोम एक विशाल नगर का खंडहर है। उसके चारों ओर 330 फुट चौड़ी खाई दौड़ती है जो कभी जल से भरी रहती थी। नगर और खाई के बीच एक विशाल वर्गाकार प्राचीर नगर की रक्षा करती थी। प्राचीर में अनेक भव्य महाद्वार बने थे। महाद्वारों के ऊंचे शिखरों को त्रिशीर्ष दिग्गज अपने मस्तक पर उठाए खड़े हैं। विभिन्न द्वारों से पांच विभिन्न राजपथ नगर के मध्य तक पहुंचते हैं। विभिन्न आकृतियों वाले सरोवरों के भग्नावशेष अपनी जीर्णावस्था में भी आज अपने निर्माता की प्रशस्ति गाते हैं। नगर के बीचोंबीच शिव का विशाल मन्दिर है जिसके तीन भाग हैं। प्रत्येक भाग का अपना ऊंचा शिखर है। मध्य शिखर की ऊंचाई लगभग 150 फुट है। इन ऊंचे शिखरों के

1. हिन्दी विश्वकोश, खण्ड 1, पृ० 13, डा० पद्मा उपाध्याय का अंकोर थोम-बात विषयक लेख।

चारों ओर अनेक छोटे-छोटे शिखर बने हैं जो संख्या में प्रायः 50 हैं। इन शिखरों के चारों ओर समाधिस्थ शिव की मूर्तियां स्थापित हैं। मन्दिर का शिल्प आश्चर्यजनक है। उसकी दीवारों पर पशु, पक्षी, पुष्प, लताएं तथा विभिन्न मुद्राओं में नृत्यांगनाएं निरूपित हैं। मन्दिर वास्तु की दृष्टि से विश्व की अद्भुत विभूति है और प्राचीन पौराणिक वस्तु के अवशेषों में तो सर्वथा एकाकी है। अंकोर थोम के मन्दिर और भवन, उसके प्राचीन राजपथ और सरोवर सभी उस नगर की समृद्धि के सूचक हैं।[1] नगर का निर्माण अगस्त्य के पुत्र और इन्द्रदेवी के पति राजा इन्द्रवर्मन प्रथम (877-889) ने कुछ सीमा तक कराया था।

बारहवीं सदी के लगभग सूर्यवर्मन द्वितीय ने अंकोर वात में विष्णु का एक विशाल मन्दिर बनवाया। इस मन्दिर की रक्षा भी एक चतुर्दिक खाई करती है जिसकी चौड़ाई लगभग 700 फुट है। दूर से यह खाई झील के समान दृष्टिगोचर होती है। मन्दिर के पश्चिम की ओर इस खाई को पार करने के लिए एक पुल बना है। पुल के पार मन्दिर में प्रवेश के लिए एक विशाल द्वार लगभग 100 फुट चौड़ा है। मन्दिर के अंगांगों पर समस्त रामायण मूर्तियों में अंकित है। इनसे प्रकट है कि विदेशों में जाकर भी प्रवासी कलावन्तों ने भारतीय कला का विस्तार किया था। प्रमाणतः अंकोर थोम जिस कंबुज देश की राजधानी था उसमें विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश आदि की पूजा प्रचलित थी। इन मन्दिरों के निर्माण में जिस कला पद्धति का अनुकरण हुआ है वह भारतीय गुप्त कला से प्रभावित जान पड़ता है। अंकोर वात के मन्दिरों, तोरणों, द्वारों और शिखरों के अलंकरण में युक्त कला प्रतिबिंबित है। एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि यशोधरपुर (अंकोर थोम का पूर्व नाम) का संस्थापक नरेश यशोवर्मन—"अर्जुन और भीम जैसा वीर, सुश्रुत जैसा विद्वान्, तथा शिल्प, भाषा, लिपि एवं नृत्य कला में पारंगत था।"[2] उसने अंकोर थोम और अंकोर वात के अतिरिक्त अन्य स्थानों में भी आश्रम स्थापित किए जहां रामायण, महाभारत, पुराणों तथा अन्य भारतीय ग्रंथों का अध्ययन-अध्यापन होता था। अंकोर वात के हिन्दू मन्दिरों पर बाद में बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा और कालांतर में उनमें बौद्ध भिक्षुओं ने निवास भी किया।[3]

नई राजधानी लिंगपुर का निर्माण जयवर्मन पंचम ने कराया जहां उसने और उसके पुत्र हर्षवर्मन द्वितीय ने निवास किया। 948 ई० के एक अभिलेख

---

1. हिन्दी विश्वकोश खण्ड 1, पृ०13, डा० पद्मा उपाध्याय का अंकोर थोम-वात विषयक लेख
2. वही
3. वही

में इसके निर्माण का उल्लेख हुआ है। इसके भग्नावशेष अंकोर से दूर कोह् केर में हैं, कुलेन पर्वत के परे घने जंगल में हैं। वहां समूची शिलाओं के अनेक लिंग बने हैं। इनके पश्चिम में प्रधान मन्दिर है जिसके चारों ओर परिखा, नागसेतु आदि हैं। महाभारत और रामायण के दृश्यों से संयुक्त विशाल मन्दिर जयवर्मन षष्टम् ने भी बनवाया। इसके शिखर को, जो अब नष्ट हो गया है 'गिरिश्रृंग' कहा जाता था। इसके और जयेन्द्रगिरि-प्रासाद के निर्माता शिल्पी का नाम शिवब्रह्म था जिसे पारिश्रमिक सात दासों का मूल्य मिला था।

सूर्यवर्मन प्रथम (1002-1050) और उसके मंत्रियों ने अनेक निर्माण कार्य किए और उन्होंने ब्राह्मण और बौद्ध दोनों धर्मों को संपन्न किया। उसके शासनकाल का एक विशाल मन्दिर ता केओ, अंकोर के पूर्व और ता प्रोह्म के उत्तर में स्थित था। इसे राजगुरु पंडित योगेश्वर ने शिव-कपालेश्वर को समर्पित किया था। इसमें मूलतः शिव और दुर्गा की मूर्तियां प्रतिष्ठित थीं। दंग्रेक पर्वत की ढलान पर अत्यन्त अलंकृत प्राह विहेआर बना है। उत्तर की ओर से चढ़ाई धीरे-धीरे उठती है और दर्शक सहसा करीब डेढ़ हज़ार फुट की ऊंचाई पर जा खड़ा होता है। मन्दिर शिव-शिखरेश्वर का है, प्रकृति के सौन्दर्य को मंडित करता दोनों ओर लाओस पहाडियां फैली चली गई हैं और दक्षिण की ओर हरितवन सागर-सा लहराता है।

अंकोर वात के निर्माण और लोप के साथ कम्बुज की कला का प्रायः अन्त हो गया। तेरहवीं-चौदहवीं सदियों में कुछ बौद्ध मन्दिर-विहार निश्चय ही बने पर वस्तुतः वहां का शिल्प समाप्त प्रायः था। पन्द्रहवीं सदी में स्वयं अंकोर वात वीरान हो गया। पर आज भी उस भग्ननिर्माणमाला के अवशेष अपने शिखरों, परिखाओं, देवासुर प्रतिमाओं, गरुड़-बाणासुर कथाओं आदि द्वारा अपने विस्मृत संसार की याद दिलाते हैं। हीनयान का प्रादुर्भाव भी इस शिल्प लोप का कारण बना जो धीरे-धीरे कम्बुज पर ही हावी हो गया; ब्राह्मण धर्म के कुछ अवशेष अब मात्र ब्राह्मण-कुलों के क्रिया-कलापों में बच रहे हैं।

अध्याय-22

चम्पा

आज जिसे अनाम कहते हैं उसका प्राचीन और भारतीय नाम चम्पा है। कुआंग नाम के दक्षिण में चम्पा की राजधानी चम्पा नगरी अथवा चम्पापुर के भग्नावशेष आज भी खड़े हैं। पहले चम्पा पर चीनियों का प्रभुत्व था जिसे भारतीय प्रवासियों ने धीरे-धीरे निरस्त कर दिया। श्रीमार संभवत: पहला हिन्दू राजा था जिसने दूसरी सदी ईस्वी में उस भूमि को चीनी प्रभाव से मुक्त कर वहां अपने राजकुल की प्रतिष्ठा की।

220 ई० में चीन में प्रसिद्ध हान राजकुल का नाश हो गया जिससे इस साम्राज्य के प्रान्त बिखर चले। साहसी जन नेताओं को इससे जो संयोग मिला तो चम्पा के हिन्दू राजा ने भी उससे लाभ उठाया और शीघ्र ही उसने तोंकिन पर आक्रमण कर दिया। वहां के जहाज़ी बेड़े को अपने पोतों से नष्ट कर उसने उस प्रदेश के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया और उसके अनेक नगरों को लूट लिया। इन हिन्दू राजाओं के नाम चीनी वृत्तान्तों में ही मिलते हैं। इनके नाम का भी फूनानी राजाओं की ही भांति 'फान' अथवा 'वर्मन' शब्द से अन्त होता है।

फान हिओंग, जो 270 और 280 के बीच कभी चम्पा के सिंहासन पर बैठा, संभवतः श्रीमार का ही वंशज था। उसने फूनान की सहायता से बार-बार तोंकिन के प्रदेशों पर हमले किए और अन्त में उसी की शर्तें मान कर चीनियों ने उससे 280 ई० में सन्धि कर ली। उसके उत्तराधिकारी फान-यी ने प्रायः आधी सदी तक राज किया और वह 336 ई० में मरा। उसने 284 ई० में चीन के सम्राट के पास अपने दूत भेजे थे।

उसके मरते ही उसके सेनापति फान वेन ने चम्पा की गद्दी पर अधिकार कर लिया। 347 में चीनी प्रान्त न्हुत-नाम पर आक्रमण कर उसने उस पर अधिकार कर लिया। दो ही वर्ष बाद चीनियों का प्रत्याक्रमण हुआ। उनकी सेना को फान-वेन ने परास्त तो कर दिया पर युद्ध में घायल होकर वह स्वयं मर गया। उसकी मृत्यु के बाद चम्पा और दक्षिणी चीन में प्राय: दो पीढ़ियों तक संघर्ष होता रहा। चीनी वृत्तान्तों में फान-वेन के पौत्र का नाम फान-हू-ता मिलता है। संभवतः वही चम्पा के संस्कृत के अभिलेखों का राजा भद्रवर्मन है, पर

वस्तुत: यह निष्कर्ष सर्वथा विश्वसनीय नहीं है, जिससे कुछ विद्वानों ने भद्रवर्मन की पहचान फान-हु-ता के पिता फान-फो से की हो। उसने चीनियों का बार-बार पराभव किया और चम्पा के समस्त प्रान्तों, उत्तर के अमरावती, दक्षिण के पांडुरंग और मध्य के विजय, पर अधिकार कर लिया। उसे वेदों का महापंडित कहा गया है। उसने मीसोन में अपने नाम से संयुक्त भद्रेश्वर स्वामी (शिव) का मन्दिर बनवाया, जो चम्पा का प्रधान देवालय बना।

भद्रवर्मन के पुत्र गंगराज ने कुछ दिनों राज करने के बाद गंगावास ले लिया और चम्पा में लूट मार शुरू हो गई जिसका अन्त करके फान यांग माई ने वहां अपना नया राजकुल 420 में स्थापित किया। उसके पुत्र फान यांग माई द्वितीय ने हर साल तोंकिन पर आक्रमण करना शुरू किया जिससे क्षुब्ध हो कर चीनी सम्राट् ने चम्पा को जीतकर 446 ई० में उसको तहस-नहस कर दिया। मंदिरों से जो स्वर्ण की मूर्तियां लेकर चीनियों ने गलाईं उनका तौल लगभग 50,000 सेर था। स्वयं फान यांग माई तो इस सदमे से चल बसा पर उसके पुत्र और पौत्र ने चम्पा पर राज किया। पौत्र ने अनेक दूत मूल्यवान उपहारों के साथ चीनी सम्राट् के दरबार में भेजे। बाद में चम्पा पर फूनान (कम्बुज) का अधिकार हो गया। फिर एक बार बुझती हुई दीपशिखा चम्पा के वर्मन राजकुल की चमकी और विजय वर्मन ने दूत भेजकर चीनी सम्राट से मैत्री कर ली।

नया राजा रुद्रवर्मन ब्रह्म क्षत्रिय कहा गया है (गंगराज का वंशज)। उसने भी चीनी सम्राट् को अनेक दूत भेजे। उसके अन्तिम उपहार चीन 534 में पहुंचे। प्रशस्तवर्मन शम्भुवर्मन के नाम से रुद्रवर्मन के बाद चम्पा की गद्दी पर बैठा। चीनी सम्राट् (चेन राजकुल) की दुर्बलता से लाभ उठा कर उसने चीन को कर देना बन्द कर दिया। पर सुई वंश के सम्राट् ने 605 ई० में उस पर आक्रमण कर युद्ध भूमि से भगा दिया और चम्पा से अट्ठारह राजाओं द्वारा संरक्षित सोने की ईंटें और 1350 बौद्ध ग्रंथ उठा ले गया। कहा जाता है कि उसने दस हज़ार चामो के कान कटवा लिए थे। 629 में शम्भुवर्मन के बाद चम्पा का राजा उसका पुत्र कन्दर्पवर्मन हुआ जिसने पिता की स्थिति से सबक लेकर चीनी सम्राट् से मित्रभाव रखना ही उचित समझा और उसे बराबर कर उपहार भेजता रहा।

कन्दर्पवर्मन् के बाद चम्पा का राज्य अन्तर्द्रोह से क्षतविक्षत हो गया। इस उथल-पुथल में उसका पुत्र प्रभासधर्म सपरिवार मार डाला गया और 645 में उस राजकुल के कन्यावंश के सत्यकौशि स्वामी ने राज्यारोहण किया। उसके पौत्र जगद्धर्म ने कम्बुज के राजा ईशानवर्मन की कन्या शर्वाणी को ब्याहा। अगला राजा वहां जगद्धर्म और शर्वाणी का पुत्र विक्रान्तवर्मन हुआ (657)।

इस वंश का अन्तिम राजा रुद्रवर्मन द्वितीय था जो 757 ई० के लगभग मरा और इस प्रकार कुल का अन्त हो गया।

757 और 971 ई० के बीच चम्पा पर दो राजकुलों—पाण्डुरंग (757-860) और भृगुवंशों (860-985 ई०)—का प्रभुत्व रहा। उनके बाद ही उस पर अनामी आक्रमण होने लगे और 999 ई० तक, वस्तुतः हज़ार की सदी पहुंचते-पहुंचते, हिन्दू राजवंश का अन्त हो गया। नीचे हम इन्हीं पाण्डुरंग और भृगु दोनों राजवंशों का संक्षिप्त वृत्तान्त लिखेंगे। युग अत्यन्त कठिन और उच्छृंखल था, राजनीतिक उथल-पुथल इस बीच पर्याप्त हुई पर इतिहास उस अंधकार से भी उबारा जा सका है।

पाण्डुरंग राजकुल

रुद्रवर्मन द्वितीय के बाद पृथिवीवर्मन और उसके बाद उसका भगिनी पुत्र सत्यवर्मन चम्पा के राजा हुए। दोनों के शासनकाल में काफी गृहयुद्ध हुए और जावानी आक्रमणों का वह देश शिकार हुआ। समुद्र की राह आक्रमण कर वे 774 ई० में विचित्र सागर द्वारा बनवाए मंदिर को जला कर वहां से शिव का महालिंग उठा ले गए। सत्यवर्मन ने उनके आक्रमणों का कुछ परिहार किया और नया शिवमंदिर बनवाया। इन्द्रवर्मन ने समूचे चम्मा पर राज किया और इन्द्रभद्रेश्वर, इन्द्रभोगेश्वर, इन्द्रपरमेश्वर आदि अनेक मन्दिर निर्मित किए।

801 ई० में इन्द्रवर्मन के भगिनीपुत्र हरिवर्मन ने सिंहासनारोहण किया। चीनी वृत्तान्त के अनुसार इस राजा ने चीन के दो ज़िले जीतकर चम्पा में मिला लिए पर कुछ ही काल बाद, संभवतः 809 में, चीनियों ने उसे परास्त कर दिया। इस राजा ने कम्बुज के विरुद्ध भी सफल अभियान किए और अपना नया विरुद राजाधिराज श्री चम्पापुर परमेश्वर धारण किया। हरिवर्मन के बाद उसका पुत्र विक्रान्तवर्मन तृतीय चम्पा की गद्दी पर बैठा (ल० 820-860) और उसके निर्वंश करने के कारण पाण्डुरंग विलुप्त हो गया।

भृगुवंशी राजा (लगभग 860--985)

भृगुवंश का आमियिता इन्द्रवर्मन द्वितीय था जो, अभिलेखों के अनुसार, पितामह अथवा पिता द्वारा अर्जित राज्य का स्वामी नहीं हुआ था बल्कि जिसने उसे अपने तप और बुद्धि द्वारा अर्जित किया था। अभिलेखों में उसके वंश का नाम भृगुवंश दिया मिलता है। कुछ आश्चर्य नहीं जो यह राजकुल ब्राह्मणों का रहा हो। उसने प्रायः 35 वर्ष राज किया और शैव होते हुए भी बौद्ध मंदिर और विहार बनवाए।

उसका उत्तराधिकारी जयसिंहवर्मन (लगभग 896-905) उसका संबंध क्या लगता था, इसका पता नहीं चलता। उसने अपनी राजधानी इन्द्रपुर को मन्दिर से भर दिया। उसके बाद उसके पुत्र भद्रवर्मन् तृतीय और पौत्र इन्द्रवर्मन तृतीय क्रमश: चम्पा की गद्दी पर बैठे। अभिलेखों में इन्द्रवर्म न को तर्क, मीमांसा, व्याकरण (पाणिनि और काशिका), शैव उत्तरकल्प और बौद्ध दर्शन का पंडित कहा गया है। पर उसके शासन काल में कम्बुज की सेनाओं ने चम्पा में उपद्रव मचाए। इन्द्रवर्मन फिर भी अपनी गद्दी पर बना रहा। उसने प्राय: साठ वर्ष तक (911-971 ई०) दीर्घकालिक राज किया। कम्बोजों के दुर्व्य-वहार से चम्पा की बड़ी क्षति हुई पर राजा अपने दूतों द्वारा चीन से संपर्क बनाए रहा।

इन्द्रवर्मन तृतीय के उत्तराधिकारी परमेश्वर वर्मन के शासनकाल में अनामी उपद्रवों ने भीषण रूप धारण कर लिया। 968 ई० में उन्होंने चम्पा के उत्तर में दिन्ह बो लिन्ह के नेतृत्व में अपना राज्य स्थापित कर लिया था। उसके उत्तराधिकारी और परमेश्वरवर्मन में पर्याप्त संघर्ष हुआ जिसमें चम्पा का राजा मारा गया। अनामी सम्राट् ले होआन ने राजधानी को लूटा और चम्पा के एक बड़े भाग पर अधिकार कर लिया। वह बहुत-सा लूट का माल, अन्त:पुर की 100 अंगनाएं और एक भारतीय भिक्षु लेकर स्वदेश लौटा। इन्द्रवर्मन चतुर्थ चम्पा का नाममात्र का राजा हुआ और एक अनामी सरदार ने चम्पा पर अधिकार कर लिया। पर शीघ्र ही चम्पा के एक वीर विजय श्री हरिवर्मन् द्वितीय 989 ई० में अनामियों को चम्पा से भगा कर अपनी राजधानी इन्द्रपुर से राज करने लगा। अनाम और चम्पा में कुछ काल तक मित्रभाव बना रहा पर उस संघर्ष ने चम्पा को निष्प्राण कर दिया। चीनी वृत्तान्तों के अनुसार उसकी गद्दी पर हरिवर्मन के बाद यान पू कू विजय श्री 999 के लगभग बैठा और अपनी राजधानी सुरक्षा के लिए दक्षिण की ओर विजय में उसने स्थापित की।

चम्पा का हिन्दू राज्य, अनामी और चीनी आक्रमणों के बावजूद प्राय: पांच सौ साल और बना रहा और यद्यपि उसके राजाओं का प्रभुत्व निरंतर कम होता गया। उनका अस्तित्व अठारहवीं सदी तक बना रहा। अनामी शक्ति बराबर चम्पा की चिन्ता और पराभव का कारण बनी रही। दोनों में कारण-अकारण संघर्ष होते रहे और अन्त में जयसिंहवर्मन द्वितीय (राज्यारोहण 1041 ई०) के समय दोनों राज्यों में अनबन की सीमा पार कर गई। जय-सिंहवर्मन ने राज्यारोहण के दो वर्ष बाद अपने जहाज़ी बेड़े से अनाम पर आक्रमण शुरू किए। अनामी सम्राट फत-मा ने सागर और स्थल मार्ग से सेना भेज चाम सेना को बुरी तरह परास्त कर दिया। राजा के साथ 30,000 सैनिक

मारे गए, राजधानी लूट ली गई और सम्राट् अतुल लूट के धन के साथ अनाम वापस लौटा।

1050 ई० में चम्पा के प्राचीन राजकुल का वंशज जयपरमेश्वर वर्म देव ईश्वरमूर्ति गद्दी पर बैठा और तत्काल उसने पाण्डुरंग प्रदेश के विरुद्ध अपनी बलवती सेना भेजी जिसने उसे जीत कर हज़ारों को गुलाम बना लिया। फिर उसने अपने पुत्र युवराज महासेनापति को कम्बुज पर आक्रमण करने के लिए भेजा जिसने वहां के अनेक मन्दिर नष्ट कर शम्भुपुर पर अधिकार कर लिया। राजा ने अनाम और चीन दोनों से दौत्यों द्वारा सद्भाव बनाए रखा और देश में अनेक मन्दिरों और विहारों का निर्माण किया और शान्ति स्थापित करके 1060 ई० में उसकी मृत्यु हुई।

पर नया राजा रुद्रवर्मन महत्त्वाकांक्षी सिद्ध हुआ और उसने अनाम के विरुद्ध फिर संघर्ष छेड़ दिया यद्यपि उसे मुंह की खानी पड़ी। अनामियों ने न केवल चम्पा की सेना को पूर्णतः परास्त कर दिया बल्कि राजा को बन्दी बना कर राजधानी विजय को जला डाला। फिर अनामी सम्राट् राजा और 50,000 कैदी लिए 1069 में तोंकिन लौटा। राजा को चम्पा के तीन उत्तरी ज़िले देकर अपनी आज़ादी खरीदनी पड़ी। जब तक वह घर लौटा तब तक उसकी गद्दी के लिए अनेक उम्मीदवार जूझ चुके थे। संघर्ष के अन्त में हरिवर्मन ने चम्पा के सिंहासन पर अधिकार कर लिया।

हरिवर्मन चतुर्थ ने दृढ़ता का परिचय दिया और 1075 में अनाम के आक्रमण को विफल कर दिया। इसपर कम्बुज की सेना ने भी आक्रमण किया था जिसे परास्त कर उसने उसके सेनापति राजकुमार श्रीनन्दनवर्म देव को बन्दी बना लिया। हरिवर्मन ने पाण्डुरंग को छोड़ प्रायः समूचे चम्पा को अपने अधिकार में कर लिया और मन्दिरों, विहारों तथा चम्पानगरी का पुनरुद्धार किया। 1081 ई० में उसने राज तज दिया पर 41 वर्ष की ही आयु में वह मर गया। उसकी चिता पर चौदह रानियां सती हुईं।

हरिवर्मन के बाद उसका कनिष्ठ भ्राता युवराज महासेनापति राजकुमार पाज्न 'परम-बोधिसत्व' विरुद धारण कर राज्याधिकारियों की प्रार्थना पर गद्दी पर बैठा। उसने पाण्डुरंग पर शीघ्र ही अधिकार कर अनाम को नियमित रूप से कर-उपहार भेज कर देश में शान्ति स्थापित की। उसकी मृत्यु के बाद उसके भाई हरिवर्मन चतुर्थ का पुत्र जयइन्द्रवर्मन पंचम 1086 में राज्य का स्वामी हुआ और 1103 में अनाम पर आक्रमण कर अपने तीन ज़िले अनामियों से वापस जीत लिए। पर अनामी उससे सबल सिद्ध हुए और राजा को तीनों ज़िले लौटा कर कर-उपहार देकर सन्धि करनी पड़ी। तीस वर्ष की शान्ति के बाद संघर्ष फिर छिड़ा जब जयइन्द्रवर्मन षष्टम् ने कम्बुज के राजा के साथ मिलकर

अनामियों पर आक्रमण किया पर विफल मनोरथ हो जब वह लौटा तब उसके विश्वासघात से क्रुद्ध कम्बुज राज सूर्यवर्मन द्वितीय ने 1145 ई० में चम्पा पर आक्रमण कर विजय पर अधिकार कर लिया। जयइन्द्रवर्मन विनष्ट हो गया।

उसके पुत्र और उत्तराधिकारी हरिवर्मन षष्टम् ने संघर्ष जारी रखा और विजय को जीत कर चम्पा की गद्दी पर 1149 में बैठा। इसी समय कम्बुज के राजा की शह पाकर चम्पा के पहाड़ी किरातों ने विद्रोह किया। उनकी सहायता अनामी सम्राट् ने भी की पर अपनी दृढ़ता और शौर्य से हरिवर्मन अपने देशी-विदेशी शत्रुओं पर विजय पाई और अब वह मन्दिरों आदि के पुनरुद्धार के अर्थ दत्तचित्त हुआ। उसने चीन और अनाम से मित्र भाव कर राज्य में शान्ति रखी। इस महान् राजा के सात अभिलेख मिले हैं जिनमें वह सौ युद्धों का विजेतावीर कहा गया है। उसने राज्य की रक्षा कर उसे समृद्ध किया। वह 1162 के शीघ्र ही बाद मरा।

नये राजा जयइन्द्रवर्मन सप्तम् और उसके उत्तराधिकारी जयइन्द्रवर्मन अष्टम् ने कम्बुज के साथ युद्ध किया। पहले ने तो कम्बुज की राजधानी पर कब्ज़ा भी कर लिया पर उसे पीछे हटना पड़ा। दूसरे को भी परास्त कर कम्बुज राज उसे बन्दी कर अपनी राजधानी ले गया। 30 वर्ष तक चम्पा पर कम्बुज का अधिकार बना रहा। 1220 में चम्पा से कम्बुज की सेनाएं हटीं और चम्पा की गद्दी पर जयहरिवर्मन षष्टम् का पौत्र जयपरमेश्वरवर्मन चतुर्थ बैठा। उसका राज्याभिषेक 6 वर्ष बाद 1226 में हुआ। उसके शान्तिपूर्ण शासन के बाद उसका भ्राता जयइन्द्रवर्मन दशम् सिंहासनासीन हुआ जिसे उसके भगिनीपुत्र ने 1257 में मार कर गद्दी छीन ली।

वह इन्द्रवर्मन एकादश नाम से 1266 ई० में चम्पा का राजा हुआ। उस काल चीन का सम्राट् महान् मंगाले कुब्लाई खान था। सम्राट् के आवाहन पर उसने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली और चीन से दो शासक चम्पा के शासन के लिए आ पहुंचे। इन्द्रवर्मन के पुत्र हरिजित ने इस अपमान का उत्तर अपनी जनता का संगठन कर और चीनी शासकों को भगा कर दिया। कुब्लाई खान ने सगातू के नेतृत्व में सेना भेजी। इन्द्रवर्मन् पहाड़ों में जा छिपा। युद्ध पर युद्ध होते रहे पर इन्द्रवर्मन हाथ नहीं आया। चीनी सेना के लिए स्थल से राह न देने के कारण चीनी सेना ने उत्तर की ओर से अनाम पर आक्रमण किया पर अनामी सम्राट् ने उसे परास्त कर दिया। इन्द्रवर्मन् शीघ्र ही परलोक सिधारा और उसका वीर पुत्र हरिजित् जयसिंहवर्मन चतुर्थ के नाम से गद्दी पर बैठा। उसने चीनियों के सारे विजयचिह्न मिटा दिए और चीन को कर भेजना बन्द कर दिया। उसने जावा और अनाम नरेशों की कन्याओं को ब्याहा। उसकी मृत्यु पर

1307 में उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन राजा हुआ। उसके शासनकाल में अनामी सम्राट् ने चम्पा पर आक्रमण कर महेन्द्रवर्मन को बन्दी कर लिया। उसके भ्राता को राज्यभार दे चम्पा को अपना करदायी राज्य बना लिया (1312 ई०)।

नये राजा ने जब विद्रोह की भावना प्रदर्शित की तब सम्राट् ने उसे भगाकर अपने अनाम शासक चम्पा पर शासन के लिए भेजे। इन्होंने भी जब अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी तो नया संघर्ष छिड़ गया जो 150 वर्ष चला। 1470 में अनामी सम्राट् ने एक लाख सेना जलमार्ग से भेजी और डेढ़ लाख सेना लेकर वह स्वयं स्थल मार्ग से चम्पा पहुंचा। उसने विजय जीत कर सागर तक की सारी भूमि पर अधिकार कर लिया। सदियों चम्पा के छोटे-मोटे राजा अनामियों से लड़ते रहे पर 1822 ई० में चम्पा के नाममात्र के राजा ने कम्बुज में शरण ली और चम्पा का हिन्दू राज्य सदा के लिए मिट गया। सदियों वहां हिन्दू राजकुलों ने शासन और भारतीय संस्कृति का विस्तार किया था। सदियों उन्हें अनाम और कम्बुज के साथ संघर्ष भी करने पड़े थे। अन्त में उसकी राज्य शक्ति नष्ट हो गई और चम्पा अनामियों का प्राप्त बन गई। उसका नाम भी चम्पा से बदल कर अब अनाम हो गया।

चम्पा की कला

चम्पा में भारतीय कला से प्रभावित शिल्पकृतियों की कमी नहीं। उनमें से प्रधान को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है—मीसोन के शिल्पकार्य, दोंग दुओंग, और पो-नगर के। इनमें से दोंग दुओंग के मन्दिर और विहार बौद्ध हैं और शेष शैव। साधारण तौर से ये सभी ईंट के बने हैं जिनकी छतें तीन प्रकार की हैं। इनमें से पहले प्रकार की छत चारमंज़िली है जिसका शिखर पिरामिडनुमा शिलापट्ट से मंडित है। दूसरी दोमंज़िली है जिनमें से ऊपरी लंबी मेहराब से संयुक्त है। तीसरी भारतीय शिखरों की भांति धीरे-धीरे ऊपर पतली होती गई है और उसका शिखर आमलक से मंडित है।

चम्पा की प्राचीन कला कम्बुज की कला से संबद्ध है। पर चम्पा के मन्दिर ईंट के बने हैं और शिखर मंडित हैं। क्लासिक-काल में मन्दिरों का शिल्प लकड़ी का था। अब काल ने उन्हें विलुप्त कर दिया है, केवल उनके आधार बच रहे हैं। ये भग्नावशेष भी सोन और दोंग-दुओंग में सातवीं से नवीं सदी तक के बिन्ह-दिन्ह (विजय) के हैं। मीसोन के पवित्र नगर का निर्माण भद्रवर्मन प्रथम ने लगभग 400 ई० में कराया था। इसका महान् भद्रेश्वर मन्दिर प्रायः नष्ट हो गया था पर उसके काष्ठमन्दिर के ही स्थान पर 600 ई० के बाद फिर मन्दिर बना। इसके प्रधान शिखर के निचले भाग पर अनेक स्तंभ बने हैं। स्तंभों के बीच के

ताकों में मूर्तियां बैठाई गई हैं। अलंकरणों में प्रधान मकरतोरण और हंस हैं। बाद के राजा अपने विविध मन्दिर इसी विस्तार में बनाते गए। इमारतें दसवीं सदी तक बनती रही थीं। इनमें कुछ राजालय हैं तथा कुछ तीर्थयात्रियों के लिए धर्मशालाएं हैं। मीसोन की देवमूर्तियों में प्रधान शिव, स्कन्द और गणेश की हैं।

दोंग-दुओंग में 875 ई० का इन्द्रवर्मन का अभिलेख है जिसमें शंभुभद्रेश्वर लिंग की स्तुति की गई है। प्रकट ही यह देवराज संप्रदाय का है। इसी इन्द्रवर्मन ने दुंग-दुओंग में 900 ई० के लगभग लोकेश्वर का बौद्धमन्दिर बनवाया। बौद्ध स्थल चम्पा में यह अकेला है यद्यपि मीसोन के अलंकरण से इसका अलंकरण किसी मात्रा में घट कर नहीं है। यहां की एक कांसे की खड़ी बुद्ध मूर्ति अमरावती और अनुराधपुर की परम्परा की है, यह तीसरी या चौथी सदी की बनी हुई है। अनामियों के आक्रमणों के बाद मन्दिरों का निर्माण कठिन हो गया।

और दक्षिण की ओर ख्यातप्रसिद्ध विचित्र सागर ने पोनगर में काष्ठ-मन्दिर बनवाया। आठवीं-नवीं सदियों में वहां ईंट के मन्दिर भी बने। प्रधान मन्दिर भगवतीपार्वती का है, पो क्लाउन गराई में सिंहवर्मन तृतीय का बनवाया सिंहवर्मलिंगेश्वर का मन्दिर है जिसके लिंग की चाम की लोग आज भी पूजा करते हैं।

अध्याय-23

जावा

जावा की संस्कृति और उसका इतिहास चाहे अत्यन्त प्राचीन न हों पर मानव का उसकी भूमि पर अवतरण सुदूर अतीत में हुआ। पिकिंग, पिल्टडाउन, हाईडलबर्ग, नेन्डार्थल, सिवालिक में मिले प्राचीनतम मानव-पंजरों के साथ जावा मानव की भी गणना होती है। 1891 ई० में जावा में जो कपाल और जांघ की अस्थियां मिलीं उनसे वहां मानव की अति प्राचीन काल (आज से प्रायः लाखों वर्ष पूर्व) में उत्पत्ति का प्रमाण मिल गया। पर यह तो मनुष्य जाति की उत्पत्ति से संबंधित है।

जिस ऐतिहासिक काल की हम कथा लिखने जा रहे हैं वह स्वाभाविक ही तब की है जब भारत और चीन अपनी संस्कृति के विकास की मंज़िलें मार रहे थे। सहस्राब्दियों पहले चीनी वर्ग के कबीले अन्य स्थलों की भांति जावा में भी जा बसे और स्थानीय जातियों में घुलमिल गए। कालान्तर में भारतीय उपनिवेशों का वहां उदय हुआ और भारतीय संस्कृति के मानने वाले लोग भारत से जाकर वहां बस गए। यह काल निःसन्देह ईसा की प्रारंभिक शताब्दियां थीं। जावा में अनेक ख्यातें प्रचलित हैं जो वहां के प्राचीनतम भारतीयों और उनके नेता आजिसक को हस्तिनापुर के कुरुकुल से जोड़ देती हैं। सहज ही इस प्रकार की ख्यातों की ऐतिहासिकता पर विश्वास नहीं किया जा सकता। ख्यातों का एक दूसरा समुदाय जावा का औपनिवेशीकरण कलिंग के लोगों द्वारा मानता है। उनमें से एक प्रगल्भ ख्यात के अनुसार कलिंग से जावा आने वाले परिवारों की संख्या बीस हज़ार थी।

इन ख्यातों के ऐतिह्य में चाहे स्वाभाविक ही सन्देह का स्थान हो पर इनसे इतना निःसन्देह प्रमाणित हो जाता है कि जावा के भारतीयों द्वारा औपनिवेशीकरण का काल प्रचुर प्राचीन था। बाद में पुरातान्विक सामग्री से भी इस निष्कर्ष की पुष्टि हो जाती है। यह अनुमान अकारण नहीं कि जावा में भारतीय बस्तियां संभवतः पहली सदी ईस्वी में ही बस चुकी थीं। चौथी-पांचवीं सदी के हिन्दू राजकुलों का विस्तार इन पश्चिमी जावा की बस्तियों में हो चुका था। वहां के प्राचीन हिन्दू राजकुलों का उल्लेख, जो तारूमा में प्रतिष्ठित था, संस्कृत के अभिलेखों में हुआ है। पल्लव लिपि में संस्कृत के इन अभिलेखों में राजा पूर्णवर्मन

का वृत्तान्त मिलता है। पश्चिमी जावा के बटेविया प्रान्त में संस्कृत में चार अभिलेख मिले हैं। चारों में वह राजा भूरिशः प्रशंसित है। इनमें से राजा के तेईसवें वर्ष में लिखा अभिलेख पूर्णवर्मन के पितामह को 'राजर्षि, और संभवतः उसके पिता को 'राजाधिराज' का विरुद प्रदान करता है। पूर्णवर्मन का काल छठी सदी ईस्वी में पड़ता है जिससे इस हिन्दू राजकुल का उदय चौथी-पांचवीं सदी में कभी हुआ होगा। इस राजकुल की राजधानी तारुमा थी। पूर्णवर्मन के पिता (जिसे राजाधिराज कहा गया है) ने चन्द्रभागा नाम की एक नहर खुदवाई जो राजधानी से होती हुई समुद्र से जा मिलती थी। स्वयं पूर्णवर्मन ने भी इसी प्रकार की एक नहर खुदवाई थी जिसके निर्माण की समाप्ति पर उसने ब्राह्मणों को सहस्र गायें दान की थीं। संभवतः छठी सदी के शीघ्र ही बाद इस राजकुल का अन्त हो गया और उनके द्वारा अब तक शासित प्रदेशों पर स्थानीय राजा राज करने लगे। अन्त में वहां हिन्दू शासन फिर स्थापित हुआ जब आठवीं सदी में सुमात्रा के शैलेन्द्रों ने समूचे जावा पर अधिकार कर लिया।[1]

चीनी ऐतिहासिक ग्रंथों में भी जावा के राजकुलों का कुछ विवरण मिलता है। उनके अनुसार तांग काल में जावा में हो-लिंग का विशिष्ट राजकुल प्रतिष्ठित था। हो-लिंग से तात्पर्य, विद्वानों के अनुसार, 'कलिंग' से है। इससे स्पष्ट है कि उस ख्यात में ऐतिहासिक तथ्य प्रचुर मात्रा में है जो कलिंगवासियों द्वारा वहां पहली भारतीय बस्तियां बसाने का उल्लेख करती है। भारत के पूर्वी सागर तट पर बसे होने से कलिंग का जावा पर प्रभुत्व स्थापित कर लेना स्वाभाविक था। हो-लिंग राजकुल का शासन मध्य जावा में था और पश्चिमी जावा में एक अन्य हिन्दू राजकुल राज करता था जिसका नाम चीनी इतिहास में हो-लो-तान नाम से मिलता है। पश्चिमी जावा के अतिरिक्त मध्य जावा में संस्कृत में लिखे अभिलेख मिले हैं।

जावा को इतिहासकारों ने अपने विवरण के विधान में तीन भागों में बांटा है, पश्चिमी, मध्यवर्ती, और पूर्वी में। इनमें से पहले दो का कुछ विवरण आठवीं सदी के पूर्व काल संबंधी अध्याय में दिया जा चुका है। आठवीं सदी के पूर्वार्ध में सन्नाह नामक राजा ने मध्यवर्ती जावा में अपना शक्तिमान राज्य स्थापित किया। उसका उत्तराधिकारी राजा संजय का उल्लेख चंगलू अभिलेख में मिलता है। उसके अनुसार उसने पड़ोस के राजाओं को जीत लिया था। पीछे के साहित्य में उसे विजेता कहा गया है और बाद के अभिलेखों में भी उसका उल्लेख हुआ है। उसकी प्रभुता से प्रभावित होकर कुछ विद्वानों ने तो उसे ही शैलेन्द्र राजकुल का प्रारंभयिता माना है। इसमें सन्देह किया गया है पर यह प्रायः प्रामाणिक है कि मतराम राजकुल का प्रतिष्ठाता वही था। अभिलेख से प्रामाणित है कि संजय

732 ई० में राज कर रहा था। साहित्य में उसे सुमात्रा और कम्बुज का विजेता कहा गया है।

यदि संजय स्वयं शैलेन्द्र राजकुल का न था तो निःसन्देह शैलेन्द्रों ने मध्यवर्ती जावा को आठवीं सदी के मध्य जीत लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि संजय के उत्तराधिकारियों को पूर्वी जावा में शरण लेनी पड़ी जहां उन्होंने प्रायः सदी भर राज किया। चीनी स्रोतों से पता चलता है कि उस काल जावा का राज्य पर्याप्त शक्तिमान था। अभिलेखों में जावा के अनेक राजाओं के नाम लिखे हैं पर उनके विषय में जानकारी विशेष नहीं मिलती। बलितुंग के शासनकाल से सामग्री की प्रचुरता निश्चय बढ़ जाती है। यह नाम तो निःसन्देह हिन्देशियाई था, पर इसके अतिरिक्त इस राजा ने अनेक विरुद धारण किए थे जिनमें से तीन महत्त्वपूर्ण थे, ईश्वर केशवोत्सवतुंग, ईश्वर केशवसमरोतुंग और धर्मोदय-महाशम्भु। वह पश्चिमी और पूर्वी दोनों जावा का स्वामी था। 898 और 910 उसके शासनकाल के ज्ञात वर्ष हैं। लारा जोंगराज का प्रसिद्ध मन्दिर बलितुंग का समाधि-मन्दिर माना जाता है।

915 ई० के लगभग दक्षोत्तम धर्मोदय महाशंभु का उत्तराधिकारी हुआ। यह कहना कठिन है कि वह राजकुल में उत्पन्न हुआ था या साधारण परिवार में पर इसमें संदेह नहीं कि उसने मध्य और पूर्वी जावा दोनों पर शासन किया। इस राजकुल का अंत वावा के बाद 928 में हो गया।

मतराम राजकुल ने मध्य और पूर्वी जावा पर राज किया पर वावा के बाद राज्य की धुरी मध्य जावा से हटकर पूर्वी जावा में जा बैठी। इस काल भारतीय संस्कृति के जावा में विस्तार की प्रगति सहसा रुक गई। इसका कारण संभवतः पूर्वी जावा का विद्रोह और मध्य जावा पर अकथनीय अत्याचार था, यद्यपि वहां के मन्दिर, भवनादि यथापूर्व खड़े रहे, उनके विध्वंस का प्रमाण नहीं मिलता। हो सकता है कि शैलेन्द्रों से रक्षा और उनके प्रति प्रतिक्रिया के परिणामस्वरुप पूर्वी जावा के शासकों ने मध्य एशिया से सर्वथा पूरब की ओर हट जाने की नीति अपनाई हो। वस्तुतः कुछ भी निश्चय पूर्वक इस विषय में नहीं कहा जा सकता। पर इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृति और राज्य का केन्द्र शैलेन्द्रों द्वारा मध्य जावा की विजय के बाद हट कर पूर्वी जावा में चला गया। अधिकतर अभिलेख पूर्वी जावा में ही मिले हैं जो महत्त्व की बात है। इस प्रकार राजनीतिक केन्द्र के उधर हटते ही, सर्वेपदाः हस्तिपदे निमग्नाः की नीति से, सांस्कृतिक केन्द्र भी पूर्वी जावा ही बन गया। यह परिवर्तन दसवीं सदी के मध्य हुआ और ग्यारहवीं सदी से अगली पांच सदियों तक पूर्वी जावा ही भारतीय संस्कृति का संरक्षक बना, जिससे आगे उस भाग के इतिहास का वृत्तान्त प्रस्तुत करना अनिवार्य हो जाता है।

पूर्वी जावा

पूर्वी जावा के प्रथम राजकुल की स्थापना राजा सिन्डोक ने की। विगत राजकुलों से उसका क्या संबंध था यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता पर इसमें सन्देह नहीं कि अपने से पहले के शासन में उसका पद महत्त्व का रहा था। सिन्डीक संभवत: 929 ई० में पूर्वी जावा की गद्दी पर बैठा और राज्यारोहण के समय उसने श्री ईशान विक्रम धर्मोत्तुंग देव का विरुद धारण किया। इस काल के प्राय: बीस अभिलेख प्राप्त हैं जिनसे उसके राज्य की सीमा पर्याप्त विस्तृत जान पड़ती है। उसके बाद उसकी कन्या श्रीइशानतुंगविजया रानी बनी जो नारी के राज्यारोहण के अधिकार को प्रमाणित करने का सबूत है। उसका विवाह श्री लोकपाल से हुआ। उसका राज्यारोहण 94; के लगभग हुआ था। उसके बाद राज्याधिकार उसके पुत्र श्री मकुटवंशवर्धन को मिला। महत्त्व की बात है कि इस राजा की पुत्री महेन्द्रदत्ता (गुणप्रिय-धर्मपत्नी) ने अपने पति उदयान के साथ बिना राजविरुद धारे बाली पर शासन किया। उसका नाम अभिलेखों में सदा उसके नाम से पहले लिखा मिलता है। राज्य पर नारी के अधिकार का यह दूसरा प्रमाण है। साथ ही इससे यह भी प्रमाणित है कि जावा का बाली पर अधिकार हो गया था। इसके बाद का पूर्वी जावा का इतिहास अंधकार में विलुप्त हो जाता है। केवल इसका पता चलता है कि दसवीं सदी के अन्त में धर्मवंश नाम के किसी राजा ने पूर्वी जावा पर शासन किया था। वह कौन था या वहां के राजकुल से उसका क्या संबंध था इसका पता तो नहीं चलता पर इतना सही है कि उसका चीन से दौत्यसंबंध रहा है और उसने शैलेन्द्रों से संघर्ष किया। इस संघर्ष का पता 992 ई० जावानी दूत के वक्तव्य से चलता है। उसका कहना है कि शैलेन्द्रों (सान-फो-त्सी) के जावा पर आक्रमण के कारण उसे चम्पा जाना पड़ा था। जान पड़ता है कि इस बार स्वयं पूर्वी जावा ने शैलेन्द्रों पर आक्रमण किया था और परिणामस्वरुप स्थिति इतनी गंभीर हो गई कि उन्हें चीन से सहायता की प्रार्थना करनी पड़ी थी पर शीघ्र ही शैलेन्द्रों ने अपनी स्थिति 1003 ई० तक प्राप्त कर ली और जावानी आक्रमणकर्ताओं को अपनी राज्यपरिधि से बाहर निकाल दिया। इस बीच पूर्वी जावा पर अधिकार धर्मवंश का ही रहा था जिसका निधन 1007 ई० में हुआ। उसके जामाता और उत्तराधिकारी ऐरलंग्ग के अभिलेख से प्रकट है कि धर्मवंश का अन्त 'प्रलय' द्वारा हुआ जिसने सागर की भांति उसकी समृद्ध और हर्षोन्मुखी राजधानी को लील लिया और नगर भस्मीभूत हो गया। इस प्रलय में ही राजा धर्मवंश का भी सर्वनाश हो गया। यह स्पष्ट नहीं कि इस प्रलय से संकेत किस घटना से है। अधिक संभव तो यही है कि यह बाहरी आक्रमण का परिणाम रहा हो, कारण

कि धर्मवंश के उत्तराधिकारी को राजधानी से भागना और उसे जीतने का बार-बार प्रयत्न करना पड़ा था।

ऐरलंग्ग

घटनाओं का चक्र कुछ ऐसी विद्युत्गति से चला कि षोडश-वर्षीय राजा ऐरलंग्ग को अपने सहायकों के साथ तीन वर्ष तक बौद्धों के विहार में शरण लेनी पड़ी। 1010 में उसके मित्रों ने उसका स्वागत किया, वह अपनी राजधानी को लौटा, यद्यपि उसका औपचारिक राज्यारोहण 9 वर्ष बाद 1019 में हुआ। पहले उसने अपना अधिकार स्वाभाविक ही राज्य के एक छोटे अंश पर स्थापित किया पर 1028 में उसने अपनी पुरानी सीमाओं को पुन: प्राप्त करने के लिए जिस संघर्ष का आरंभ किया उसका अन्त 1035 में हुआ जब ऐरलंग्ग ने अपने समूचे प्रकृत राज्य पर शासन स्थापित कर लिया। इस प्रकार अट्ठाईस वर्षों की कठिन कशमकश के बाद जिस राज्य को अपने पराक्रम से उसने प्राप्त किया उसके समुचित शासन में अब वह दत्तचित्त हुआ।

ऐरलंग्ग ने सिंहासन पर अपना स्वत्व होते ही राज्य की समृद्धि की ओर ध्यान दिया। राज्य की प्रधान आय कृषि के अतिरिक्त वाणिज्य भी था। उसके अभिलेखों में उन अनेक देशों का परिगणन हुआ है जहां से व्यापारी और अन्य लोग निरन्तर पूर्वी जावा में आया करते थे। इन देशों में भारत, कम्बुज और अनाम के नाम विशेष आदर से लिए गए हैं। वह भारतीय सनातन धर्म को मानने वाला था और 1042 ई० में अपने घटनापूर्ण राजकीय जीवन से उसने विदा ली और राज्य तज कर सन्यस्त हो गया। उसने प्रव्रजित होने से पहले अपने राज्य को दो पुत्रों में बांट दिया। स्वयं उसके जीवन की घटनाएं सविस्तार उस अभिलेख में सूचीबद्ध हैं जो अब कलकत्ते के संग्रहालय में प्रदर्शित है। उससे जान पड़ता है कि वह साहित्य का संरक्षक था और उसका चरित्र अप्रतिम था। संभवत: उसकी समाधि बोलहन में बनी जहां उसी के अनुरूप गरुड़ासनासीन विष्णु की मूर्ति है। जावा, चम्पा आदि में राजाओं ने अपने आराध्य की प्रतिमा अपनी मृत्यु के बाद अपनी सी ही अपने उत्तराधिकारी द्वारा बनवाई थी। इस परंपरा का आरंभयिता संभवत: ऐरलंग्ग ही था।

अपने राज्य के जिस पश्चिमी भाग को उसने अपने एक पुत्र को दिया उसकी राजधानी कडिरी थी जिसने कालान्तर में बड़ा सुयश कमाया। वहां राज करने वाले राजाओं की अभिलेखों में लंबी तालिका मिलती है जिनमें से जयवर्ष, कामेश्वर प्रथम और द्वितीय तथा जयमय को उनके राजकवियों ने अपने गुणकीर्तन और प्रशस्ति गायन द्वारा अमर कर दिया है। यह काल निश्चय ही हिन्दू-जावानी साहित्य के उत्कर्ष का था।

चाउजु-कुआ ने कडिरी के राज्य को शो-पो अथवा जावा नाम से अपने वृत्तान्त में अभिहित किया है। उसके वृत्तान्त के अनुसार सिन-तो (पश्चिमी जावा में सुंड) और सु-कि-तान को छोड़ कडिरी समूचे जावा पर शासन करता था। इस यात्री ने जिन पन्द्रह राज्यों की सूची दी है उनमें एक बाली और दूसरा बोर्नियो का पश्चिमी भाग भी है। कडिरी का अभ्युदय काल जावा की संस्कृति और राजनीतिक अभ्युत्थान का मध्याह्न है। कृतजय कडिरी का अन्तिम राजा था। जावा के ऐतिहासिक वृत्तान्त 'परकतोन' में लिखा है कि राजा ने अपने पुरोहितों को भी अपने प्रति दास्यवृत्त धारण करने और प्रणाम करने को कहा। इस पर उन्होंने राजधानी छोड़ अंग्रोक नामक डाकू के घर शरण ली। इस डाकू ने तुमापेल के शासक को मार कर उसकी विधवा से ब्याह कर लिया था और कवि-पर्वत के पूर्व के छोटे से राज्य पर राज करता था। उसने 1222 में दो-दो बार राजा कृतजय को परास्त कर कडिरी को अपने राज्य में मिला लिया। अब समूचे पूर्वी जावा की नई राजधानी सिंहसारी हुई। अंग्रोक (राजूस) और उसके दोनों उत्तराधिकारी पुत्रों की हत्या कर दी गई। उनके बाद पूर्वी जावा का राजा विष्णुवर्धन हुआ जिसकी मृत्यु स्वाभाविक रीति से 1268 में हुई। उसके बाद उसका पुत्र कृतनगर राजा हुआ जिसका वृत्तान्त कुछ विस्तार से नीचे दिया जा रहा है।

कृतनगर के शासन काल में जावा की शक्ति में फिर कुछ दृढ़ता आई। उसने फिर बाली पर अधिकार कर वहां के राजा को बन्दी बना लिया। बन्दी राजा पकड़कर 1284 ई० में जावा लाया गया। नागरकृताणम, जो राजा की जीवन संबंधी प्रशस्तिकृति है, में कृतनगर की विजयों की तालिका में पहंग (मलय प्रायद्वीप), मलय (मध्य सुमात्रा), गुरुन (गोरंग), बकुलपुर (दक्षिण पश्चिमी बोर्नियो) सुंड (पश्चिमी जावा) और मधुरा (मदुरा का द्वीप) की गणना हुई है। इस ग्रंथ में वर्णित कुछ विजयों को तब के कुछ अभिलेख भी प्रमाणित करते हैं। इनसे प्रकट है कि जावा का प्रभुत्व सुमात्रा के भी अनेक भागों पर स्थापित हो गया था। पररतोन के अनुसार राजा का पतन उसके अदूरदर्शी विजय के अर्थ अभियानों के ही कारण हुआ। कडिरी के शासक जय-कट्वंग ने विद्रोह कर राजधानी पर धावा किया और राजसेना को परास्त कर चतुरता पूर्वक राजप्रासाद तक जा पहुंचा। राजा और उसका मन्त्री तब शराब पीते हुए रंगरेलियों में मत्त थे और तत्काल उनकी हत्या कर दी गई। जय-कट्वंग ने कडिरी का स्वत्व जावा पर स्थापित कर दिया।

राजा कृतनगर के संबंध में दो परस्पर विरोधी वृत्त 'नागरकृतागम' और 'पररतोन' के मिले हैं। इनमें से पहला राजा को चरित्रवान, शक्तिशाली और विलक्षण कहता है, उसके राज्य की घटना बहुलता का उल्लेख करता है और

दूसरा उसकी कटु आलोचना करता है। पररतोन का वक्तव्य है कि राजा शराब पीकर विहार करने वाला पापात्मा था और शासन का भार अनुचित व्यक्तियों के हाथ में छोड़कर स्वयं नाचरंग में लीन रहता था। नागरकृतागम प्राचीनतम कृति है जिसके अनुसार राजा षड्विद्या व राजनीति में पारंगत था, ज्ञान के सभी प्रसंगों का पंडित था और बौद्ध ग्रंथों में निष्णात था, साथ ही च‌ित में साधुवृत्ति का था। इसमें सन्देह नहीं कि राजा तन्त्र यानी बौद्धधर्म का उपासक था क्योंकि इस बात को पररतोन भी प्रमाणित करता है। इस तन्त्राचरण के अनुसार मांस-मदिरा खान-पान न केवल धर्मविहित था बल्कि जिन की बहुलता साधना में विशेष समादृत होती थी।

कृतनगर के दो जामाताओं ने विद्रोही जयकट्वंग से राजा की ओर से युद्ध किया था और पराजित हुए थे। इनमें से एक विजय ने मजपहित में अपना छोटा सा राज्य स्थापित किया। इसी काल कुछ और घटनाएं घटीं जिनके संयुक्त परिणाम ने जयकट्वंग को प्रनष्ट कर दिया। चीन के मुगल सम्राट कुब्लाई खान ने 1281 में जावा नरेश कृतनगर को चीनी दरबार में उपस्थित होने का आदेश दिया जिसका पालन अपमान-जनक मान कर उसने नहीं किया। कुब्लाई खान बार-बार इसकी मांग करता रहा जो जब-जब असह्य हो गया तब राजा ने क्षुब्ध होकर चीनी राजदूत के कान-नाक काट कर निकाल दिया। परिणाम स्वरूप 1292 में चीनी सम्राट ने जावा को जीत लेने के लिए एक प्रबल सेना भेजी। इस समय जावा का राजा जयकट्वंग था। अवसर पाकर विजय चीनी सम्राट की अधीनता स्वीकार कर उसकी सेना में शामिल हो गया। जयकट्वंग हरा कर बन्दी कर लिया गया और अगले साल उसका वध भी कर दिया गया। इधर विजय ने एक बड़ी सेना लेकर चीनी सेना पर आक्रमण किया। लड़कर वह उससे जीत तो न सका पर चीनी समुद्र मार्ग से चीन लौट गए और विजय जावा का स्वामी हो गया। उसने अपनी राजधानी मजपहित को बनाया और बार-बार चीनी दरबार में बहुमूल्य उपहारों सहित अपने दूत भेज चीन से मैत्री कर ली और जावा में इस प्रकार जो नए राज्य का नवोदय हुआ वह हिन्दू राज्य कालातन्र में शक्तिशाली बना और सोलहवीं सदी तक हिन्दू संस्कृति के आधारों की रक्षा करता रहा।

शैलेन्द्रा के साम्राज्य का उदय और प्रसार

जावा के शैलेन्द्र साम्राज्य के वृत्तान्त के बिना उस महाद्वीप का इतिवृत्त अपूर्ण रह जाएगा और चूंकि उस साम्राज्य का आरम्भ सुमात्रा से भी जुड़ा हुआ है, मलय प्रायद्वीप से भी, जावा के इस इतिवृत्त के साथ ही प्रकारान्तर

से और प्रसंगतः उन दोनों प्रदेशों का इतिहास भी स्वाभाविक ही यहां अंशतः उद्घटित होगा।

आठवीं सदी में शैलेन्द्रों के साम्राज्य का अभ्युदय हुआ जो अपने विविध और अनेक अभियानों के परिणामस्वरूप जावा, सुमात्रा, मलय और समीप के प्रायः सभी द्वीपसमूहों का स्वामी हो गया। इस साम्राज्य के पवर्तक राजाओं का कुल, 'शैलेन्द्र' कहलाता था जिससे साम्राज्य का भी यह नाम पड़ा। शैलेन्द्र नरेश कहां से उठे, सुमात्रा से, मलय प्रायद्वीप से, या स्वयं जावा से, इसमें विद्वान् एकमत नहीं हैं। कोई उन्हें श्रीविजय (सुमात्रा के द्वीप में पालेम्बंग) का बताता है कोई जावा का। पर चूंकि उनका प्राधान्य दोनों-तीनों देशों में रहा, वे कहीं के भी हो सकते हैं, और उनके कहीं के होने से उनके साम्राज्य के प्रसार पर कोई अन्तर नहीं पड़ता। अन्तर विशेषतः इसलिए भी नहीं पड़ता कि उन्होंने आठवीं सदी के तीसरे चरण से प्रायः पहले ही समूचे पश्चिमी और मध्यवर्ती जावा पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था और इस सदी का अन्त होते-होते उन्होंने मलय प्रायद्वीप से श्रीविजय की प्रभुता हटा कर अपनी वहां प्रतिष्ठित कर दी।

शैलेन्द्रों के राजकुल का महत्त्व हिन्देशिया के देशों पर भारतीय गुप्त सम्राटों का सा रहा है। उन्हीं की तरह उन्होंने भी विजय-यात्राएं कीं, दीर्घकालिक सम्राट कुल प्रतिष्ठित किया और उन्हीं की भांति वे भी दीर्घजीवी रहे और ऐश्वर्य का सुख भोगा। उनके इस ऐश्वर्य, प्रभुता और समृद्धि का बखान विदेशियों ने भी किया है। अरब यात्रियों—इब खार्दादबा, सुलेमान, इलन अल-फकी, इब्न रोस्ते, अबू ज़ैद हसन, मसूदी, अल-बेरुनी···शैलेन्द्रों के महल का प्रचुर बखान करते हैं। इन अरबों ने जावा-जिसे वे ज़ाबग अथवा ज़ाबज कहते हैं—की यात्रा नवीं-दसवीं सदियों में की थी और उससे वे प्रभावित हुए थे। अत्यन्त संक्षेप में उनके वृत्तान्त नीचे दिए जा रहे हैं जो शैलेन्द्रों के इतिहास पर प्रभूत प्रकाश डालते हैं।

इब्न खार्दाबा जावा में प्रायः पांच साल 844 से 848 ई० तक रहा था। वह लिखता है कि महाराज की रोज़ाना आमदनी दो सौ मन सोना थी। सुलेमान, जो इब्न खार्दाबा से तीन साल बाद 851 में जावा पहुंचा, लिखता है कि कलाबार (मलय प्रायद्वीप में अन्तरीप के आसपास के प्रदेश) भी ज़ाबग के साम्राज्य का ही भाग है। इब्न अल-फकी (902 ई०) कहता है कि ज़ाबग के दखिन में दूसरा कोई मुल्क नहीं और ज़ाबग का राजा बेइन्तहा दौलतमन्द है। इब्न रोस्ते (903 ई०) ने इस प्रशंसा को और विस्तार दिया है। वह लिखता है कि ज़ाबग का महाराज हिन्द के राजाओं में सबसे महान् सिर्फ इसी वजह से नहीं माना जाता कि वह जज़ीरे (द्वीप) में रहता है बल्कि इसलिए भी कि उसके

बराबर कोई दौलतमन्द या उससे ज़्यादा ताकतवर नहीं और किसी के राज की आमदनी उसके जितनी नहीं। स्पष्ट है कि उसके विचार से जावा के (शैलेन्द्र) राजा को भारत का सबसे महान् और शक्तिशाली राजा कहना चाहिए।

इब्न खोर्दाबा से प्राय: आधी सदी बाद 916 ई० में अब यात्री अदू ज़ैद हसन ने जावा की यात्रा की। उसने उसका विशेष और सविस्तार विवरण दिया है। वह लिखता है कि उस सल्तनत (राज्य) का रकबा 2700 वर्ग मील (900 परसंग, प्रत्येक परसंग 3 मील के) हैं। राजा अपने मुल्क का स्वामी तो है ही, वह प्राय: 1000 परसंग से ज़्यादा की दूरी में फैले जज़ीरों (द्वीपों) के राजाओं का भी अधिराज है। जिन राज्यों का वह अधिराज है उनके नाम हैं श्रीबुज़ (श्री विजय) रामी और वाणिज्य प्रधान देश कला। इनमें से श्रीबुज़ का रकबा करीब 400 परसंग है, रामी का 800 परसंग और कला का 80 परसंग। मसूदी जावा 943 में पहुंचा। वह जावा या ज़ाबग को भारत का ही अंग मानता है और उसकी स्थिति भारत और चीन के बीच बताता है। ज़ाहिर है कि इन देशों से मतलब उनके उस द्वीप पर अपने-अपने प्रभाव से है। महमूद गजनवी के दरबार के महान पंडित अलबेरुनी ने भी जावा का भ्रमण (1030) किया। वह लिखता है कि इस महासागर के ज़ाबग के द्वीप, जिन्हें हिन्दू सुवर्ण द्वीप कहते हैं, भारत के मुकाबिले चीन के ज़्यादा नज़दीक हैं, सुवर्ण द्वीप उनका नाम इसलिए पड़ा है कि उनकी थोड़ी सी ही मिट्टी धोते ही खासा ज़्यादा सोना निकल आता है।

शैलेन्द्र का जहाज़ी बड़ा ही प्रबल था जिसकी धाक चीन तक मानता था। उनके जहाज़ दूर-दूर तक व्यापार की वस्तुएं लेकर जाते थे और उनका साम्राज्य इस प्रकार सागरीय व्यापार का एक केन्द्र ही बन गया था। अरब यात्रियों ने इस समुद्री व्यापार से प्राप्त जावानी धन-संपत्ति का उल्लेख बहुश: किया है। इनमें से अनेक ने एक विचित्र कहानी लिखी है जो इस प्रकार है—"ज़ाबग की एक अद्भुत प्रथा है। राजमहल एक छिछली झील के ज़रिए समुन्दर से जुड़ा है। राजा हर सुबह उस झील में ठोस सोने की बनी एक ईंट डाल देता है। ज्वार के समय ईंटें पानी में डूब जाती हैं पर भाटे के समय दिखाई देती हैं। जब राजा मर जाता है तब ये ईंटें इकट्ठी करके गिन ली जाती हैं और उन्हें तौलकर सरकारी रजिस्टर पर दर्ज कर लिया जाता है। फिर वह सोना राज-परिवार के लोगों, जनरलों और सरकारी गुलामों में उनके पद के मुताबिक ज़्यादा-कम बांट दिया जाता है और जो बच रहता है वह खैरात कर दिया जाता है।"

पूर्वी और पश्चिमी जगत् के बीच में पड़ने से जावा सहज ही उसके व्यापार का केन्द्र भी हो गया था, इससे स्वर्ण की राशि में भी उसका सम्पन्न हो जाना

स्वाभाविक था। शैलेन्द्र राजाओं के पास शक्तिम बेड़े का होना भी उस व्यापार में सहायक था। समूदी लिखता है कि उसके पहले चीन और सीराफ तथा ओमन के बीच जहाज़ सीधे चले जाया करते थे पर उसके समय में दोनों देशों के बीच कला में जहाज़ों का ठहरना लाज़िमी हो गया था। कला मलय प्रायद्वीप के सागर तट पर शैलेन्द्रों के साम्राज्य में अवस्थित था। अबू ज़ैद हसन लिखता है कि कला अगुर, कपूर, चन्दन, हाथीदांत, टिन, आबनूस, गरममसाले और अन्य अनन्त वस्तुओं के व्यापार का सबसे महान् केन्द्र बन गया था। ओमन और कला के बीच बराबर जहाज़रानी बनी रहती थी।

चीनी वृत्तान्तों में शैलेन्द्रों के साम्राज्य को सान्-फो-त्सी कहा गया है। उनके अनुसार चीन और इस साम्राज्य के बीच घना व्यापार संबंध था। 971 ई० में तो कान्तोन में जावानी व्यापारियों की एक मंडी और समुद्री जहाज़ों की एक एजेन्सी भी कायम हो गई थी जहां पूर्वी द्वीपों और शैलेन्द्र साम्राज्य के मांझी और सौदागर व्यापार और विश्राम किया करते थे। चीनी सम्राटों और शैलेन्द्रों के बीच दूतों के आदान-प्रदान प्रायः समूची दसवीं सदी में होते रहे थे।

इस प्रकार शैलेन्द्र राजकुल के सामुद्रिक प्रभाव और उनके ऐश्वर्य की भूमि का वृत्तांत लिख लेने के बाद उनके राजनीतिक इतिहास की कड़ियों को समझ लेना भी उचित होगा। नीचे हम उस इतिहास का विवरण दे रहे हैं। पर हमें आरंभ में ही समझ लेना चाहिए कि इस विवरण के लिए सामग्री प्रचुर नहीं, फिर भी अभिलेखों से उसका थोड़ा-बहुत निर्माण किया जा सकता है। आठवीं सदी के प्रारंभिक शैलेन्द्र राजाओं के कुछ नाम हमें समकालीन अभिलेखों से अभिप्राप्त हैं। राजाधिराज विष्णु, धरणीधर और संग्राम धनंजय के नामों की उपलब्धि वहीं से हुई है। धरणीधर को तो शैलेन्द्र राजकुल का अलंकरण कहा गया है। उस अभिलेख के अनुसार धरणीधर ने दिशाओं के राजाओं को जीता और अपने शत्रु को कुचल दिया। धरणीधर के ही उस अभिलेख में संग्राम-धनंजय का नाम भी मिलता है पर वह लेख उनके पारस्परिक संबंध का कुछ पता नहीं देता।

अरब यात्रियों और चीनी वृत्तान्तों तथा स्थानीय अभिलेखों के अतिरिक्त भारत के पालवंशीय नरेश देवपाल के एक अभिलेख से शैलेन्द्रों की तीन पीढ़ियों पर प्रकाश पड़ता है। उसमें पहले राजा का नाम तो नहीं पर उसका विरुद 'वीरवैरीमर्दन' दिया हुआ है। पर चूंकि धरणीधर के अभिलेख में उसे 'वीरवर-वीरविमर्दन' कहा गया है, विद्वानों का अनुमान है कि देवपाल के अभिलेख का 'यव-भूमि' का 'वीरवैरीमर्दन' राजा और 'वीरवरवीरविमर्दन' धरणीधर एक ही व्यक्ति हैं। इस वंश का दूसरा राजा समराग्रवीर कहा गया है जो धरणीधर का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था और जिसका विवाह वर्मसेतु (धर्मसेतु ?) की पुत्री

से हुआ था। इस पुत्री का नाम तारा था। तारा और समराग्रवीर का पुत्र बालपुत्रदेव हुआ जिसे देवपाल के उस दानपत्र में सुवर्णद्वीप का नृपति कहा गया है। उस दानपत्र का वृत्तान्त यहीं समाप्त हो जाता है पर चीनी वृत्तान्तों से दसवीं सदी के शैलेन्द्र राजाओं पर प्रकाश पड़ने लगता है जिनका उल्लेख हम अब नीचे करेंगे।

चीनी वृत्तान्त शैलेन्द्रों (सन-फो-त्सी) और जावानी राजाओं के परस्पर संघर्ष का उल्लेख करते हैं। उनका एक उल्लेख मिलता है कि 997 में जावा ने सन्-फो-त्सी पर आक्रमण कर विजय पाई जिससे विजितों के दूत का चीन में सहायता की प्रार्थना के लिए नहीं पहुंच पाना कठिन हो गया था पर 1003 तक सन्-फो-त्सी ने पर्याप्त शक्ति अर्जित कर ली और 1006 में जावा को विध्वस्त कर दिया।

अब धीरे-धीरे समूचे द्वीपसमूह पर शैलेन्द्रों का साम्राज्य प्रतिष्ठित हो गया जिससे वह समूचा द्वीप समुदाय ही 'सुवर्णद्वीप' कहलाने लगा। नवीं सदी में निश्चय कम्बुज और जावा दोनों ही शैलेन्द्रों से स्वतन्त्र हो गए।

धीरे-धीरे शैलेन्द्रों और चीनियों में मित्रभाव गहरा होता गया और परस्पर भेजे जाने वाले दौत्यों की संख्या निरंतर बढ़ती गई। जावा की शक्ति को तोड़ने वाला शैलेन्द्रनृपति संभवतः श्री चूड़ामणि धर्मदेव था। 1003 में उसने चीनी सम्राट् के पास अपने पहले दूत उपहारों सहित भेजे थे। उसने एक ओर तो चीन से मित्रभाव रखा दूसरी ओर भारतीय चोल सम्राट् राजेन्द्र से भी घनी मित्रता स्थापित की। राजराजे के पुत्र राजेन्द्र चोल द्वारा उत्कीर्ण एक दानपत्र मिला है जो अब लाइडेन के संग्रहालय में सुरक्षित है। वह दानपत्र संस्कृत और तमिल दोनों भाषाओं में लिखा है। उसमें लिखा है कि कडारम के राजा चूड़ामणिवर्मन ने नागपट्टन (नागपतम्) में एक बौद्ध विहार का निर्माण आरंभ किया और चोलराज राजराज ने उसके व्यय के लिए अपने शासन के इक्कीसवें वर्ष (1006) में एक गांव दान किया। बौद्ध विहार का नाम तो शैलेन्द्र नृपति के नाम पर रखा गया पर वस्तुतः उसे पूरा कराया उसके पुत्र श्री मारविजयोत्तुंग जर्मन् ने। इसी प्रकार का एक दान कार्य इस काल से प्रायः डेढ़ सौ साल पहले शैलेन्द्र सम्राट् ने नालन्दा में विहार बनवाकर किया था। उसके खर्च के लिए पालनरेश देवपाल ने पांच भाग किए थे।

लाइडेन संग्रहालय का वह दानपत्र चूड़ामणवर्मन् के पुत्र श्री मारविजयोत्तुंग वर्मन् के शासन पर भी प्रकाश डालता है। उसमें लिखा है कि शैलेन्द्र राजकुल में उत्पन्न यह श्री विषय (श्री विजय) का नृपति था जिसने कटाह (तमिल में लिखे कडारम् का संस्कृत नाम, आज का मलय प्रायद्वीप का केद्दा) पर अपना अधिकार स्थापित किया और मकर को अपनी ध्वजा का लांछन बनाया। शैलेन्द्र नृपतियों और चोल राजाओं की मैत्री तत्कालीन तमिल कविताओं में भी

बखानी गई है। एक में कालगम (काडरम्, केद्दा) से माल भर-भर कर कावेरी नदी के मुहाने तक आने वाले पोतों का वर्णन हुआ है।

पर तमिल अभिलेखों से पता चलता है कि जहां शैलेन्द्रों और चोलों में कुछ काल मित्रभाव रहा अन्य कालों में शत्रुभाव उत्पन्न होने में भी देर न लगी। कारण कि दोनों राजकुलों की राजनीति प्रसार की थी। इस संघर्ष का पहला उल्लेख 1017-18 के एक लेख में हुआ है, इसके अनुसार राजेन्द्र चोल के जहाज़ी बेड़े ने सागर लांघ कटाह पर अधिकार कर लिया था। इस अभियान और विजय का वर्णन राजेन्द्र के अन्य अभिलेखों (1024 और 1043 ई०) में भी हुआ है जो इस प्रकार है:—"(राजेन्द्र चोल ने) ने अनेक पोत उमड़ते समुद्र के पास भेज कर कडारम् के राजा संग्राम-विजयोत्तुंगवर्मन् को उसके मदमत्त गजों के साथ पकड़ लिया, साथ ही न्यायपूर्वक संचित उस नृपति के खज़ाने को भी ले लिया। शत्रु के विशाल नगर के समर द्वार के विद्याधर-तोरण और बृहद् रत्नों से जड़े दीप्यमान श्रीविजय के रत्न-द्वार को भी उसने हर लिया। इसी प्रकार उसने नदी की धारा से रक्षित पण्णैको, गिरिशिखरासीन प्राचीन मलैयुर को, सारपरिखा युक्त मायिरुडिंगम् को, भयानक युद्धों में अविचलित इलगाशोक को, परिखारक्षित माप्पप्पालम् को, जुते खेतों और वनों से संयुक्त वलयपन्दरु को, ज्ञान-विज्ञान में महापुरुषों द्वारा चर्चित तलैत्तक्कोलेम् को, दारुणसमर में भी अडिग मादमालिंगम् को, कठिनाई से पराभूत इलामुरिदेशम् को, दक्षिण के पुष्पोवनों से घिरे माणक्कलारम् और सागररक्षित शक्तिमान कडारम् को भी उस (चोलमनृपति) ने स्वायत्त कर लिया।"

निःसन्देह इस अभिलेख के सभी स्थानों की पहचान आज कठिन है, पर कुछ की पहचान विद्वानों ने की है जो इस प्रकार है—मलैयुर निश्चय सुमात्रा का मलयु (जंबी) है। माणक्कवारम निकोबार द्वीप हैं और कडारम तो स्पष्ट ही कटाह अथवा केद्दो है। शेष अधिकतर मलय प्रायदीप अथवा सुमात्रा के नगर हैं। चूंकि इस विजय का उल्लेख कई बार विविध वर्षों के अभिलेखों में हुआ है अतः प्रकट है कि इसकी उपलब्धि चोलराज को लंबे संघर्ष के अन्त में हुई होगी। इससे यह भी प्रकट है कि राजेन्द्र चोल ने शैलेन्द्रों के सामन्त-राज्यों के अतिरिक्त उनकी दोनों राजधानियों को भी जीत लिया।

यह संघर्ष प्रमाणतः सात-आठ साल तक कायम रहा, कारण कि इस संबंध की विजय का पहला उल्लेख 1017 में और अन्तिम 1024-25 में मिलता है। स्वाभाविक है कि यद्यपि राजेन्द्र चोल प्रबल सम्राट था जिसने अपने उत्तरवर्ती अभियान में गंगा के मुहाने बंगाल तक पर अधिकार कर लिया था, सागर पार के देशों पर दीर्घकालिक शासन संभव न हो सका होगा, जिससे उनका बार-बार पारभव करना पड़ा होगा। वास्तविकता तो यह है कि जैसे ही चोल पोत स्वदेश

लौटते होंगे वैसे ही स्थानीय शक्ति सबल हो उठती होगी और अपने अपहृत प्रदेशों पर अधिकार कर लेती होगी। इसका प्रमाण तो यही है कि यद्यपि अभिलेख के अनुसार राजेन्द्र चोल ने 'कटाह को जलाकर भस्म कर दिया था,' उसके वंशज वीर राजेन्द्र (1063-70) को प्राय: चौथाई सदी बाद फिर से उसे जीतना पड़ा था। वीर राजेन्द्र के अभिलेख से प्रकट है उसने अभियान द्वारा कडारम् को जीता पर वहां के राजा द्वारा पादवन्दना करने के उपरान्त उसने उसके राज्य को वापस सौंप दिया। पर लगता है कि चोल राजाओं की महत्त्वाकांक्षा को अग्नि में कडारम् को बार-बार जलाना था, और जब-जब वह महत्त्वाकांक्षा चोलों में प्रबल होती थी, वे मलय की दिशा में अभियान करते थे और वह अभियान उनकी शक्ति का परिचायक बन गया था। वीर राजेन्द्र के उत्तराधिकारी कुलोत्तुंग चोल (1070-1120) के आधीसदी के लंबे राज्य काल में भी उस अभियान का आविर्भाव हुआ था जिसमें चोल राज ने कडारम् का विध्वंस कर दिया था। उधर एक चीनी वृत्तान्त के अनुसार ग्यारहवीं सदी के उत्तरार्ध और बारहवीं सदी के अन्त में चोल देश कडार-राज्य का सामन्त राज्य रहा था। इससे प्रकट है कि विजय सदा चोलों के ही हस्तामलक नहीं रही थी, वह जब-तब मलयवासियों को भी प्राप्त होती रही जिससे दीर्घव्यापी संघर्ष चलता रहा जिसमें विजय कभी एक पक्ष की होती कभी दूसरे की। आश्चर्य की बात तो यह है कि इस दीर्घावलंबी संघर्ष के बीच दोनों पक्षों में बहुधा मित्रभाव हो जाया करता था और जैसा कुलोत्तुंग चोल के राज्यकाल के इक्कीसवें वर्ष (1089-90) के लाइडेन संग्रहालय में सुरक्षित एक दानपत्र के अनुसार "किडार के राजा द्वारा भेजे राजविद्याधर सामन्त और अभिमानोत्तुंग सामन्त नाम के दूतों की प्रार्थना पर शैलेन्द्र चूड़ामणि वर्म विहार के व्यय के लिए दिए गांव को कुलोत्तुंग ने कर-मुक्त कर दिया।" कुलोत्तुंग के बाद किसी चोल अथवा अन्य भारतीय राजा ने मलय अथवा सुमात्रा पर अधिकार करने का प्रयास नहीं किया और चोलों और शैलेन्द्रों के बीच का यह दारुण संघर्ष समाप्त हो गया।

चीनी वृत्तान्तों से प्रमाणित है कि शैलेन्द्र राजकुल चोल राजाओं के सफल अभियान के बावजूद, प्रबल बना रहा और अपनी भूमि पर सदियों बाद पन्द्रहवीं सदी के तीसरे चरण के अन्त तक जीवित रहा। पर आश्चर्य की बात है कि शैलेन्द्र के नाम अब अभिलेखों में नहीं मिलते, यद्यपि चीनी वृत्तान्तों में उन्हीं के राजकुल के नाम का 'सन-फो-त्सी' शब्द द्वारा उल्लेख हुआ है। उसी का उल्लेख अरब यात्री ज़ाबग (जावा) नाम से करते हैं। स्थानीय राज्य केवल कटाह अथवा कडारम् शब्दों द्वारा अभिहित हुआ है। शैलेन्द्र नाम केवल भारतीय, जावानी और मलय अभिलेखों में मिलता है, इससे यह कह सकना कठिन है कि चीनी और अरबी वृत्तान्तों के राजा शैलेन्द्र राजकुल के ही निश्चय-

पूर्वक हैं। पर चूंकि ये दोनों वृत्तान्त उन्हें इसी नाम से अभिहित करते हैं और कटाह अथवा कटारम समान राजकुल की राजधानी निरंतर बना रहता है, इसके राजकुल को भी इसी नाम से अभिहित करना उचित होगा।

बारहवीं सदी के प्रायः मध्य से एक नए अरब यात्रियों के समुदाय का समय-समय पर इन द्वीप समूहों में आगमन होने लगा, जिसका तारतम्य चौदहवीं सदी तक बना रहा। उस काल उस द्वीप समूह का भ्रमण करने वाले एद्रिसी (1154) कज़्वीनी (तेरहवीं सदी), इब्न सईर आदि ने ऐश्वर्य का वर्णन अपने-अपने वृत्तान्तों में किया है जिससे इनकी शक्ति और समृद्धि का पता चलता है।

पर अरब यात्रियों के वृत्तान्तों से कहीं अधिक सामग्री इस प्रसंग में चीनी वृत्तान्तों से प्राप्त होती है। उन्होंने विशेषकर जावा आदि (सन-फो-त्सी) और चीनी दरबार के बीच हुए दूतों के परस्पर आदान-प्रदान का उल्लेख किया है। चाऊ जु-कुआ नामक एक चीनी राजकर्मचारी ने उस राज्य (सन-फो-त्सी) का बहुत रोचक और विस्तृत वृत्तान्त लिखा है। यह वृत्तान्त, जो 1225 के लगभग का है, निश्चय आंखों देखा नहीं है, केवल चीनी और अन्य सौदागरों तथा यात्रियों से सुनकर लिखा गया है, प्रभूत रूप से इस राज्य की स्थिति और उसकी क्रियाशीलता पर प्रकाश डालता है। उस लेखक के अनुसार सन-फो-त्सी उस समुद्र में वाणिज्य का तो प्रधान केन्द्र था ही, राजकुलीय शक्ति का भी वह स्वतः प्रमाण था। उसीके संरक्षण में मलाका के जलडमरू मध्य से होकर पश्चिमी और पूर्वी दुनिया की व्यापार की वस्तुएं एक-दूसरी ओर जाती थीं। यह वृत्तान्त इस संबंध में मलय प्रायद्वीप और जावा-सुमात्रा में स्थित पन्द्रह राज्यों का ज़िक्र करता है जिन्हें वह सन-फो-त्सी के करदायी-राज्य कहता है। उसका विवरण बारहवीं सदी के अन्त और तेरहवीं के आरंभ से संबंधित है जिससे प्रकट है कि इस कालान्तर में भी शैलेन्द्रों का साम्राज्य शक्तिसीम था।

इस बीच के कुछ राजाओं के नाम हमें अभिलेख से भी विदित हैं जिनका यहां उल्लेख कर देना उचित होगा। इनमें से दो महाराज श्रीमन त्रैलोक्य-राजमौलिभूषण वर्मदेव और राजा चन्द्रभानु हैं। इनमें से पहले का नाम 1183 ई० के एक अभिलेख में लिखा है जो मलय प्रायद्वीप के छैय नामक स्थान से प्राप्त हुआ था। इस राजा के शैलेन्द्र राजकुल का होने का कोई और सबूत सिवाए इसके नहीं मिलता कि उस कुल के राजाओं की ही भांति इसके नाम का अन्त भी 'वर्मदेव' शब्द के साथ होता है। उसी स्थान से प्राप्त 1230 ई० के एक दूसरे अभिलेख में चन्द्रभानु का नामोल्लेख हुआ है। सिंहल के इतिहास चूलवंश में इस राजा का कुछ वृत्तान्त मिलता है। उसके अनुसार चन्द्रभानु शक्तिमान राजा था जिसने 1236 और 1256 में दो-दो बार, लंका पर आक्रमण करने के लिए सेनाएं भेजीं। पहली बार उसने उस द्वीप में काफी विध्वंस किए पर

अन्त में उसे वापस लौटना पड़ा। दूसरी बार, बीस वर्ष बाद, पांड्य और चोल सेनाओं का योग लेकर उसने फिर लंका पर आक्रमण किया पर अंततः उसे हार कर और अपना खज़ाना और परिवार पीछे छोड़कर केवल अपनी जान बचा-कर भागना पड़ा। चन्द्रभानु को चूलूवंश में 'जावक' का राजा कहा गया है, जो उनके विचार में, शैलेन्द्र साम्राज्य का नाम है। शैलेन्द्र साम्राज्य का नाम, जैसा पहले लिखा जा चुका है, चीनी इतिवृत्तों में 'सन-फो-त्सी' मिलता है। जावकनाम उसके 'सावक' रूप में जटावर्मन वीर पांड्य के 1264 के अभिलेख में मिलता है। उसीके 1265 ई० के अभिलेख की विजित राजाओं की सूची में कडारम् के राजा का नाम भी उल्लिखित है। कुछ आश्चर्य नहीं कि वह जावक अथवा सावक राजा चन्द्रभानु ही रहा हो।

चन्द्रभानु के जिस अभिलेख का ऊपर उल्लेख हुआ है उसमें उसे मूलतः सन-फो-त्सी का करद राजा बताया गया है। उसके अनुसार चन्द्रभानु विद्रोह कर प्रधान शक्ति को पराभव कर स्वतंत्र और शालीन हो गया था। इससे प्रकट है कि इस काल शैलेन्द्रों की साम्राज्य शक्ति का विघटन शुरू हो गया था। थाई, मलयु आदि चन्द्रभानु के जावा की ही भांति उससे टूट कर स्वतंत्र हो गए थे। इस प्रकार शैलेन्द्र साम्राज्य प्रान्त पर प्रान्त खोकर विपन्न होने लगा और शीघ्र ही वह मात्र स्थानीय राज्य होकर रह गया। सन-फो-त्सी का अस्तित्व फिर भी तब तक बना रहा जब तक कि जावा ने उसे 1377 में जीत नहीं लिया। उसके अन्तिम राजा ने 1474 ई० में इस्लाम धर्म कबूल कर लिया। जिससे बचे-खुचे उस शैलेन्द्र हिन्दू साम्राज्य का तो अन्त हो ही गया, प्रायः पांच सदियों तक जिस साम्राज्य ने वहां हिन्दू संस्कृति की संरक्षा और विस्तार किया था उसका अन्त हो जाने से वहां का हिन्दू समाज भी कुंठित हो गया और बड़ी संख्या में हिन्दू वहां मुसलमान बना लिए गए। फिर भी उस संस्कृति का सर्वथा लोप न हो सका और वह आज भी विरूप होकर अनेक रूपों में इस्लामी संस्कृति में भी घुलमिल कर जीवित है।

शैलेन्द्र साम्राज्य का यह प्रसंग समाप्त करने के पूर्व शैलेन्द्रों के सांस्कृतिक कार्यों का विहगावलोकन कर लेना यहां सार्थक होगा। उनका सुवर्णद्वीप में आविर्भाव भारतीय साहित्य, कला, संस्कृति और धर्म के विस्तार में असाधारण ऐतिहासिक घटना थी। इस राजकुल ने राजनीतिक दृष्टि से समूचे सुवर्णद्वीप को एक और समान सत्ता तो दी ही, उसका उसे यह ऐश्वर्यवान नाम भी दिया और साथ ही भारतीय संस्कृति का भी वहां गठन और प्रचार किया। उसका विवरण संक्षेप में इस प्रकार है :

शैलेन्द्रों ने कला संबंधी जो प्रयास किए उनका आज भी जीवित प्रमाण जावा के बोरोबुदुर के मंदिरों के रूप में खड़ा है। जावा की तद्विषयक कला का

वर्णन तो हम बाद में करेंगे, यहां केवल भारतीय संस्कृति के वहां प्रादुर्भाव की ओर संकेत करेंगे। जावा में आरंभिक भारतीय प्रवासियों ने ही एक प्रकार से भारतीय लिपि का प्रचार किया था। शैलेन्द्रों ने वहां एक नई भारतीय वर्णमाला चलाई जो उस प्राचीनतर भारतीय लिपि से भिन्न थी। हिन्दू धर्म के अतिरिक्त सुवर्ण भूमि में बौद्ध धर्म का भी प्रचार हुआ। शैलेन्द्र राजा महायान के अनुयायी थे जिसका प्रचार बंगाल से हुआ था। शैलेन्द्र सम्राट धरणीधर का गुरु कुमारघोष गौड़ (बंगाल) से ही आया था। शैलेन्द्र राजकुल के नृपति बालपुन्नदेव ने नालन्दा में एक विहार बनवा दिया जिसका व्यय देवपाल ने पांच गांवों का दान देकर व्यवस्थित किया। मलेशिया का एक नाम 'कलिंग' भी है जिससे विद्वानों ने अनुमान किया है कि वहां की संस्कृति का प्रसार उन भारतीयों ने किया जो कलिंग से वहां जा बसे थे। इस संस्कृति में जावा की कला का विशिष्ट स्थान है जो भारतीय कला के प्रभाव से ही अनुप्राणित हुई थी और जिसका वर्णन स्वतन्त्र प्रसंग में प्रस्तुत करना उचित होगा।

जावा की कला

जावा और कम्बुज की कलाएं अपना प्रमाण आप हैं। बोरोबुदुर और अंकोर थोम और अंकोर वात के वास्तु और मूर्तन संसार में अपना सानी नहीं रखते। स्वयं भारत में भी उस जैसा कुछ नहीं है, यद्यपि उनके आदि मूल का बीज भारतीयों ने ही वहां बोया। कम्बुज की कला का विवरण अन्यत्र दिया जा चुका है, नीचे अब हम जावा की कला का ज़िक्र करेंगे।

जावा की कला भी अन्य प्राचीन कलाओं की भांति धर्मानुप्राणित है। विशेषत: दो धर्मों ने उसे विकसित किया है, एक तो ब्राह्मणधर्मी शैव कला है दूसरी महायान तंत्रीय बौद्ध कला। कला तो वस्तुत: एक ही है, जावानी कला, शैव और बौद्ध उसकी विधाएं हैं। धीरे-धीरे बौद्ध और शैव धर्म प्राय: एकरूप हो जाते हैं। यह अकारण नहीं था कि कीर्तिनगर का मृत्युपरांत नाम 'शिव बुद्ध' हो गया।

जावानी वास्तु में पत्थर का उपयोग पहली बार सातवीं-आठवीं सदियों में हुआ है। यह उपयोग दियेंग (डिह्यांग) के पठार पर प्रधानत: हुआ है। आरंभ उसका चाहे जहां से हुआ हो, नि:सन्देह उसमें भारतीय कला के गुप्त, पल्लव और चालुक्य विधाओं के दर्शन होते हैं। यद्यपि जावानी वास्तु का विकास भारतीय भूमि पर नहीं हो सकता था, इसमें भी संदेह नहीं कि जावा की कला भारतीय अधिक और जावानी कम है। स्थानीय विधा का उपयोग उसके अभिप्रायों में नहीं अंलकरण में हुआ है। पालिताना और गिरनार के जैन मन्दिर-नगरों की ही तरह दिएग का पठार नागरिक राजधानी नहीं, तीर्थस्थल है, जहां

पुरोहित और मंदिर के सेवक स्थायी रूप से निवास करते थे। वहां तीर्थयात्रियों के लिए धर्मशालाएं और राजा के विराम के लिए भवन बने थे। मंदिरों की संख्या पहले अधिक थी, पर अब उनमें से केवल आठ खड़े हैं। मंदिर अधिकतर एक गर्भगृह के हैं जो ऊपर शिखा उठाते चले गए हैं और सामने तथा ताकों में अलंकृत मकर बनते चले गए हैं। दीवारों पर देवादि बने हैं। मंदिर 'चंडी' कहलाते हैं, जैसे चंडी अर्जुन, चंडी भीम, चंडी घटोत्कच। दिएंगे में विष्णु, शिव ब्रह्मा आदि की विविध मूर्तियां हैं।

मध्यवर्ती जावा में सुमात्रा के शैलेन्द्र काल में अनेक महत्त्व के शिल्प निर्माण हुए। इनमें चंडी कलसन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है जो शैलेन्द्रनृपति का बनवाया तारा का है। वह प्रम्बनम् के पश्चिमी भाग में है। सामने बृहदाकार के त्रिमुख और मकरतोरण बने हैं। उससे कुछ पूर्व में एक दूसरा शैलेन्द्र भवन चंडी सारी का है। इसमें विहार आदि बने हैं। और पूरब में चंडी लोरो जोंगरंग के बाद नवीं सदी का बना महान् बौद्ध मन्दिर परिवार चंडी सेव का है। बीच में प्रधान मन्दिर है और उसके चारों ओर उसके परिवार के छोटे मन्दिर हैं। उनकी दीवारों पर उभारे अलंकरणों की परंपरा चली हुई है। बाहरी दीवार के भीतर पास ही लगभग 250 मन्दिर सुन्दर अलंकरणों से संयुक्त बने हैं जिनकी भव्यता दर्श-नीय है।

जावानी मंदिरों में सबसे महान् और संसार के वास्तु आश्चर्यों में गिना जाने वाला प्रसिद्ध शिल्पसमुदाय चंडी बोरोबुदुर का है, केडू के चंडी में दुत और चंडी पावोन का समकालीन। बोरोबुडुर का यह शिल्पसमुदाय बौद्ध परिवार का है। केडू के मैदान की पथरीली ऊंचाई पर इसका विस्तार जैसे निद्रित खड़ा है। आधार की पहाड़ी काटकर सोपानवत् कर दी गई है जिसे पत्थर की पट्टि-काओं से ढंक दिया गया है। इसी आधार पर पिरामिड की तरह आधार पर आधार ऊपर उठते चले गए हैं और ऊपर शिरोभाग पर मध्यवर्ती प्रधान स्तूप खड़ा जिसे तीन वृत्तों में व्यवस्थित 72 छोटे स्तूप घेरते चले गए हैं। पिरामिड की प्रत्येक दिशा में बीच में सोपान मार्ग है जिससे स्तूपों के ऊपरी आधार को पहुंचते हैं। स्तूपी के आधार-घेरे (विमान-भूमियां) नीचे छः हैं, ऊपर तीन। नीचे का प्रत्येक आधार-घेरा प्रदक्षिणा-भूमि है जिसकी दीवारें उभारे मूर्तनी और बुद्ध के जीवन की घटनाओं से भर दी गई हैं। इन घटना-दृश्यों के आधार अधिकतर ललित विस्तार, दिव्यावदान और जातक माला हैं। इन उत्कीर्ण और उभारे दृश्यों की संख्या इतनी लंबी है कि उनसे पांच किलोमीटर से लंबी कतार अलंकृत की जा सकती है। लगभग सातवीं-आठवीं सदी का बना यह वास्तु संसार शैलेन्द्रों के प्रताप और कलाप्रियता का सूचक है। शैली और लिपि के प्रमाणों से इस

वास्तु साधना की निर्माण कालावधि 760 और 878 ई० के बीच पड़ती है, अधिकतर आठवीं सदी के उत्तरार्ध में।

मध्यवर्ती जावा से बौद्ध और तांत्रिक बौद्ध धातु मूर्तियां पर्याप्त संख्या में मिली हैं। इनमें अनेक स्वर्ण से बनी हैं, अधिकतर तांबे की। इनकी भव्यता दर्शनीय है। पूर्वी जावा से उत्तर कालीन कुछ ब्राह्मण धर्म की भी धातु मूर्तियां प्राप्त हुई हैं।

680 ई० के लगभग शैलेन्द्रों का प्रभुत्व प्रायः समाप्त हो जाता है और पूर्वी जावा से जावानी राज प्रंबनम् में लौट कर निवास करने लगते हैं और तब राजकीय धर्म फिर शैव हो जाता है। यद्यपि बौद्ध और शैव धर्मों के साथ-साथ प्रसार में कोई विघ्न नहीं पड़ता जावा का सबसे बड़ा और अपने परिवेश में बोरोबुडुरत था सेवू की भांति विस्तृत चंडी लोरो जो जोंगरंग का हिन्दू देवालय प्रसार है। दीवार के आधार पर छोटे मंदिरों से घिरे आठ मंदिरों का परिवार है जिनको परकोटेनुमा दो बाहरी दीवारें घेरे हुए हैं। भीतर के सबसे बड़े तीन मंदिर ब्रह्मा, विष्णु और शिव के हैं। इनमें भी सबसे बड़ा, मध्य का, शिव का है। इसका बहुत कुछ रूप बोरोबुडुर के स्तूप का सा ही है। ऊपर के मन्दिर में शिव की खड़ी मूर्ति है। आधार की दीवारें रामायण के दृश्यों से अद्‌भुत शिल्प क्षमता से अलंकृत हैं। वस्तुतः अपनी क्षमता में ये प्रंबनम् के अलंकरणों से भी बढ़ गए हैं।

इन मंदिरों को बनाते ही लोग इनकी भूमि छोड़कर चले गए थे। ऊपर अन्यत्र बताया जा चुका है कि किस तरह 915 ई० के आसपास मध्यवर्ती जावा सहसा वीरान हो गया था, जिसका कारण आज बताया नहीं जा सकता। यह प्रंबनम् का मंदिर परिवार नवीं सदी के अन्त में निर्मित हुआ था। संगसारी (1280-92) और मजपहित (1294-1478) के नए जावानी राजकुलों के संरक्षण में फिर एक बार जावा के शिलाबोध और वास्तु में नवजीवन का संचार हुआ। इस काल क्लासिकल शैली और भारतीय प्रभाव का अधिकतर अंत हो जाता है और स्थानीय जावा रोमैंटिक शैली का अभ्युदय होता है। उसके अलंकरण का क्षेत्र और विस्तृत हो जाता है और पत्थर में सुईकारी होने लगती है।

सिंगसारी काल का प्रधानवास्तु चंडी दल का शिव मंदिर है। चंडी जागो का मंदिर बौद्ध संप्रदाय का है यद्यपि उस पर कृष्णायण के दृश्य अंकित हैं जो निःसंदेह कुछ आश्चर्यकार हैं। चंडी जावी में भी इसी प्रकार बौद्ध-शैव सम्मिलन प्रस्तुत है जिसके गर्भगृह में शिव की प्रतिमा के ऊपर बुद्ध की मूर्ति रूपायित है। चंडी सिंगसारी में शैव परिवार की अनेक मूर्तियां—महिषमर्दिनी, गणेश आदि —उपलब्ध हैं। चंडी जाबुग का शिव मंदिर वर्तुलाकार है। इसे कुमारस्वामी

ने पूर्वी जावानी वास्तु का सर्वोत्तम उदाहरण माना है।[1]

पूर्वी जावानी कला के स्वर्णयुग के अन्यतम वास्तु में एक ब्लीतर के पास पनतरन के शिव मंदिरों का परिवाह है। इसके मंदिर चौदहवीं सदी के बने एक, दूसरे से अलग-अलग हैं। प्रधान मंदिर का अब मात्र आधार बच रहा है जिसकी दीवारें रामायण और कृष्णायण के दृश्यों से उभरी हुई हैं। मूर्तन इनमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव के हुए हैं। यहां का अलंकरण-कार्य अत्यन्त समृद्ध है। यहां तक कि द्वारपालों के पृष्ठ-भाग भी अलंकृत कर दिए गए हैं। इनकी शैली अधिकतकर बाली की है।

पन्द्रहवीं सदी के अन्य मंदिर पर्वतीय ढलानों पर बने हैं। आधार-मंचीय वास्तु चीन में आकाश-देवता के प्रसंग में अपनी परिणति को प्राप्त हो गया है। पर उसका आरम्भ जावा में ही देखा जा सकता है, मंदिरों का आधारस्थ विमान भूमियों में। शिव की आराधना, यहां लगता है, पर्वतीय देवता के रूप में हुई। हिन्दू वास्तु के अन्यस्थल सेलकेलिर (1434-42), पेनपिकन, सुकुल और लेवू हैं। यह स्मरणीय बात है कि जावानी कला में कहीं स्तंभों अथवा मार्टर का उपयोग नहीं हुआ है। यह जावा की कला की विशेषता है।

जावा के मंदिरों पर उत्खचित अथवा उभारे मूर्तनों का तो बाहुल्य है पर उन पर चित्रांकनों का प्रायः सर्वथा प्रभाव है। हस्तलिपियों में लघुचित्र निश्चय ही उपलब्ध हैं। उनका विशिष्ट उपयोग बाली में हुआ है, हम उसकी चर्चा यथास्थान करेंगे।

जावा के वास्तु और मूर्तनों के संबंध में इतना विशेष रूप से कथनीय है कि उसकी कला के आधार भारतीय अभिप्राय और प्रतीक हैं, वहीं धर्माराधन से वह आद्य हुई है और आरम्भ में उसी की शैली का भी वहां उपयोग हुआ है। पर धीरे-धीरे जावा की कला ने अपनी स्थानीय भूमि पा ली है और उसका स्वरूप तथा आकलन कालान्तर में प्रायः सर्वथा जावानी हो गया है। उसके बुद्ध, तारा, और शिव, विष्णु ने भी अधिकतर जावानी रूप ही ले लिया है।

1. हिस्ट्री ऑफ इंडियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ० 208-209

अध्याय–24

सुमात्रा, बाली, बोर्नियो और तोंकिन

सुमात्रा

प्रायः समूचे दक्षिण-पूर्वी द्वीप समूह का नाम सुवर्णद्वीप था। इनमें जावा और सुमात्रा प्रधान थे। जावा पर भारतीय प्रभाव और उसकी राजनीति पर पहले पर्याप्त चर्चा की जा चुकी है, नीचे अब हम सुमात्रा की चर्चा करेंगे।

सुमात्रा का भारतीय औपनिवेशीकरण अत्यंत प्राचीनकाल में हुआ था, संभवतः ईसा की प्रारंभिक सदी के आरंभ में ही। वस्तुतः 'सुवर्णभूमि' संज्ञा सुमात्रा की ही है, मलय अथवा जावा की नहीं। जातकों और रामायण में उसे ही सुवर्णद्वीप और सुवर्णभूमि कहा गया है। 'यवद्वीप सुवर्णकारमण्डित' पद में स्पष्ट ही जावा को पृथक् कर सुमात्रा की व्यंजना द्वारा सुवर्ण से संबंधित किया गया है। तोलेमी ने उसे 'ज़बादियोन' कहा है जिसमें स्पष्ट ही जावा की ही ध्वनि आती है जिसका विशेष प्रयोग अरब यात्रियों ने जावा के अर्थ में किया है। यह महत्त्व की बात है कि सुमात्रा के ही हिन्दू मलय नाविकों ने ईसाई सदियों के आरंभ में मदागास्कर को अपना उपनिवेश बनाया था।

सुमात्रा में प्राचीनतम हिन्दू राज्य ऐतिहासिक काल में श्रीविजय (पालेम्बाग) में स्थापित हुआ। चौथी सदी ईस्वी आरंभ होकर इसने सातवीं सदी में अपने उत्कर्ष की चोटी छू ली। उस सदी में इसने मलयु (जम्बी) के हिन्दू राज्य को जीत बंका के द्वीप पर भी अधिकार कर लिया और सुमात्रा की स्थिति अब प्रायः साम्राज्यपदीय हो चली। अब तक वहां हिन्दू धर्म के अतिरिक्त बौद्ध धर्म का भी प्रचार हो चुका था।

प्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान ने सुमात्रा की यात्रा भारत के बाद 414 ई० में की थी, जब वह स्थल मार्ग से आकर जलमार्ग से चीन लौट रहा था। तब तक वहां प्रकटतः बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। वह लिखता है कि सुमात्रा में बौद्ध नहीं हैं। उसके कुछ ही साल बाद कश्मीरी राजकुल के गुणवर्मन् ने यवद्वीप में पदार्पण किया। उसने रानी को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया और रानी ने अपने पुत्र को। इस प्रकार महायान सुमात्रा का राज-धर्म बन गया। अब तक चीनियों के वृत्तान्त में भी श्री विजय 'चो-पो' नाम से

लिखा जाने लगा। अरब यात्री उसे 'स्रीबुज़ा' कहने लगे थे। धीरे-धीरे सुमात्रा पर शैलेन्द्रों का प्रताप छा गया।

684 ई० में सुमात्रा पर बौद्ध राजा श्री जयनारा (जयनाग?) राज करने लगा था। उसने जावा पर आक्रमण करने के लिए 686 में अपनी सेना भेजी। इस अभियान की घोषणा उसने अपने अभिलेख में की जो समानरूप से दो पत्थरों पर खुदा है। आरंभ में अपने देवताओं का स्मरण कर वह ऐलान करता है कि श्री विजय के अधीन देशों के निवासियों के विद्रोह करने पर वह उन्हें कठोर दण्ड देगा। जिसकी सीमाओं में उनके हीत-मित्र, कुल-परिवार सभी आ जाएंगे। इसके विपरीत जो कुल-परिवार श्रीविजय के राज्य के प्रति आत्म-समर्पित रहेंगे, राज्य उनका हित करेगा, उन्हें समृद्ध करेगा, स्वयं देवता उसका कल्याण करेंगे।

सातवीं सदी के अन्त, 690 ई० में ईत्सिंग ने सुमात्रा की यात्रा की। वह लिखता है कि दक्षिण सागर के द्वीपों में श्रीविजय (सुमात्रा) बौद्ध ज्ञान और अध्ययन का केन्द्र बन गया था और कि उसके राजा का जहाज़ी बेड़ा भारत से व्यापार करता था। फाह्यान के समय से बौद्ध धर्म के सुमात्रा में प्रचार में ईत्सिंग के समय तक पर्याप्त अंतर पड़ गया था। ईत्सिंग लिखता है कि श्री विजय का नगर चीनी व्यापार का प्रधान केन्द्र था और उस नगर के क्वाल-तुंग के बीच निरंतर जहाज़ आते-जाते रहते थे।

श्री विजय की जलशक्ति की पुष्टि वहां के अभिलेखों से भी होती है। मलय प्रायद्वीप के लिगोर से प्राप्त एक अभिलेख (775 ई०) के अनुसार श्रीविजय का राजा निकट के राज्यों पर अधिकार कर चुका था और उनके राजा उसके प्रति विनीत भाव रखते थे। इससे प्रमाणित है कि श्रीविजय का आधिपत्य मलय प्रायद्वीपों में बन्दोन की खाड़ी तक 775 ई० में हो चुका था। 686 तक उसने मलयु (जम्बी) के राज्य पर भी अधिकार कर लिया था। शीघ्र ही पूरे मलय प्रायद्वीप पर उसने अपना स्वत्व स्थापित कर लिया और चीन के साथ अब उसका दात्य-व्यवहार होने लगा। बाद का सुमात्रा का इतिहास जावा और मलय प्रायद्वीप से घुलमिल जाता है और शैलेन्द्रों का साम्राज्य उस द्वीप समूह पर स्थापित हो जाता है। उन दोनों के इतिहास के साथ ही यथास्थान सुमात्रा की राजनीति का उद्घाटन किया जा चुका है।

सुमात्रा की कला भी अधिकतर जावा की कला से घुलमिली है फिर भी श्रीविजय के निर्माण कार्य का यहां संक्षिप्त परिचय दे देना उचित होगा। मलय प्रायद्वीप के विएन स्रा के 778 के अभिलेख से पता चलता है कि श्रीविजय के राजा ने दो ईंटों के मन्दिर बनवाए जिनमें वज्रपाणि, पद्मपाणि और बुद्ध की मूर्तियां पधराई गई थीं। इसी प्रकार उसके गुरु जयन्त और उसके शिष्यों ने

स्तूपों का निर्माण कराया था। इसी काल सुमात्रा के सैन्याभियान ने कम्बुज पर उसका आधिपत्य स्थापित कर दिया। आठवीं सदी के मध्य तक शैलेन्द्रों का कब्ज़ा मध्यवर्ती जावा पर हो चुका था। उसी काल सुमात्रा की ओर से मलयों ने चम्पा पर आक्रमण किया और श्रीविजय अथवा सुमात्रा की वास्तविक राजधानी प्रम्बनम् हो गया। इसी काल वहां बौद्ध वास्तु के महान् आदर्श बने जिनका विवरण जावा के प्रसंग में दिया जा चुका है।

नवीं सदी के आरंभ में कम्बुज के जयवर्मन द्वितीय ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी और श्रीविजय की शक्ति का ह्रास शुरू हो गया। पर सुमात्रा का संबंध भारत से अगली सदियों में भी बना रहा। ऊपर लिखा जा चुका है कि जवभूमि के राजा के पौत्र और सुवर्णभूमि के नरेश बालपुत्रदेव की ओर से पालराज देवपाल ने नालन्दा में विहार वनवा कर उसके व्यय के लिए गांव दान कर दिए। चोलों और शैलेन्द्र राजाओं के संघर्ष का विवरण अन्यत्र दिया जा चुका है। शैलेन्द्र नृपति चूड़ामणिवर्मन ने चोल राज के साम्राज्य में नेगापतम् में बौद्ध विहार बनवाकर उसके व्यय की व्यवस्था की थी।

दीपंकर श्रीज्ञान अतिस ने विक्रमशिला के प्रसिद्ध बौद्ध ज्ञानपीठ से ग्यारहवीं सदी में सुमात्रा जाकर दस वर्ष तक निवास और सर्वास्तिवादिन् दर्श का अपना अध्ययन पूरा किया था।[1]

1400 ई० के लगभग शैलेन्द्रों के राजकुल का लोप हो गया। भारतीय मुस्लिम मुल्लाओं और सौदागरों ने सुमात्रा में इस्लाम का प्रचार किया। मलिक-उस्-सालिह पहला सुमात्रा (पासाई) का राजा था जो मुसलमान हुआ। वह 1397 में मरा। मलय प्रायद्वीप के मुस्लिम सुल्तानों ने स्यामी और जावानी जुआ फेंक अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। पन्द्रहवीं सदी के अन्त तक इस्लाम मलय और सुमात्रा से बढ़ कर समूचे जावा में फैल गया और हिन्दुओं और बौद्धों को लाचार होकर बाली में शरण लेनी पड़ी। सुमात्रा से प्राचीन सभ्यता के सारे चिह्न मिट गए।

बाली

बाली भी जावा, सुमात्रा के साथ हिन्देशियाई द्वीप समूह का एक द्वीप है। समूचे द्वीप समूह में सबसे अधिक यहीं भारतीय संस्कृति चिरस्थायी रही। अन्यत्र तो इस्लाम के आघात से हिन्दू संस्कृति का नाश हो गया पर बाली में वह आज तक बनी हुई है। बाली का भारतीयकरण सीधा भारत से हुआ और छठी सदी ईस्वी से पहले ही वहां एक हिन्दू राज्य कायम हो चुका था। ब्राह्मण कौण्डिण्य

1. दास, एस० सी० इण्डियन पण्डित्स इन तिबत, जर्नल, बुद्धिस्ट टेक्स्ट सोसाइटी, इंडिया, 1, 1893, पृ० 8

का नाम इन द्वीप समूहों के हिन्दूकरण के संबंध में अक्सर आया है, वह बाली के संबंध में भी सार्थक है। चीनी राजवंश लिआंग (502-557 ई०) का इतिहास बाली के इस राजवंश पर कुछ प्रकाश डालता है। उसके अनुसार "राजा का नाम कौण्डिण्य है। अपने पूर्वजों के विषय में पूछे जाने पर उसने कुछ न बताकर केवल इतना बताया कि शुद्धोदन की पत्नी उसीके देश की कन्या थी।" इस राजा ने 518 ई० में चीनी दरबार को उपहारों के साथ अपना दूत भेजा था। इस कौण्डिण्य की पहचान कठिन है क्योंकि, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, उसका संबंध सुवर्णद्वीप के प्रायः सभी राजवंशों के आरंभ से है। कुछ आश्चर्य नहीं जो वह पुराकाल का ऐतिहासिक व्यक्ति रहा हो जिसके नाम का उपयोग, प्राचीनता का धुंध उसके नाम पर छा जाने के कारण, सर्वत्र हुआ हो।

बाली दक्षिण-पूर्वी एशिया में अकेला देश है जहां आज भी हिन्दू धर्म जीवित है और उसकी सामाजिक व्यवस्था प्रचलित है। हिन्दू धर्म और संस्कृति का प्रचार उस द्वीप में प्राचीन काल में ही हो गया था। जावा से उसका घना संबंध रहा था और राजनीतिक दृष्टि से वह उसके प्रभाव में भी अधिकतर रहा था। बड़ी संख्या में संस्कृत में लिखे अभिलेख और ताम्रपत्र बाली में मिले हैं। इन अभिलेखों से प्रकट है कि दसवीं सदी में पांच हिन्दू राजाओं और एक रानी ने वहां राज किया था। उनका संक्षिप्त व्यौरा इस प्रकार है:

बाली के हिन्दू राजाओं में पहला उग्रसेन था जिसने संभवतः 915 से 933 ई० तक राज किया। उसके बाद क्रमशः तबनेन्द्रबर्मदेव (955), चन्द्रभर्यसिंह-वर्मदेव (962) और जनसाधुवर्मदेव (975) राजा हुए। रानी श्रीविजय महादेवी के शासन काल का एक वर्ष 983, अभिलेख सम्मत है। एक और विजेता राजा का नाम एक अभिलेख में श्रीकेशरीवर्मन मिलता है, पर उसका ऊपर के राजकुल से क्या संबंध था, इसका पता नहीं चलता। संभवतः वह भी दसवीं सदी का ही था।

पहले बताया जा चुका है कि दसवीं सदी में बाली पर जावा का अधिकार हो गया और तब महेन्द्रदत्ता (गुणप्रिय धर्मपत्नी) ने अपने पति उदयन (धर्मोदायनवर्मदेव) के साथ उस पर राज किया। उनके बाद मरकतपंकजस्थानी तुंगदेव राजा हुआ। जिसके अनुज ऐरलंग का वर्णन पहले किया जा चुका है। ऐरलंग का उल्लेख दस ताम्रपत्रों में हुआ है। उसने स्वतंत्र रूप से 1049 और 1177 के बीच राज किया। उस द्वीप के अन्य स्वतंत्र राजाओं में उल्लेखनीय श्रीशुराधिप (1115-19), श्री जयशक्ति (1133-50) और पदुक श्री महाराज हजी जय पंगुस् (1177 के लगभग) हैं। इनमें से अंतिम का नामोल्लेख तेरह अभिलेखों में हुआ है जिनमें से एक में वह 'बालिद्वीपमंडल' का अधिराज कहा गया है। तेरहवीं सदी के आरंभ में शकेन्दु और भटार परमेश्वर दो

राजाओं के नाम मिलते हैं। शीघ्र ही बाद जावा ने बाली को अपना करद राज्य बना लिया। कडिरी के पतन के बाद बाली फिर स्वतंत्र हो गया और उस पर 1250 में राजा अदिलंचन ने शासन किया। राजा कृतनगर ने पीछे इसे जीत कर इसके राजा को बन्दी बना लिया। उसके सर्वनाश के बाद कुछ काल तक स्वतंत्र रहकर बाली फिर मजपहित के साम्राज्यवाद का शिकार हो गया। पन्द्रहवीं सदी के अन्त में इस्लाम के आक्रमण से भागकर मजपहित के राजा और अन्य भारतीयों ने बड़ी संख्या में अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए बाली में शरण ली जहां उनका समाज आज भी अपनी प्राचीन व्यवस्था में जीवित है। कालान्तर में डच उस द्वीप के स्वामी हुए, पर वे भी बाली के हिन्दू जीवन का अन्त न कर सके।

जिस चीनी लेखक का हवाला ऊपर दिया गया है उसने बाली के राजदरबार के ऐश्वर्य, शालीनता और उसके आचार-व्यवहार का विशद वर्णन किया है। वह वर्णन छठी सदी ईस्वी का है। इसमें सन्देह नहीं कि उस सदी में बाली की सभ्यता समृद्ध थी और वहां बौद्ध धर्मावलंबी भारतीय राजकुल का शासन प्रतिष्ठित था।

चीनी यात्री ईत्सिंग ने भी सातवीं सदी के अन्त में बाली द्वीप का भ्रमण किया था। उसका कहना है कि तब उस द्वीप का प्रधान धर्म बौद्ध महायान था। अधिकतर वहीं महायान का वह रूप फैला जो तान्त्रिक साधनाओं से संबंधित है। उसका प्रचलन बाली में आज भी है। वस्तुतः कम्बुज की ही भांति बाली में भी हिन्दू और तांत्रिक धर्म ऐसे हिलमिल गए हैं कि उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

बाली जावा के प्रभाव में बारहवीं सदी के बाद आया। और वह प्रभाव भी कभी इतना गहरा न हो सका कि स्थानीय राष्ट्रीय सभ्यता के विकास में अवरोध बन सके। वह सभ्यता बाली में आज भी जीवित है। 'नागरकेर्तागम' में जैसा लिखा है उसी के अनुसार आज भी वहां क्रिया, कर्म, उत्सव आदि होते हैं। बाली के परिधान में आज भी ऊर्ध्वार्ध खुला रहता है जैसा कभी भारत के भी कुछ भागों में नारी परिधान में खुला रहता था।

जहां तक कला के अवशेषों का ताल्लुक है, बाली में वे कम ही बच पाए हैं। तम्पक्सिरिंग में निश्चय ग्यारहवीं-बारहवीं सदी का एक राजकीय श्मशान है जहां चट्टानों में मन्दिर खोद कर बने हैं। वहां भी अलग-अलग बने मन्दिरों की जहां-तहां परम्परा चली गई है। यह गंगा चौदहवीं या पन्द्रहवीं सदी का मंदिर है जिसका शिल्प पनतरत के शिला-सा है। पेजेंग की मूर्तियां भी उसी काल की हैं। वहां संगसित, बंगाली, बतूर, केसिमन आदि में ऊंचे तोरणों के पीछे और चहारदीवारी से घिरे आयुमंदिर बने हैं। इनमें चूना-पत्थर लगा है।

बाली और जावा में जो प्राचीन संस्कृति आज भी बच रही है वह वहां का रंगमंच (थ्येटर)···वयंग···और कइन (कपड़ा) है। रंग के साथ अभिन्न रूह से बाली में गायन और नर्तन जुड़े हुए हैं जिनका विकास भी अमित हुआ है। रंग के अनेक रूप हैं जिनमें प्राचीनतम वयंग बेबेर है। वयंग पूर्व, वयंग गेदाग और वयंग क्लितिक अधिकतर छाया नाटक हैं। पुतली के नाच भी वहां विविध रूप में होते हैं।

बोर्नियो

बोर्नियो का द्वीप संसार के विपुलतम द्वीपों में से है। वहां की वर्बर सभ्यता जिसमें द्याक सर्वोपरि थे, बहुत प्राचीन है। पर ऐतिहासिक काल में जो सभ्यता उस द्वीप को मिली उसे भारतीयों ने प्रदान किया। महाकामु नदी के तीर मुआरा कमान नाम का एक सागर तीर पर बंदर था। वहां सात संस्कृत के अभिलेख मिले हैं जिनसे पूर्वी बोर्नियो में हिन्दू जीवन का साक्ष्य मिलता है। उन अभिलेखों के अनुसार राजा कुंडुंग का पौत्र और अश्ववर्मन का पुत्र राजा मूलवर्मन हुआ। मूलवर्मन ने बहुत स्वर्णदान करके विधायक बहुसुवर्णक नाम का यज्ञ किया जिसमें उसने वप्रकेश्वर के पुनीत क्षेत्र में ब्राह्मणों को 20,000 गांव दान में दिए। इन अभिलेखों का समय लगभग 400 ई० है जिससे प्रकट है कि चौथी सदी तक भारतीय बोर्नियो को अपना उपनिवेश बनाकर उसमें बस तो चुके ही थे, वहां उन्होंने अपना राजकुल भी स्थापित कर लिया था। इन अभिलेखों से बोर्नियो में भारतीय संस्कृति के प्रसार और ब्राह्मणों के विशेष सम्मान का पता चलता है।

मूलवर्मन के पितामह का नाम कुंडुंग लिखा है जो कौण्डिण्य का ही एक रूप मालूम होता है। कौडिण्य नाम के ब्राह्मण के फूनान को सभ्य बनाने और राज-कन्या सोमा को ब्याह कर वहां अपना राजकुल स्थापित करने की बात पहले लिखी जा चुकी है, इसी व्यक्ति का नाम संभवतः विविध द्वीपों के सांस्कृतिक संदर्भ में आया है। यही बाली और बोर्नियो के राजकुलों का प्रतिष्ठाता भी कहा जाता है। यह कह सकना तो कठिन है कि एक ही व्यक्ति इन सारे राजकुलों का प्रतिष्ठाता और मूलवर्मन का पितामह था, पर कुछ आश्चर्य नहीं जो इस नाम के मूल पुरुष के ही इसी नाम को धारण करने वाले वंशज थे। यह भी हो सकता है कि उस द्वीप समूह में इस परम्परा ने इतनी लोकप्रियता प्राप्त कर ली कि सभी राजकुल कौण्डिण्य ब्राह्मण को ही अपना आदि पूर्वज मानने लगे।

पूर्वी बोर्नियो में कोमबेंग में अनेक बौद्ध और हिन्दू देवताओं की मूर्तियां मिली हैं जो संभवत: उन मन्दिरों से संबंधित थीं जो महाकाम के तीन बनते गए थे। पश्चिमी बोर्नियो की कपुआस नदी के तीर भी अनेक पुरा-अवशेष मिले हैं

जिनसे प्रकट है कि भारतीय संस्कृति का विन्यास वहां भी विशद रूप से हुआ था।

तोंकिन

तोंकिन चीन से लगे भूखण्ड का दक्षिणी भाग है, तोंकिन-खाड़ी के तीर बसा। पर हमने उसके भारतीय औपनिवेशीकरण अथवा संस्कृति प्रचार का विवरण इस कारण चीन के साथ नहीं दिया कि वह दक्षिण-पूर्वी एशिया के पूर्वतम देश के उत्तर में अवस्थित है और उससे लगा हुआ है वहां भारत से लगे देशों की राह भी। साथ ही उसकी राजनीति कम्बुज और चम्पा की राजनीति से भी संबंधित रही थी जिसका वर्णन हमने उनके इतिहास के प्रसंग में यथास्थान किया है।

जो कुछ ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है उससे सिद्ध होता है कि दूसरी-तीसरी सदियों में ही तोंकिन में जाकर चीनी और भारतीय भिक्षुओं ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। भारतीय भिक्षु वहां स्थल और जल दोनों मार्गों से पहुंचते थे। दोनों महादेशों से जाने-आने वाले यात्रियों की राह में तोंकिन पड़ता था, इसीसे वहां बौद्ध धर्म का प्रचार भी प्रायः उसी काल होने लगा था जिस काल चीन में।

पारंपरिक प्रमाणों के अनुसार तोंकिन पहुंचने वाले पहले भिक्षुओं में संभवतः सुग्ध में जन्मे परिवार का सेंग-हुई (संघभद्र) था जिसका जन्म तीसरी सदी ईस्वी के पहले चरण में हुआ था। उसका परिवार पीढ़ियों से भारत में रहता आया था। उसका पिता व्यापार के सिलसिले में तोंकिन गया था और वहां बस गया था। पिता की मृत्यु के बाद सेंग-हुई बौद्ध भिक्षु हो गया और दक्षिणी चीन में धर्म का प्रचार करने लगा। उसने नानकिंग के वू सम्राट को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। उससे भी पहले वहां पहुंचने वालों में ही माओ-त्सिउ भी था। वह पहले ताओवादी रहा था पर बाद में बौद्ध हो गया था। उसका समय 194-195 बताया जाता है। जिस तरह वह चीन से तोंकिन आया था उसी तरह सेंग-हुई तोंकिन से चीन गया था। सेंग-हुई संस्कृत ग्रंथों का चीनी में अनुवाद करने वाला महान् आचार्य था। तोंकिन जाने वाला तीसरा भारतीय भिक्षु मारजीवक अथवा जीवक था। वह सौदागरी जहाज़ पर चढ़कर भारत से दक्षिण कम्बुज में फूनान आया और वहां से तोंकिन तथा कान्तोन पहुंचा। सर्वत्र धर्म का प्रचार कर वह भारत लौट गया। इनमें से अन्तिम भारतीय शक था जिसका नाम संभवतः कालरुचि अथवा कल्याणरुचि था। उसने 255 और 257 ई० के बीच अनेक बौद्ध ग्रंथों का चीनी अनुवाद किया।

इन भिक्षुओं के प्रयत्न से तोंकिन धीरे-धीरे बौद्ध धर्मावलंबी हो गया। दक्षिण-पूर्वी एशिया में तोंकिन उस धर्म का गढ़ बन गया। तीसरी सदी के अन्त

तक केवल लेइलिउ ज़िले में 20 चैत्य बन चुके थे जहां पांच सौ भिक्षुओं का निवास था। लेइलिउ बाकनिन्ह प्रान्त में आज का गांव लुंग-खे है। अनाम, कम्बुज आदि की भांति तोंकिन सर्वथा भारतीय उपनिवेश तो नहीं बन सका पर भारतीयों की वहां भी अनेक बस्तियां बस गईं। चौथी सदी के एक चीनी वृत्तान्त के अनुसार, प्रान्तीय शासक के परिजनों में भारतीयों की एक बड़ी संख्या थी।

तोंकिन पर राजनीतिक दृष्टि से अधिक प्रभाव चीन का रहा था और उसी पक्ष से वह दक्षिण-पूर्व के अन्य राज्यों की राजनीति में समय-समय पर हस्तक्षेप भी करता रहा था। अनाम (चम्पा), फूनान, कम्बुज के इतिहास के प्रसंग में तोंकिन का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

अध्याय–25

दक्षिण-पूर्वी देशों की भारतीय संस्कृति

दक्षिण-पूर्वी एशिया के भारतीय उपनिवेशों का जीवन हिन्दू संस्कृति और विचारों से प्रभावित होने से स्वाभाविक ही वह हिन्दू सांस्कृतिक उपकरणों से ही अनुप्राणित हुआ। यहां हम उनका संक्षिप्त विवरण देंगे। इस सांस्कृतिक प्रसंग का अध्ययन सामाजिक, साहित्यक, आर्थिक, धार्मिक और कलाजन्य संदर्भों में होना समीचीन होगा। इनमें जहां तक कला-संबंधी सामग्री का विषय है वह सर्वत्र देशों के राजनीतिक प्रकरणों के साथ ही प्रस्तुत कर दिया गया है। यहां हम केवल सामाजिक, साहित्य और धार्मिक तथ्यों का विवरण देंगे।

सामाजिक और आर्थिक स्थिति

हिन्दू समाज का नवीन संस्करण इन देशों में हुआ। हिन्दू जीवन की प्रधान व्यवस्था भारत में प्राय: वैदिककाल से ही वर्ण-धर्म द्वारा होती आई है जब उसकी कलम इन देशों में लगी तब स्वाभाविक था कि वर्ण-धर्म अथवा जाति प्रथा का भी वहां प्रचार हो। जावा, सुमात्रा, चम्पा, बाली सर्वत्र चारों वर्णों की प्रतिष्ठा हिन्दू उपनिवेशों के स्थापित होते ही हो गई थी। साहित्य और अभिलेखों में 'चातुर्वण्य' का बार-बार उल्लेख हुआ है और चारों वर्ण ब्राह्म, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामशः भी गिनाए गए हैं। विवाह साधारणत: सवर्ण ही होते थे पर विभिन्न वर्णों में परस्पर विवाह भी अनजाने न थे। अनुलोम विवाह ही प्रशंसित होता था, प्रतिलोम नहीं। प्रतिलोम के संदर्भ में नारी को प्राणदण्ड तक दे दिया जाता था। अनुलोम विधि से सम्पादित विवाह में सन्तति का स्थान माता के वर्ण के अनुरूप ही ऊंचा-नीचा होता था, यद्यपि सन्तति का वर्ण पिता का ही होता था। बाली में, जहां वर्ण धर्म की प्रथा आज भी जीवित है, शूद्रों की स्थिति भारतीय शूद्रों की भांति दयनीय नहीं। साधारणतया सभी वर्णों के लोग खेती करते हैं और शूद्र कृषि के अतिरिक्त अन्य पेशे भी अख्तियार कर सकते हैं। मनु आदि की पद्धति के समान ही वहां दण्ड, समान अपराध के लिए वर्णों की ऊंचाई और नीचाई के अनुसार कम और कठोर होते हैं। चम्पा आदि में तो वर्णों के बीच छोटे-बड़े का विशेष अंतर भी न था। कम से कम वैश्य और शूद्र तो साधा-

रणतया समान ही थे। अन्तर थोड़ा-बहुत ब्राह्मण, क्षत्रिय में था। ब्राह्मण पूज्य था और उसकी हत्या गर्हित पाप समझा जाता था। पर कहीं-कहीं बुद्ध की भांति वर्णगणना करते समय क्षत्रिय को ब्राह्मण के पहले गिना जाता था, अर्थात् बजाय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र बोलने के, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र बोला जाता था। और बाली में तो क्षत्रिय अथवा वैश्य राजा ब्राह्मण से श्रेष्ठ माना जाता था। यद्यपि क्षत्रिय नृपति के लिए ब्राह्मण कन्या से विवाह वर्जित था पर व्यवहार में उसका मार्जन कर लिया जाता था। साधारण रूप उसका यह होता कि ब्राह्मण कन्या को पहले वर्णच्युत कर दिया जाता और अब वह ब्राह्मण नहीं रह जाती तब राजा उसे ब्याह लेता। वर्णों के सामाजिक विधान में इन उपनिवेशों में भी कालान्तर में कुछ अन्तर पड़ गया। जहां बौद्ध सूर्यवर्मन प्रथम ने कम्बुज में वर्ण विभाजन को मात्र स्वीकार किया वहीं हर्षवर्मन ने इनके लिए वर्णानुगत कर्त्तव्य अनिवार्य कर दिए। फिर भी विवाह के संदर्भ में च्युति हो गई थी, क्योंकि क्षत्रिय कम्बुज में ग्यारहवीं सदी के बाद ब्राह्मण कन्या से विवाह करने लगा था।

इन उपनिवेशों में नारी का स्थान भारतीय नारी के स्तर से ऊंचा था। बाली में राजकन्या ने पत्नी होकर भी अपने अधिकार से राज किया और जब उसने अपने पति को भी राजकर्म में साहचर्य स्वीकार किया तब भी उसका नाम अभिलेखों में उसके पति से पहले लिखा जाता था। उसका पति उदयन अपने अधिकार से राजा तभी हो सका जब उसकी पत्नी मर चुकी थी। इसके उदाहरण भी अनजाने नहीं, जब भाइयों की बहिन राज्य की स्वामिनी बनी। अनेक स्त्रियों ने उच्च राजपदों को भोगा। बाली में तो नारी कभी पर्दे में नहीं रही। सती प्रथा प्रचलित थी, पर साधारणतः राजपरिवार में ही, जब विधवा पति के शव के साथ चितारोहण करती थी। उसीके साथ राजा के दास भी जल मरते थे। शूद्रों की स्त्रियां इस प्रथा से मुक्त थीं। कालान्तर में तो, कम से कम कम्बुज में, राजाओं के अन्तःपुर में भी रानियों की संख्या अनियमित हो गई थी। चिउ ता-कुआन लिखता है कि कम्बुज के राजा के अंतःपुर में पांच प्रधान रानियों के अतिरिक्त उसकी अनेक पत्नियां और रखैलें थीं। प्रजा को दर्शन देने के लिए राजा प्रधान महिषी के साथ महल के झरोखे में बैठता था। निःसंदेह एक पुरुष की अनेक पत्नियां होने से नारी उत्तरकाल में हेय हो गई।

वर्णों के अतिरिक्त वर्ग भी थे। अभिजातों का समाज अपना था, नीच वर्गीय लोगों से भिन्न, यद्यपि वे उसी वर्ग के थे। प्रधान अभिजातों में अधिकतर ब्राह्मण और क्षत्रिय थे। उनके परिधान, आभूषण दूसरों से भिन्न होते थे, वाहन और होते थे। वे गाजे-बाजे के साथ पालकियों, गजों आदि पर सवार होकर नगर में निकलते थे। परिधान में वस्त्रों की संख्या बहुत नहीं थी। पुरुष और

नारी केवल कटि से नीचे ही वस्त्र पहनते थे ऊपर का भाग खुला रहता था। बाली में आज भी स्त्रियां कटि से ऊपर का भाग गर्मियों में खुला ही रखती हैं। चीनी पदाधिकारी चिउ ता-कुआन ने इन द्वीप समूहों की रहन-सहन का जो विवरण, विशेषकर उच्च वर्ग का, दिया है वह वहां के जीवन पर प्रभूत प्रकाश डालता है और उल्लेखनीय है। उसने दूसरों से सुनकर, पर उनका आंखों देखा कम्बुज के जीवन का वर्णन जो 1296-97 में किया वह इस प्रकार है—

राजा, अभिजातों और उच्चपदीय राज्य अधिकारियों का जीवन साधारण जन से सर्वथा भिन्न है। उनके आवास भी उनकी स्थिति के अनुकूल होते हैं। साधारण लोगों के मकानों की छतें फूस की बनती हैं, खपड़ैलों से छाई नहीं होतीं। सबसे अधिक महत्त्व की बात तो यह है कि स्त्री और पुरुष दोनों ही—जिनमें रानी और राजा भी शामिल हैं—शरीर के ऊपर का भाग नंगा रखते हैं और पैरों में जूते नहीं पहनते। ऊंच-नीच सभी केवल धोती पहनते हैं और बाहर जाते समय केवल एक दुपट्टा ऊपर डाल लेते हैं। सभी के केश ऊपर ग्रंथिबद्ध होते हैं।

उच्चवर्गीय लोग समृद्ध हैं और शानोशौकत से रहते हैं। उनके प्रासाद और भवन भव्य हैं, शालीन और विशद् (महलों में) स्वर्ण सेतु हैं जिनके दोनों ओर स्वर्णसिंह हैं। बुद्ध की मूर्तियां स्वर्ण की हैं, स्वर्ण के ही स्तंभ और खिड़कियों की जालियां हैं। खपड़ैलें रांगे की बनी हैं और (प्रासादों में) दरबार (अथवा बैठकों) में पचास-पचास शीशे जड़े हैं (जो शीशमहल की तरह जगमगाते रहते हैं)। धनी वर्ग मोती और रत्नजटित आभूषण धारण करते हैं और उच्च-पदीय राजकर्मचारी स्वर्णदण्ड वाली पालकियों पर चलते और स्वर्णदण्डयुक्त छत्र धारण करते हैं।

राजा का महल विशाल है और उसके अन्तःपुर में पांच प्रधान रानियों के अतिरिक्त और रखैलें भी हैं। राजा अपनी रानी के साथ झरोखे में बैठकर प्रजा को दर्शन देता है। महल के उत्सवों में, विशेषकर नववर्ष के दिन अथवा बुद्ध की मूर्तियों के स्नान के दिन और अन्य भी अवसरों पर उत्सव होते हैं, शाम को अग्निकार्य (आतिशबाज़ी) होती है, संगीत, नृत्य होते हैं, शूकरों और गजों के युद्ध होते हैं और महल से बाहर जनता का जुलूस निकलता है।

राजा स्वयं व्यवहारासन पर बैठा न्याय कार्य करता है। अपराध का निश्चय अपराधियों को आग पर चलाकर अथवा इस प्रकार के अन्य उपायों से होता है और जघन्य अपराधों का दण्ड अंग-भंग करके देते हैं। प्राणदण्ड का एक रूप दण्डित व्यक्ति को खाई में जीवित गाड़ देना है।

साल में चार-चार फसलें उगाई-काटी जाती हैं। मूल्यमान वस्तुएं सुन्दर पक्षियों के पंख, गजदन्त, गेंडों के सींग और मोम हैं। सोना और चांदी, रेशमी

वस्त्र, टिन, चीनी-मिट्टी के बर्तन, सिन्दूर, कागज़ आदि प्रधान वस्तुएं बाहर से आती हैं। दुकानों पर अधिकतर स्त्रियां ही बैठती हैं।

ज्योतिष बहुत लोकप्रिय है और स्त्रियां तक शुभ और अशुभ मुहूर्त गिन लेती हैं। मुहूर्त से काम करने का देश में चलन है।

जनता के अध्यापन का भार भिक्षुओं पर है। बच्चों को भिक्षु ही पढ़ना-लिखना सिखाते हैं।

चीनी पदाधिकारी का यह वक्तव्य अन्य प्रमाणों द्वारा भी सही सिद्ध हो जाता है। देश में अनंत अभिलेखों से प्रकट है कि उनकी सार्थकता उनके पढ़े जाने में ही थी और जब तक कि लोग पढ़े-लिखे न होते उनकी आवश्यकता नहीं थी। अभिलेखों से प्रमाणित है कि ज्ञान के प्रति लोग आदर-भाव रखते थे और पंडित पूजे जाते थे। अनेक राजा अत्यन्त ज्ञानवान थे, प्राचीन ग्रंथों पर व्याख्या लिखते थे, स्वतंत्र रूप से मौलिक रचनाएं करते थे। पठन-पाठन करने वाले ब्राह्मणों के अनंत परिवार थे जिनमें ज्ञान-बोध पीढ़ी दर पीढ़ी संचित होता था। मंत्री, राज-कर्मचारी, उच्चवर्ग की स्त्रियां तक अध्ययन और ज्ञानार्जन में रुचि रखती थीं। मंदिरों पर रामायण, महाभारत, जातकों आदि की घटनाओं के रूपायनों से प्रकट है कि ये काव्य और जातक लोकप्रिय थे और पढ़े और गाए जाते थे। साहित्य का विवरण हम पृथक् देंगे।

साहित्य

पिछले प्रकरण में शिक्षा आदि पर कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। उससे तत्कालीन साहित्य की भी कुछ सूचना मिलती है। मलय प्रायद्वीप, कम्बुज, चम्पा, सुमात्रा, जावा, बाली सर्वत्र संस्कृत के अभिलेख मिले हैं, जिनमें से अनेक पूर्णतः अथवा अंशतः छन्दों में काव्यबद्ध हैं। उनसे प्रमाणित है कि संस्कृत भाषा का कम से कम राजकुलों-दरबारों, राजकर्मचारियों, ब्राह्मण परिवारों, पुरोहित, भिक्षुओं और अभिजातों में बोलबाला था। उसके साहित्य के गद्य, पद्य आदि अनेक विधाओं में वह प्रस्तुत होता था। नवीं सदी से पहले के केवल चम्पा (तीस) और कम्बुज (सत्तर) में सौ संस्कृत के अभिलेख मिले हैं जिनमें व्याकरण और शब्दशास्त्र, दर्शन, अर्थशास्त्र, ज्योतिष और काव्य का बखान हुआ है। राजाओं और मंत्रियों के काव्य तथा शास्त्र-ज्ञान का यथास्थान उल्लेख किया जा चुका है। इस अध्ययन का संबंध केवल भाषा और साहित्य से है, धार्मिक ग्रंथों का उल्लेख हम स्वतंत्र शीर्षक से करेंगे। नीचे हम साहित्य-संदर्भ पर प्रकाश डालेंगे।

कम्बुज संस्कृत भाषा और साहित्य का प्रधान केन्द्र बन गया था। नवीं-दसवीं सदियों में उनके अध्ययन ने वहां चोटी छू ली। अत्यन्त मधुर वाणी में,

सर्वथा निर्दोष भाषा में अभिलेख श्रुतमधुर काव्यबद्ध हुए, अत्यन्त मनहर, अत्यन्त प्रीतिकर इनमें से अनेक प्रचुर लंबे हैं। यशोवर्मन की काव्याभिरुचि का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उस राजा के एक अभिलेख में 50 पद्य, दूसरे में 75, तीसरे में 97 और चौथे में 108 पद्य हैं। इसी प्रकार राजा राजेन्द्रवर्मन के एक अभिलेख में 218 और दूसरे में प्राय: 300 पद्य हैं। अभिलेख में वेद-पुराणों, धर्मशास्त्रों, बौद्ध-जैन ग्रंथों के अतिरिक्त पाणिनि, पतंजलि, वात्स्यायन, विशालाक्ष आदि के नाम आए हैं। इसी प्रकार सेतुबन्ध के रचयिता प्रवरसेन, सूर्यशतक के प्रणेता मयूर तथा प्राकृत बड़कहा (बृहत्कथा) के कर्ता गुणाढ्य के नाम लिखे हैं। उनमें मनुस्मृति और रघुवंश के श्लोक भी उद्धृत हैं और सुश्रुत की चिकित्सा-संहिता का उल्लेख हुआ है। और काव्यबद्ध रचनाओं में संस्कृत छन्द शास्त्र के प्राय: सभी छन्दों का उपयोग हुआ है। विद्वानों का तो यहां तक विचार है कि भारत का कोई अभिलेख इन कम्बुजीय अभिलेखों की भाषा तथा काव्य की साधुता, प्रांजलता और मधुरता का मुकाबला नहीं कर सकता।[1]

जावा में तो संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन ने एक नया रूप लिया। यहां स्थानीय भाषा और साहित्य के प्रादुर्भाव और गठन में उसने सहायता की। इस नई भाषिक और साहित्य प्रवृत्ति तथा विधा का हिन्दू (अथवा भारतीय) जावानी नाम दिया गया है। इस विधा के विकास की तीन मंज़िलें मानी गई हैं—1. प्राचीन-जावानी 2. नव-जावानी और 3. मध्य-जावानी।

प्राचीन-जावानी साहित्य-काल जावा में लगभग 1000 ई० में आरंभ हुआ और पांच सौ साल बाद प्राय: 1500 ई० में समाप्त होता है। जावा में हिन्दू राजकुलों की समाप्ति इसकी समाप्ति की भी परिचायक है। अर्थ यह कि इस काल का दौरान हिन्दू शासन काल से सावधि है। इसके बाद नव-जावानी साहित्य-कला का मुस्लिम आक्रमण और इस्लाम के शासन के आरंभ तक प्रसार है। मध्य-जावानी साहित्य-काल वस्तुत: जावा की भूमि पर नहीं बाली की भूमि पर अवतरित होता है। उसका आरंभ यहां तब हुआ जब जावानी राजवर्ग ने मुस्लिम उत्कर्ष के बाद जावा से भाग कर बाली में आश्रय किया। हमारा अध्ययन भारतीय प्रभावों तक सीमित रहने के कारण केवल प्राचीन जावानी साहित्य-कला ही हमारे अनुसंधान का विषय होगा। इस काल संस्कृत भाषा का जावा में अध्ययन और उपयोगी हुआ है, उसके छन्दों का वहां प्रयोग हुआ है और उसीका साहित्य स्थानीय साहित्य में नये रूप से उतरा है।

प्राचीन-जावानी साहित्य-माला का प्रथम प्रसून एक प्रकार का कोश है जो

1. दि एज ऑफ इम्पीरियल कनौज, पृ० 443

शलेन्द्र राजकुल के राजा जितेन्द्र के संरक्षण में लिखा गया था। उसका नाम 'अमरमाला' है। प्रमाणतः वह अमरसिंह के अमरकोश से प्रभावित है। इस साहित्य का सबसे प्रसिद्ध काव्य 'रामायण' संभवतः 1094 ई० में योगीश्वर द्वारा रचा गया था। इसमें राम-कथा का रूपायन हुआ है जो राम और सीता के लंका में मिलन के साथ समाप्त होती है। इसपर निःसंदेह वाल्मीकि का गहरा प्रभाव पड़ा है यद्यपि अनेक प्रसंगों में योगीश्वर की कथा उससे भिन्न है। रामायण की ही भांति प्राचीन-जावानी साहित्य में भी व्यास के महाभारत के अनुकरण में जावानी 'महाभारत' रचा गया। उसका आरंभ तो राजा ऐरलंग्ग के शासनकाल में, उसीकी संरक्षा में हुआ पर उसमें पीछे भी कुछ अंश जोड़े जाते रहे। इस प्रकार उसके आरंभ तथा निर्माण संभवतः जावानी रामायण से पहले हुआ। भारत में भी अनेक विद्वान् व्यास के महाभारत का प्रणयन वाल्मीकि के रामायण की रचना से पहले मानते हैं। जावानी महाभारत भारतीय महाभारत की भांति अनंत संख्या में कथाएं नहीं जोड़ता, इससे भी उसका आकार लघु हो गया है, फिर उसमें भारतीय महाभारत के अट्ठारहों पर्व भी नहीं हैं, केवल आठ ही पर्व हैं। इनमें से तीन—आदि पर्व, विराट पर्व और भीष्म पर्व—तो ऐरलंग्ग के शासनकाल के हैं, शेष पांच उसमें पीछे से जोड़े गए।

इनके अतिरिक्त उस कालावधि में अनेक अन्य काव्यों और ग्रंथों की रचना हुई जिनमें प्रधान हैं—अर्जुन-विवाह, कृष्णायन, सुमन सान्तक, भारत युद्ध, हरिवंश, स्मरदहन, लुब्धक, भोमकाव्य, कृष्णान्तक, आदि पुराण और भुवन-पुराण। अर्जुन-विवाह पर प्रमाणतः ही भारवि के 'किरातार्जुनीय' की अंशतः छाप है। इसने अर्जुन का तप और शिव से उसके युद्ध का वर्णन है। इसमें निवात कवच द्वारा देवों के पराभव और मेनका, सुप्रभा, तिलोत्तमा आदि सुरांगनाओं के साथ सुरति का रूपायन हुआ है। यह कृति ग्यारहवीं सदी की है। कृष्णायन में कृष्ण द्वारा रुक्मिणी-हरण तथा जरासन्ध के साथ उनके युद्ध की चर्चा हुई है। सुमन सान्तक से रघुवंश का अज-इन्दुमती प्रसंग रोचक काव्य में बद्ध हुआ है जिसमें सुमन के हृदय पर गिरने से अजपत्नी स्वर्ग सिधार जाती है कृष्णायन और सुमन सान्तक दोनों बारहवीं सदी के आरंभ काल के हैं। जावा की संस्कृति कृतियों में सबसे अधिक लोकप्रिय भारत-युद्ध हैं जिसे 1157 में म्पू से दाह ने लिखा, जब कडिरी के राजा जयभय शासन कर रहा था। इसमें महाभारत की कथा दुहराई गई है। हरिवंश में भी कृष्ण का चरित प्रतिबिंबित है और यहां भी तभी का लिखा है। स्मर-दहन कुमारसम्भव की कथा दुहराकर शिव द्वारा मदनदहन का प्रसंग मूर्त करता है। लुब्धक शिवरात्रि के गौरव का उद्घाटन करता है और कृष्णान्तक में यादवों के नाश और व्याधों द्वारा कृष्ण के वध की

कथा काव्यबद्ध हुई है। अन्तिम को छोड़ शेष सभी काव्य कडिरी-काल में ही रचे गए थे। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक कविकर्म उपलब्ध हैं जिन्हें ककविन् अर्थात् काव्य (कविकर्म) कहते हैं। इनमें कोश, छन्द शास्त्र, नीतिकाव्य, दर्शन और कामशास्त्र, सभी हैं। कुछ ग्रंथ महाभारत और पुराणों के आधार पर गद्य में भी लिखे हैं। पुराणों में एक ब्राह्मण है जो मूल भारतीय का ही जावानी संस्करण है। इसी प्रकार आदि और भुवन पुराण भी भारतीय मूल पुराणों के आधार पर रचे गए हैं जो विविध कथाएं उजागर करते हैं।

धर्म और दर्शन

इन द्वीपों में पहले सौदागर और सैनिक पहुंचे जिनका ज्ञान थोड़ा था और जो भारतीय दर्शन आदि के पंडित न थे। वे फिर भी अनेक धार्मिक पौराणिक कथाओं से अनुगत थे जिन्हें वे भारत में गृहस्थ के अपने व्यवहार में सुनते आए थे। स्वाभाविक ही इससे इन भारतीय उपनिवेशों में पहले पौराणिक कथाओं का प्रचार हुआ। इसीसे कुछ उपनिवेशों में पुराणों के प्रति विशेष आग्रह हुआ। धीरे-धीरे आचार्यों के आने पर ब्राह्मण और बौद्ध दर्शनों का भी वहां आविर्भाव हुआ। ये ही दोनों धर्म ब्राह्मण (हिन्दू) और बौद्ध महायन, विशेषतः तन्त्रयान, वहां समादृत हुए।

ब्राह्मण धर्म में विशेष अर्चना ब्रह्मा, विष्णु और शिव की हुई। धीरे-धीरे ये अत्यन्त लोकप्रिय हो गए। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की एकस्थ त्रिमूर्ति की प्रतिमाओं का पूजन जावा और कम्बुज में खूब हुआ। इसी प्रकार वहां शिव और विष्णु की संयुक्त मूर्तियां भी पर्याप्त लोकप्रिय हुईं। परन्तु ब्रह्मा की पूजा वहां भी भारत की ही भांति व्यवहार में अपेक्षाकृत कम आई। समूची पौराणिक देवसंपदा इन देवों के धार्मिक विश्वासों में उतर आई। परिणामतः हिन्दुओं की प्रायः सभी देवताओं और देवियों की मूर्तियां वहां बनीं जो आज भी उपलब्ध हैं। उपनिषदों के रहस्योपाख्यान और दार्शनिक विवेचन भी वहां कहे-सुने गए जिनके मंडन-खंडन की परंपरा जन्मी। तान्त्रिक क्रियाएं—शैव और महायानी दोनों—साधकों द्वारा प्रयुक्त हुईं।

भारतीय दर्शन का भी विशेषकर कम्बुज में, मनन पर्याप्त मात्रा में हुआ। कम्बुज के अभिलेखों में ऐसे अनेक ब्राह्मणों का उल्लेख हुआ है जो वेदों, वेदांगों और विरोधी बौद्ध दर्शन में भी पारंगत थे। सामवेदी ब्राह्मणों का उपयोग स्वाभाविक ही क्रियानुष्ठानों में होता था। अभिलेखों में अनेक राजाओं और मंत्रियों का उल्लेख हुआ है जो धर्मशास्त्रों में पारंगत कहे गए हैं। रामायण, महाभारत और पुराणों के पाठ निरन्तर होते रहते थे और धार्मिक पुस्तकों का

मंदिरों को दान अत्यंत पवित्र कार्य समझा और अभिलेखों में चर्चा का विषय बन जाता था। प्रेस के अभाव में निःसन्देह हस्तलिपियों का मूल्य साधारण जन द्वारा अदेय था जिससे उनका दान असाधारण माना जाता था। मन्दिरों में उनके होने से पुरोहितों द्वारा सार्वजनिक उपयोग की संभावना हो जाती थी और इस प्रकार व्यक्तिगत से हटकर उनका लोकोत्तर स्वत्व हो जाता था।

जब बौद्ध भिक्षुओं और आचार्यों ने सुवर्णद्वीप में प्रवेश किया तब उनका धर्म भी उस धारा पर फैला और बुद्धादि की प्रतिमाओं की पूजा तो वहां लोकप्रिय हुई ही तन्त्रादि की ततनी की साधना भी व्यवहार में आई। पहले, सातवीं सदी में हीनयान का प्रादुर्भाव हुआ पर आठवीं सदी में जैसे-जैसे महायान का ज़ोर बढ़ता गया हीनयान का ह्रास होता गया। शैलेन्द्र राजकुल के शासन काल में जावा और सुमात्रा में महायान का प्रभाव और प्रचार विशेष बढ़ा जिसके साक्षी बोरो बोडुर के स्तूप और अन्य मंदिर हैं। ऊपर बताया जा चुका है कि शैलेन्द्र नृपति पाल राजाओं और नालन्दा के ज्ञानपीठ के घने संपर्क में आए। परिणामतः बंगाल से अनेक बौद्धाचार्य जावा आए और उन्होंने बौद्ध धर्म और दर्शन का व्याख्यान किया। फिर तो जावा में महायान संप्रदाय के देव-देवियों की समग्र परम्परा ही, मय उनके निजी लक्षणों और मुद्राओं के, जाग्रत हो उठी। जावा में संगह्यंग कमहायानिकन् नामक ग्रंथ उपलब्ध है जिसमें महायान के दार्शनिक सिद्धान्त क्रमबद्ध हैं। वह मूल संस्कृत का जावानी व्याख्यान है जिसमें प्रसंगतः स्थान-स्थान पर मूल संस्कृत के पद्य उद्धृत हैं।

जावा-सुमात्रा में तो बौद्ध धर्म का अश्वत्थ प्रबल हुआ ही, चम्पा में उसकी पौध लगी और पुष्ट हुई। चीनी वृत्तान्त से सिद्ध है कि वहां सातवीं सदी से पर्याप्त पूर्व बौद्ध धर्म का प्रचुर प्रचार हो चुका था जिससे वहां इतने बौद्ध ग्रंथों का संचय हो सका था कि, उस वृत्तान्त के अनुसार, 605 ई० में विजयी चीनी जनरल द्वारा 1350 बौद्ध ज्ञान की हस्तलिपियों का ले जाना संभव हो सका। आठवीं सदी से चम्पा के राजाओं ने प्रभूत संख्या में बौद्ध स्तूप, विहार और मंदिर बनवाने प्रारम्भ किए परिणामतः वहां बौद्ध इमारतों और वास्तु की एक परम्परा ही खड़ी हो गई। दोंग दुओंग के वास्तु-अवशेषों से सिद्ध है कि उस देश पर बौद्ध धर्म की पकड़ मज़बूत थी। उससे प्रकट है कि बौद्ध धर्म का प्रचार वहां ब्राह्मण धर्म से कहीं अधिक और लोकसम्मत हुआ। इसीका यह परिणाम था कि बौद्ध वास्तु वहां हिन्दू वास्तु से समृद्ध और बौद्ध मंदिर हिन्दू मंदिरों से आकार प्रकार में कहीं अधिक विशद हैं।

प्राचीन काल के पश्चात् विशेष रूप से बौद्ध और शैव धर्म, दर्शन तथा तंत्र योग का विकास कम्बुज आदि में हुआ। दीर्घकाल तक शैव धर्म मूर्धा पर रहा था पर कम्बुज में विशेषतः बौद्ध धर्म का बोलबाला हुआ। एक विशेष

पद्धति का आरंभ द्वीपों में हुआ था। वह था देवराज प्रकार की निष्ठा का अभ्युदय जो चाहे उठा शैव आधार से था पर उसका उपयोग बौद्धों ने भी किया। इसके अनुसार राजा देवता का स्वरूप माना जाता था। और मृत्यु के उपरांत उसका देवनाम रख उसकी मूर्ति मंदिर में पधरा दी जाती थी जिस मूर्ति का नाम राजा के देवनाम से संयुक्त होता था। मंदिर देवता का होता था, मूर्ति राजा की होती थी। सूर्यवर्मन प्रथम बौद्ध राजा था जिसका मरणोत्तर नाम निर्वाणपद था। संभवतः वह कम्बुज का प्रथम बौद्ध नरेश था। दूसरा महान् बौद्ध नृपति जयवर्मन सप्तम था। उसने उसके प्रौह्न अभिलेख के अनुसार, 102 अस्पताल बनवाए और मंदिरों को प्रचुर दान दिए ताकि उसकी दिवंगता माता जन्मों की श्रृंखला से मुक्त हो जाए। अपने धार्मिक कार्यों की प्रेरणा के विषय में वह अपने उस लेख में कहता है, (माता का) शारीरिक कष्ट स्वयं उसके मन की दारुण पीड़ा बन गया, दिवंगता के कष्ट से भी कहीं बढ़कर। कारण कि प्रजा की पीड़ा ही राजा की पीड़ा होती है, अपने तन की पीड़ा नहीं।''

बौद्ध धर्म वहां सर्वथा अपने द्रव अथवा मधुर रूप में ही नहीं उतरा, उसका मंदिर रूप भी वहां प्रचारित हुआ। महायान के तन्त्रयान रूप का जावा और सुमात्रा में विशेष विकास हुआ। ग्यारहवीं-बारहवीं सदी से ही उसका प्रभाव लक्षित होने लगा। ऐरलंग्ग और जयभय ने अपने व्यक्तित्व द्वारा उसे राजकीय समर्थन दिया और कृतनगर तो उसके प्रति पूर्णतः समर्पित ही हो गया। वह उनका अवतार कहा जाने लगा था और उसने तान्त्रिक क्रियाओं के 'पंचमकार' तथा साधन-चक्र को विशेष प्रश्रय दिया। मुंडमाल पहने विशालकाय और पृथुलदेह भैरव की एक मूर्ति लाइडन के संग्रहालय में प्रदर्शित है जो कृतनगर की ही प्रतीत मूर्ति बताई जाती है।

तन्त्रयान का प्रादुर्भाव बंगाल से हुआ जहां शक्ति और वज्रयान संयुक्त हो गए थे। प्रकट है कि बंगाल से आने वाले बौद्धाचार्यों के साथ ही तंत्रयान भी सुवर्णभूमि की धरा पर उतरा। जावा और कम्बुज में ब्रह्मा, विष्णु और शिव अपनी विविध शक्तियों के साथ संयुक्त कर दिए गए। बाली में तो बुद्ध को शिव का कनिष्ट भ्राता ही कहा व समझा जाने लगा और जावा में शिव-बुद्ध की एकस्थ उपासना भावसम्मत हुई। कृतनगर का मरणोपरांत नाम 'नरसिंहमूर्ति' और 'शिव बुद्ध' पड़ा। नरसिंहमूर्ति से तात्पर्य विष्णु के अवतार से है। कृतनगर के पिता की मूर्तियां शिव और बुद्ध दोनों रूपों में पधराई गई थीं। उसके चर्चा का मरणोपरान्त नाम तो नरसिंहमूर्ति पड़ा था पर उसकी मूर्ति शिव की बनी। स्वयं कृतनगर की सिंपिग वाली मूर्ति हरिहर की है। अंग्रोक की रानी और जयवर्मन सप्तम की माता दोनों का मूर्तन प्रज्ञापारमिता के रूप में हुआ है।

तान्त्रिक अनुष्ठानों का एक परिणाम यह हुआ कि राजाओं के गुरुओं की

शक्ति बढ़ गई। राजाओं की श्रद्धा तो उनके प्रति थी ही, अनेक बार तो उनकी शक्ति राजाओं से भी बढ़ जाती थी। राजनीति में भी उनका साका चलने लगा था। हर्षवर्धन तृतीय के राज्यारोहण में उसके गुरु शंकर पंडित की निर्णयात्मक सहायता मिली थी। इसी प्रकार राजा जयवर्मन षष्टम् और उसके दो उत्तराधिकारियों के राज्य-काल में दिवाकर पंडित का बड़ा दबदबा रहा था।

तेरहवीं सदी के अन्त तक पहुंचते-पहुंचते बौद्ध धर्म शैव धर्म को लोकप्रियता में पीछे छोड़ता चला और कुछ ही अगली सदियों में सारे धर्मों को निर्वासित कर कम्बुज में मात्र स्वयं अकेला धर्म रह गया। बर्मा में भी कुछ अंश तक महायान अथवा तंत्रयान बना रहा, प्रधान प्रभाव वहां हीनयान अथवा थेरवाद का ही (स्याम तथा श्रीलंका की भांति) अन्ततः स्थापित हुआ।

भारत से धीरे-धीरे इस द्वीप समूह तथा स्याम, बर्मा, कम्बुज आदि का संबंध भी टूट गया। यह संबंध दीर्घकाल तक पहले बना रहा था। कौंडिन्य की ही भांति अगस्त्य ब्राह्मण के भारत से जाकर कम्बुज में राजकुल स्थापित करने की परम्परा वहां स्थापित है। राजा राजेन्द्रवर्मन की कन्या राजलक्ष्मी ने कालिन्दी (यमुना) तीर के जन्मे दिवाकर भट्ट को पति के रूप में वरा था। ब्राह्मण हिरण्यदाम ने भारत से जाकर जयवर्मन द्वितीय की तंत्रक्रियाएं संपादित कराई थीं। वेदों और ब्राह्मणों में पारंगत ब्राह्मण सर्वज्ञमुनि ने उच्च राजपद प्राप्त किया था। उसके पुत्र, पौत्र भी उन पदों पर आसीन होते रहे। सर्वज्ञमुनि भारत से ही सुवर्ण भूमि को गया था। एक अभिलेख के अनुसार एक पुरोहित भारत से जहाज़ों के बेड़े पर बड़े धूमधाम से लाया गया था और उसके आने पर बड़ा जशन मनाया गया था जिसमें राजाओं तक ने भाग लिया था। कम्बुज के पंडित के भी भारत जाकर ज्ञानार्जन करने का उल्लेख मिलता है। इन्द्रवर्मन के गुरू शिवसोम ने भारत जाकर 'भगवत् शंकर' (शंकराचार्य) से शास्त्र पढ़े थे।

इसी प्रकार भारत को कम्बुज आदि से जोड़ रखने का एक साधन वहां के 'आश्रम' थे। इन आश्रमों में आचार्य रहकर ज्ञान-मनन करते थे। कम्बुज में इनकी संख्या गणनातीत थी। अकेले राजा यशोवर्मन् ने सौ आश्रम स्थापित किए थे। प्रत्येक आश्रम के साथ एक अभिलेख जुड़ा रहता था आचार्य परम्परा और ये आश्रम भारत को इन देशों से जोड़े रखने को प्रधान साधन थे। इनके समाप्त होते ही दोनों देशों के संबंध-सूत्र भी टूट गए।

सुवर्णद्वीप, कम्बुज आदि में एक अद्भुत बात धर्मों की परस्पर सहिष्णुता थी। सहिष्णुता तो यह भारतजन्य ही थी पर उन पूर्वी देशों में वह अपनी पराकाष्ठा को पहुंच गई। एक ही राजा शिव को पूजता और बुद्ध के विहार और स्तूप बनवाता था। शिव-बुद्ध की संयुक्त परम्परा ने तो इस सहिष्णुता की दिशा में चोटी छू ली।

अध्याय-26

सिंहावलोकन

पिछले पच्चीस अध्यायों में भारत के बाहरी देशों से संबंध का विवरण दिया जा चुका है। उससे यह सामान्य धारणा मिट जाएगी कि भारत अन्य देशों से कटा रहा है। अधिकतर इतिहासकार इतिहास का आरंभ करते समय भूगोल के प्रकरण में लिखते रहे हैं—मैंने स्वयं अपने भारतीय इतिहास में अंशत: कभी लिखा था— कि भारत उत्तर में हिमालय पर्वत और अन्य तीन दिशाओं में संसार के अन्य देशों से सर्वथा कटा रहा है जिससे दीर्घकाल तक उसकी बाहरी आक्रमणों से रक्षा भी हुई है।

वस्तुत: दोनों विचार असिद्ध हैं। अत्यंत प्राचीन काल में सभ्यता की धुरी हिमालय के उत्तर में न होकर पश्चिम की ओर रही है, जिससे, यदि हिमालय का अस्तित्व नहीं भी होता तो उत्तर की दिशा से संपर्क होने पर भी कुछ विशेष अर्थ नहीं निकलता। दूसरे, जब उत्तर की जातियां संक्रमणशील हुईं और मध्यएशिया की ओर से भारत पर उनके आक्रमण शुरू हुए तो चीनी महान् दीवार की ही भांति हिमालय उनका अवरोध भी न बन सका, उनकी राह रोक न सका। हिमालय के दर्रों से होकर आक्रमणकारी सेनाएं आती रहीं। फिर उन आक्रमणकारी सेनाओं के सदियों पहले से कारवां और सौदागरों के दल तो उधर से आते ही रहे थे।

तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० में सभ्यताएं भूमध्यसागर के तीर और उसके और भारत के बीच सक्रिय थीं। तब उनके और भातर के बीच किसी प्रकार की रुकावट न थी, और उन सभ्यताओं और तत्कालीन भातर की सभ्यता के बीच की संपर्क भी था। वह संपर्क हुआ भी और उसका प्रभाव भारत और पश्चिम के देशों पर परस्पर पड़ा भी। भूमध्य सागर के तीर मिस्र, इस्रायल और कुछ दूरी पर सुमेर, बाबुल (अक्काद) असूरिया, फिनीशिया, ग्रीन, ग्रीस, त्रोय, अनातोलिया आदि स्थित ये और उन्हें भारत से जोड़ने वाले पहले इलाम पीछे फारस (ईरान) थे। बलोचिस्तान से पश्चिम में मरुभूमि निश्चय थी जिसमें सिकन्दर की सेना का अधिकांश प्यास से विनष्ट हो गया था, पर कुछ आश्चर्य नहीं जो और प्राचीन काल में, जब सिन्धुघाटी और अक्काद-इलाम की सभ्यताएं जीवित थीं, दोनों की मध्यवर्ती मरुभूमि इतनी निर्जल न रही हो। आखिर सिन्धु

सभ्यता की आज की रेगिस्तानी भूमि स्वयं कभी उर्वर रही थी। मकरान और सागर के बीच जो भूमि की पट्टी थी वह संभवतः कभी इतनी सूखी न थी और उसके ज़रिए पूर्व और पश्चिम में आवागमन होता था। मोहनजो-दड़ो से लगातार दज़ला की घाटी तक सभ्यताओं की मंज़िलें थीं—बलोचिस्तान में, इलाम में, फारस की खाड़ी के तीर, सुमेर और अक्काद में- जिनसे होकर पूर्व और पश्चिम में आदान-प्रदान हुआ करता था। फिर विद्वानों का सामान्य मत है कि स्वयं मोहेनजो-दड़ो सिन्धुनद के तीर पर एक बन्दरगाह था जहां पश्चिमी (अरब, इरीथ्री) सागर से जहाज़ आते जाते थे। दोनों के बीच का संपर्क, पूर्व के नगरों में पश्चिम की और पश्चिम के नगरों में पूर्व की जो सौदागरी वस्तुएं मिली हैं, इस सीधे संपर्क का ही परिणाम हैं। इस रूप में जिस सागर का देशों के बीच अवरोध होने की बात कही जाती है स्वयं वही उनके बीच संपर्क का साधन बन गया था। वस्तुतः मानव जीवन के प्रारंभिक इतिहास में सागर का नौसाधन से संतरण बस्तियों के बीच संपर्क का प्रधान और पहला साधन था।

प्रागैतिहासिक और इतिहास काल को जोड़ने वाली विशाल कड़ी का काम ईरानी साम्राज्य ने किया जब उसकी सीमाएं एक ओर सिंध पार और चीन तक और दूसरी ओर नीलनद पार और भूमध्य सागर से ग्रीस तथा फासफोरस पार दानूब (डैन्यूब) तक फैल गई थीं। तब पूर्व और पश्चिम के बीच संपर्कहीनता का भाव सर्वथा मिट गया और भारतीय, मिस्र, बाबुल, इस्रायल, ग्रीस, कृष्ण-कास्पियन सागरों के तीर तक सामान्य रूप से जाने लगे थे। इस प्रकार पूर्व-पश्चिम के बीच संपर्क के अभाव की बात कहना ऐतिहासिक तथा भौगोलिक तथ्यों का निरादर करना होगा।

ऐतिहासिक काल, विशेषकर ईसा की प्रारंभिक सदियों, में तो निःसन्देह भारतीय स्थल और जल मार्ग से विदेशों को सहज रूप में जाने और वहां अपने उपनिवेश बसाने लगे थे जहां हिन्दू और बौद्ध राजकुल राज करने लगे थे, भारतीय संस्कृति की पौधें वहां लगकर अश्वत्थ बन गई थीं। अपने नौसाधनों में सम्मुनत भारतीयों ने तब संस्कृतियों की सागर न लांघने की धार्मिक वर्जना को भी प्रतिबंध न मान उसका तिरस्कार कर दिया। अपनी धार्मिक वर्जना को स्वयं धर्म ने तिरस्कृत कर दिया। छिटपुट दार्शनिक तो पश्चिम में ग्रीस आदि की दिशा में भारत से जाते ही थे। जैनाचरण से मिलता ग्रीक दार्शनिक का आचरण, सुकरात-अफलातून से भारतीय दार्शनिक का संपर्क, स्वयं अरस्तू का अपने शिष्य सिकन्दर के साथ ग्रीक दार्शनिकों को भारत भेजना—धर्म के प्रचार के लिए स्वयं धर्मदूत ही विदेश जाने लगे।

मनुस्मृति के प्रणयन के प्रायः पूर्ववर्ती या कम से कम समकालीन स्वयं प्रियदर्शी अशोक ने अपने धर्मदूत और चिकित्सक ग्रीक राज्यों—मिस्र से

सीरिया-मकदूनिया तक— को तीसरी सदी ईस्वी पूर्व के मध्य भेजे और अपने पुत्र और पुत्री को बोधिवृक्ष की टहनी ले धर्म प्रचारार्थ सागर पार श्रीलंका भेजा और स्वयं ताम्रलिप्ति जाकर उन्हें जहाज़ पर चढ़ाया। यदि हम जातकों तथा अन्य साहित्यिक परम्पराओं-ख्यातों को प्रमाण मानें तो श्रीलंका का औपनिवेशीकरण बुद्ध के ही समय अथवा संभवतः उससे भी पूर्व प्रथम सागर लांघने वाले भारतीय विजयसिंह द्वारा ही हो गया था।

अशोक के बाद, ईसा की सदियों के शुरू होते ही, उत्तर की ओर कश्मीर और काबुल की राह मध्य एशिया की ओर भारतीयों के संक्रमण होने लगे थे। गान्धार, उद्यान, बामियान, काशगर, खुत्तन, तकलामकान, तुर्फान, तुनहुआंग तक, चीन ,मंगोलिया, कोरिया, जापान तक स्थल-जल मार्गों से अभियान होने लगे थे। भारत से चीन तक का समूचा 'रेशम-मार्ग' भारतीय बस्तियों से भर गया। समूचे मध्य एशिया में समरकंद तक बौद्धधर्म का विशेषतः बोलबाला हुआ। इन बस्तियों में बौद्ध मूर्तियां, शिव, विष्णु आदि हिन्दू प्रतिमाएं पूजी जाने लगीं। भारतीय भाषा, साहित्य, लिपि आदि का वहां प्रचार हुआ। अनेक ऐसे भारतीय ग्रंथों का वहां पुनरुद्धार हुआ जो भारत में लुप्त हो चुके थे पर जिनसे मध्य एशिया के विहारों के भंडार भरे थे। कला की अतुलनीय सामग्री वहां की मरुभूमि ने उगल दी। और वह समूचा भूभाग भारतीय संस्कृति का धनी, प्रायः आठवीं-नवीं सदी में वहां इस्लाम के प्रचार होने तक, बना रहा। कितनी सांस्कृतिक सामग्री उस मरुभूमि के नीचे दबी थी जिसे अंग्रेज़, जर्मन, फ्रेंच, रूसी, जापानी पुराविदों और खनकों ने कुदाल द्वारा खुदाई कर इस सदी के आरंभ में प्रकट कर दिया। सर आरेल स्टाइन द्वारा लाई वह शालीन सामग्री आज दिल्ली के एंटिक्विटीज़ संग्रहालय में प्रदर्शित है।

भारत का पश्चिमी और पूर्व से संबंध पश्चिमी और पूर्वी समुद्रों के जलमार्ग से अतिप्राचीन काल में ही हो गया था। वह संबंध कब शुरू हुआ यह कहना तो कठिन है पर पश्चिम और पूर्व के बीच अवस्थित होने के कारण दोनों मार्गों का केन्द्र बन गया था, इसे स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। कुछ आश्चर्य नहीं कि इन समुद्रों पर संतरण तथा पश्चिमी और पूर्वी जलमार्गों का अनुसंधान भारतीय मांझियों और पोत नाविकों ने ही किया हो। निःसन्देह दीर्घकाल तक, इस्लाम के उदय से बहुत पहले से, अरब नाविक इन सागरों पर व्यापारी माल ढोते रहे थे पर इससे भारतीय नाविकों का सागर संतरण सिद्ध नहीं होता। पश्चिम से भारत का संबंध सागरीय मार्ग से प्रायः दसवीं सदी ईस्वी पूर्व में ही हो गया था। जब भारतीय माल के लिए इस्रायल के सुलेमान (बाइबिल के सालेनमन) और फिनीशिया (लेबनान) के हीराम के जहाज भारत की ओर आते थे तब रोमन अरपालस ने भारत आसानी से पहुंचने के लिए

'मानसून' का अनुसंधान किया था। कहते हैं कि प्राचीनकाल में भारतीय नाविकों द्वारा संचालित एक भारतीय जहाज़ मार्गभ्रमित होकर जर्मनी के तट पर जा पहुंचा था।

दक्षिण और दक्षिण-पूर्व का जलमार्ग ऐतिहासिक-साहित्यिक परंपराओं के अनुसार तभी खुल गए थे जब लंका की खोज में चला विजय मार्गभ्रमित हो पूर्वी सागर के पश्चिमी सागर जा पहुंचा था। कुछ आश्चर्य नहीं जो यह सागर संतरण और पहले ही उस दिशा में भी हो गया हो। बर्मन और बर्मा अथवा मलय होकर स्याम, कम्बुज-चम्पा, तोंकिन तक, भारत से एक स्थल मार्ग आसाम (कामरूप) की राह जाता था, जो उत्तर में आसाम और बर्मा से उत्तर की ओर चीन की ओर भी चला जाता था, पर निश्चय ही वह मार्ग आपदाओं से भरा पड़ा था। जंगली जानवरों और घड़ियालों दोनों से सुन्दरवन और आसाम भरे थे, फिर बर्मा की सीमा पर तो जंगली मानव जातियां तथा दस्युओं का भी डर हो जाता था। वस्तुतः इसी कारण सागर की राह उधर के लिए आसान और निरापद थी।

इसी कारण बर्मा को भारतीय साधारणतः दक्षिण भारत से जहाज़ों द्वारा ही पहुंचते थे। यही इस महत्त्व की घटना का भी कारण है कि यद्यपि बर्मा की लिपि एक प्रकार की भारतीय ब्राह्मी की ही उपज है पर दक्षिण भारत से ले जाए जाने के लिए वह दक्षिण लिपियों की ही शाखा है। सो स्थल के दुर्गम मार्ग के अतिरिक्त बर्मा पहुंचने के दो जलमार्ग थे, एक तो बंगाल और कलिंग से मलय होकर, अथवा सीधे बर्मा को, दूसरा दक्षिण भारत के बन्दरगाहों से सीधे बर्मा को। लंका से भी जहाज़ बर्मा और मलय को जाया करते थे। इसी पूर्वी सागर के भारत तटवर्ती बन्दरगाहों और लंका से जहाज़ मलय, जावा-सुमात्रा आदि के सुवर्णद्वीप और उसी राह अन्त में चीन तक चले जाते थे। इसी राह अनेक चीनी यात्री भारत और भारत से चीन आए-गए थे। इसी कलिंग की राह से सुवर्णद्वीप में अपने उपनिवेश बनाने वाले पंडित, बौद्धाचार्य और साम्राज्य निर्माता भी गए थे, जिससे, उसके एक मार्ग का नाम 'कलिंग' भी पड़ गया था। शक लोग गुजरात-काठियावाड़ से, शकारि विक्रमादित्य से पराजित होकर, और भी पहले, भारत तथा लंका के बीच की राह और फिर शैलेन्द्रों और चोलों तथा सिंहलियों के बीच अभियान-आक्रमण भी इसी जलमार्ग से हुए थे।

मध्य एशिया की भारतीय बस्तियों से या सीधे भारत के स्थल और जल की राह बौद्ध भिक्षु चीन पहुंचे और वहां बौद्ध धर्म का प्रचार किया। वहां से भी पवित्र भूमि भारत आने वाले चीनी यात्रियों का तांता बंध गया। गौबी की मरुभूमि — तकलामकान—से होकर चीन जाना कितना कठिन था इसका पता ऐसे चलता है कि बौद्ध भिक्षुओं को अपने खच्चरों की नसों को काटकर उनके

रक्त से अपनी प्यास बुझानी पड़ी थी। इसी प्रकार अनेक चीनी यात्री भारत आते समय तकलामकान के रेगिस्तान में ही दिग्भ्रम और प्यास के शिकार हो गए। फिर भी चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार वहां, स्थानीय धार्मिक और राष्ट्रीय विरोध के बावजूद, बहुश: हुआ। अनेक सम्राट भी उस धर्म में दीक्षित हो गए। वहां हज़ारों बौद्ध मंदिर और विहार निर्मित हुए।

धीरे-धीरे धर्म का प्रचार वहां इतना बढ़ा कि चीनी यात्रियों द्वारा लाई बौद्ध हस्तलिपियों की मांग बढ़ी जो तभी संभव था जब कोई यांत्रिक तरीका अख़्तियार कर उन्हें छाप दिया जाए। सो चीनियों ने उनके लिए बांस और लकड़ी की ब्लाक-प्रिंटिंग का तरीका खोज निकाला और बौद्ध ग्रंथ चीन में छपने लगे। कोरियाइयों ने तब टाइप ईजाद कर लिए और जापानियों ने उन्हें नये ढंग से ढाला। चीन ने कागज़ पहले ही बना लिया था, अब अरब विजेता प्रेस और कागज़ चीन से स्पेन लेने गए। यूरोप में फिर जर्मन, इटली सर्वत्र प्रेस खड़े हो गए और संसार उपकृत हुआ। परिणामत: भारतीय बौद्ध ग्रंथों के प्रसार के लिए ही प्रेस का निर्माण हुआ।

बर्मा, मलय, स्याम, कम्बुज, चंपा, तोंकिन, जावा, सुमात्रा, बाली और बोर्नियो दक्षिणी चीन तक भारतीय हिन्दू पंडितों और बौद्धाचार्यों का प्रवेश हुआ और सुवर्ण द्वीप में पहले हिन्दू (शैव, शक्ति और वैष्णव) पीछे बौद्ध धर्मों का विस्तार हुआ। कौंडिन्य ब्राह्मण आदि कम्बुज-चम्पा पहुंचे और वहां उन्होंने हिन्दू राजकुलों की नींव डाली। शैलेन्द्रों का राजकुल वहां फलाफूला और कालान्तर में समूचे सुवर्णद्वीप पर उनका साम्राज्य फैल गया। उनके संस्कृत में अभिलेखों से जनपद-नगर भर गए। संस्कृत भाषा और साहित्य का, काव्य तथा नाटकों का विस्तार तथा प्रणयन हुआ। रामायण, महाभारत और पुराणों की कथाएं और अनुश्रुतियां, भारतीय कथाओं की परंपराएं वहां व्यवहृत हुईं, कही-सुनी जाने लगीं।

भारतीय कला का वहां विस्तार हुआ। पहले गुप्त, पाल, पल्लव आदि कलाविधाओं से प्रभावित वहां कला उठी फिर स्थानीय रूप उसने धारण किए। अनन्त हिन्दू और बौद्ध मंदिर, विहार और प्रासाद वहां विविध द्वीपों में, विशेषत: कम्बुज के अंकोर थोम और अंकोर वात में, मध्य जावा के प्रबन्ध में खड़े हुए जिनसे आज के ही बने हुए अनेक प्रतीक और भवन, प्रतिमाएं और नगर, स्तूप और झील-सरवर आज भी वहां दर्शनीय हैं। अनेकों के अवशेष अपनी प्राचीन आढ्यता और बुलंदी का प्रमाण प्रस्तुत करते खड़े हैं। सुवर्णद्वीप उनकी परख से मिट्टी से सोना बन गया और भारतीयों के भी गर्व का कारण बना।

भारतीय संस्कृति इन द्वीपों-प्रायद्वीपों में खूब ही विकसी और फलीफूली। हिन्दुओं का चातुर्वर्ण्य, उनके ऋषियों के आश्रम, क्रियानुष्ठान सभी वहां सक्रिय

हुए। भारत की नाट्य परम्परा ने भी जावा और बाली में अपना विशेषरूप धारण किया। यद्यपि अन्यत्र से वह संस्कृति आज उठ गई है, परन्तु बाली में वह आज भी कायम है। सुवर्णद्वीप के अन्त मार्गों में भी, इस्लाम के प्रसार के बावजूद हिन्दू संस्कृति के अवशेष बच रहे हैं। अनेक मुसलमानों के नामों तक में हिन्दू ध्वनि सुन पड़ती है।

भारतीय संस्कृति के इन निःशस्त्र तथा स्नेहार्द्र विस्तार ने पश्चिमी देशों को, मध्य एशिया को, चीन, कोरिया, जापान को, नैपाल, तिब्बत, मंगोलिया को, सिक्किम-भूटान को, लंका को, बर्मा, मलय, कम्बुज, चंपा, तोंकिन को, जावा, सुमात्रा, बाली और बोर्नियो को अपने परिवेश में समेट लिया। वह स्नेह की धार, आशा है, कभी टूटने न पाएगी।

□□

मुद्रक : सोहन प्रिंटिंग सर्विस, दिल्ली 21781